एलबर्ट टोके पी-एच० डी०

मानव-शरीर

संरचना और कार्य

राजपाल एण्ड सन्ज़, कश्मीरी गेट, दिल्ली

HUMAN BODY AND HOW IT WORKS by Elbert Tokay Ph.D.
का हिन्दी अनुवाद

अनुवादक
नरेश वेदी

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय, शिक्षा मंत्रालय, भारत सरकार,
के सहयोग से प्रकाशित

मूल्य : ग्यारह रुपये

पहला हिन्दी संस्करण : 1969

प्रस्तावना

मानव-शरीर का अध्ययन एक ऐसा विषय है जिसमे हम सबकी रुचि होना स्वाभाविक है। 'मानव-शरीर' नामक इस पुस्तक का उद्देश्य पाठक के समक्ष शरीर की रचना का एक स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करना तथा इस बात की सही जानकारी देना है कि शरीर के विभिन्न अग किस प्रकार कार्य करते है।

जहां तक सभव हो सका है, पुस्तक सरल विषयो से आरंभ होकर कठिन विषयों की ओर अग्रसर हुई है। इसलिए यह विशेष रूप से आवश्यक है कि अध्याय इसी क्रम मे, आरभ से अंत तक, पढे जाए, भले ही पाठक की रुचि विषय के किसी एक अथवा दूसरे पक्ष मे ही क्यो न हो।

आरंभिक दो अध्यायो मे मुख्यत. समग्र पुस्तक की पृष्ठभूमि प्रस्तुत की गई है। अध्याय 1 मे शरीर के मुख्य कार्यो का सक्षिप्त परिचयात्मक वर्णन है, जो अगले अध्यायो मे विस्तार से दिया गया है। दूसरे अध्याय मे शरीर के विभिन्न अग तथा ऊतको और उसकी विशाल आकृति से पाठक का परिचय कराया गया है।

अध्याय 3 से 11 तक, प्रत्येक अध्याय मे शरीर के एक-एक प्रमुख तंत्र का विस्तार से वर्णन है। ये इस प्रकार है: परिवहन तंत्र (रक्त, हृदय, रुधिर-वाहिकाएं—शिराए और धमनिया—तथा लसीका-तंत्र); श्वसन-तंत्र (फेफड़े तथा श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया); पाचन-तत्र (आमाशय, अत्र तथा उदर के अन्य अंग); उत्सर्जन तत्र (वृक्क), कंकाल (हड्डियां तथा हड्डी की संरचना-तंत्र); मासपेशी-तत्र (मासपेशियो के प्रकार तथा मास-पेशियो के कार्य), तन्त्रिका-तत्र (मस्तिष्क, रीढ, तन्त्रिका-शिराए, तन्त्रिका-संवेग, इंद्रिया), अत स्रावी तत्र (आतरिक स्राव-ग्रंथिया : गलग्रथि, उपवृक्क, पाचन-ग्रथि, श्लेष्मा-ग्रथि); प्रजनन-तंत्र (पुरुप-जननेन्द्रिया; स्त्री-जननेन्द्रिया)।

आगामी अध्यायो (12 से 18 तक) मे अत्यधिक रुचि से पढे जानेवाले विशेप विषयो का विवेचन किया गया है जैसे, पुष्टिकर भोजन, विपचन और वृद्धि; शरीर का तापमान, मासपेशियो का चालन और व्यायाम, थकावट, आराम और निद्रा, रोगो से संरक्षण, शरीर का स्वास्थ्य।

प्रस्तुत पुस्तक लेखक के एक अन्य ग्रन्थ 'फण्डामेटल्स ऑफ फिजिओलॉजी' पर आधारित है, तथा इस पुस्तक मे भी वसार कॉलेज के श्री टैनर एम० क्लार्क द्वारा तैयार किए गए चित्र ले लिए गए हैं। मैं श्री क्लार्क का अत्यन्त

आभारी हूं क्योकि उनके चित्र न केवल स्तर की दृष्टि से ही श्रेष्ठ हैं बल्कि उनकी रचना मे उनके नये विचारों तथा डिज़ायनो का योगदान भी श्रेष्ठ है। मैं यूनिवर्सिटी आफ शिकागो प्रेस को भी धन्यवाद देता हूं क्योकि उन्होंने कार्लसन एण्ड जानसन की पुस्तक 'द मशीनरी ऑफ दि बॉडी' में से दो चित्रो को छापने की अनुमति दी है। अपनी एक फिल्म 'द हार्ट एण्ड सर्कुलेशन' मे से एक दृश्य का रेखाचित्र बनवाकर छापने की अनुमति के लिए मैं इर्पी क्लासरूम फिल्म्स को धन्यवाद देता हू। मैं डा० रूथ ई० कॉनक्लिन का भी अत्यन्त ऋणी हूं कि उन्होंने इसकी पाण्डुलिपि पढने का कष्ट उठाया। उनके सुझाव सर्वाधिक रचनात्मक तथा उपयोगी थे।

मैं अपनी पत्नी के प्रति अपने आभार का भी संकेत करना चाहूंगा जिसने पाण्डुलिपि की जाच कर, संशोधन कर और उसे फिर से लिखकर इसका प्रकाशन सभव किया है।

—ए० टो०

पुनश्च : इस पुस्तक के संशोधित और परिवर्धित संस्करण मे लेखक को शरीर-विज्ञान की विभिन्न शाखाओ की नवीनतम खोजो पर प्रकाश डालने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। इस पुस्तक के मूल संस्करण को कई स्थानो पर फिर से लिखा गया है और उन्हे अद्यतन बनाकर प्रस्तुत किया गया है। इसके अतिरिक्त, प्रकाशको ने मानव-शरीर चित्रावली (पृष्ठ 161-184) सहर्ष शामिल कर लिया है जिसके नये रंगीन चित्रो के कारण सारी बात और भी अधिक मुखर हो उठती है तथा जो काले तथा सफेद रेखाचित्रो के पूरक का काम भी करती है।

—ए० टो०

दो शब्द

हिन्दी के विकास और प्रसार के लिए शिक्षा मन्त्रालय के तत्त्वावधान मे पुस्तकों के प्रकाशन की विभिन्न योजनाएं कार्यान्वित की जा रही है। हिन्दी में अभी तक ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र मे पर्याप्त साहित्य उपलब्ध नही है, इसलिए ऐसे साहित्य के प्रकाशन को विशेष प्रोत्साहन दिया जा रहा है। यह तो आवश्यक है ही कि ऐसी पुस्तके उच्च कोटि की हो, किन्तु यह भी जरूरी है कि वे अधिक महगी न हो ताकि सामान्य हिन्दी पाठक उन्हे खरीदकर पढ सके। इन उद्देश्यों को सामने रखते हुए जो योजनाए बनाई गई है, उनमे से एक योजना प्रकाशको के सहयोग से पुस्तके प्रकाशित करने की है। इस योजना के अधीन भारत सरकार प्रकाशित पुस्तको की निश्चित सख्या मे प्रतिया खरीदकर उन्हे मदद पहुंचाती है।

प्रस्तुत पुस्तक इसी योजना के अन्तर्गत प्रकाशित की जा रही है। इसके अनुवाद और कापी राइट इत्यादि की व्यवस्था प्रकाशक ने स्वय की है तथा इसमे शिक्षा मंत्रालय द्वारा स्वीकृत शब्दावली का उपयोग किया गया है।

हमे विश्वास है कि प्रकाशको के सहयोग से प्रकाशित साहित्य हिन्दी को समृद्ध बनाने मे सहायक सिद्ध होगा और साथ ही इसके द्वारा ज्ञान-विज्ञान से सम्बन्धित अधिकाधिक पुस्तके हिन्दी के पाठको को उपलब्ध हो सकेगी।

आशा है, यह योजना सभी क्षेत्रो में लोकप्रिय होगी।

ए. चंद्रहासन

(ए० चन्द्रहासन)
निदेशक

केन्द्रीय हिन्दी निदेशालय
नई दिल्ली

विषय-क्रम

अध्याय 8

अध्याय 9

अध्याय 10

अध्याय 11

अध्याय 12

अध्याय 13

अध्याय 14

अध्याय 15

अध्याय 16

अध्याय 17

अध्याय 18

परिशिष्ट

मानव-शरीर चित्रावली

मानव-शरीर

संरचना और कार्य

अध्याय 1

मानव-शरीर : सामान्य परिचय

क्या आपने अपने से कभी यह प्रश्न भी किया है, "मेरे भीतर क्या होता रहता है" या "मुझे भूख क्यो लगती है" या "मै ज्यादा देर तक सास क्यो नही रोक सकता ?" यदि हा, तो आपकी जिज्ञासा बहुत-कुछ वैसी ही है, जो सदियो से मनुष्य को देह के कार्यो के रहस्य में पैठने के लिए परिचालित करती रही है। आज हम देह की क्रियाविधियो के बारे मे बहुत-सी बाते जान गए है, जो बहुत काल तक अज्ञात थी। यद्यपि कई प्रश्नो के उत्तर अभी भी नही मिल पाए हैं, फिर भी अब यह संभव हो गया है कि अब तक सगृहीत तथ्यो को इस प्रकार व्यवस्थित तथा निर्वचित किया जा सके कि जिससे हम उन बहुत-सी बातों को समझ सकते है, जिनके कारण हमारी 'गाड़ी चलती' है।

देह का अध्ययन—जीव-विज्ञान मे समस्त सजीव वस्तुओ का सगठित अध्ययन आता है। यह कई सहायक विज्ञानो से मिलकर बना है, जिनमे से प्रत्येक इस विशाल क्षेत्र के एक-एक छोटे-छोटे विभाग से सबद्ध है। उदाहरण के लिए, शारीर या शरीर-रचना-विज्ञान सजीव वस्तुओ की सरचना से और भ्रूण-विज्ञान अडावस्था से वयस्कता तक के उनके परिवर्धन से सम्बन्धित है। कायिकी का उद्देश्य सजीव वस्तुओ और उनके अगो की गतिविधियो या सक्रियताओ का प्रेक्षण करना, और इससे भी अधिक महत्त्व की बात है, कि इसकी व्याख्या करना कि ये सक्रियताए क्योकर होती है।

देह की ऊर्जा—मनुष्य को मशीन की भाति कार्य करने के लिए ऊर्जा चाहिए, उसे जीवित रहने के लिए ऊर्जा की आवश्यकता है, क्योकि जीवन का अर्थ ही एक न एक प्रकार की क्रिया है। देह की विभिन्न सक्रियताओ मे प्रदर्शित ऊर्जा अलग-अलग प्रकार की होती है—यान्त्रिक (जैसे पेशीय संकुचन मे), विद्युतीय (जैसे तत्रिका-आवेगो मे), रासायनिक (जैसे भोजन के पाचन मे) और ऊष्मा (विभिन्न रासायनिक प्रतिक्रियाओ के उप-उत्पाद के रूप मे)। इन ऊर्जाओं के स्रोत क्या है ?

देह की समस्त ऊर्जा और उसके सभी स्वरूपो का मूल, अतत. देह के भीतर ऑक्सीजन की उपस्थिति मे विभिन्न पदार्थो का 'जलना' ही निकलेगा। यह जलना कुछ बातो मे लकडी, तेल या कोयले के जलने के समान ही है, जिसमे इनमे से किसी भी एक ईंधन का वायु की ऑक्सीजन के साथ सयोग होता है। ऑक्सीजन के साथ किसी अन्य पदार्थ का रासायनिक संयोग ऑक्सीकरण कहलाता है।

देह जिन पदार्थों का ऑक्सीकरण करती है, वे अतर्गृहीत (खाये हुए) भोजन
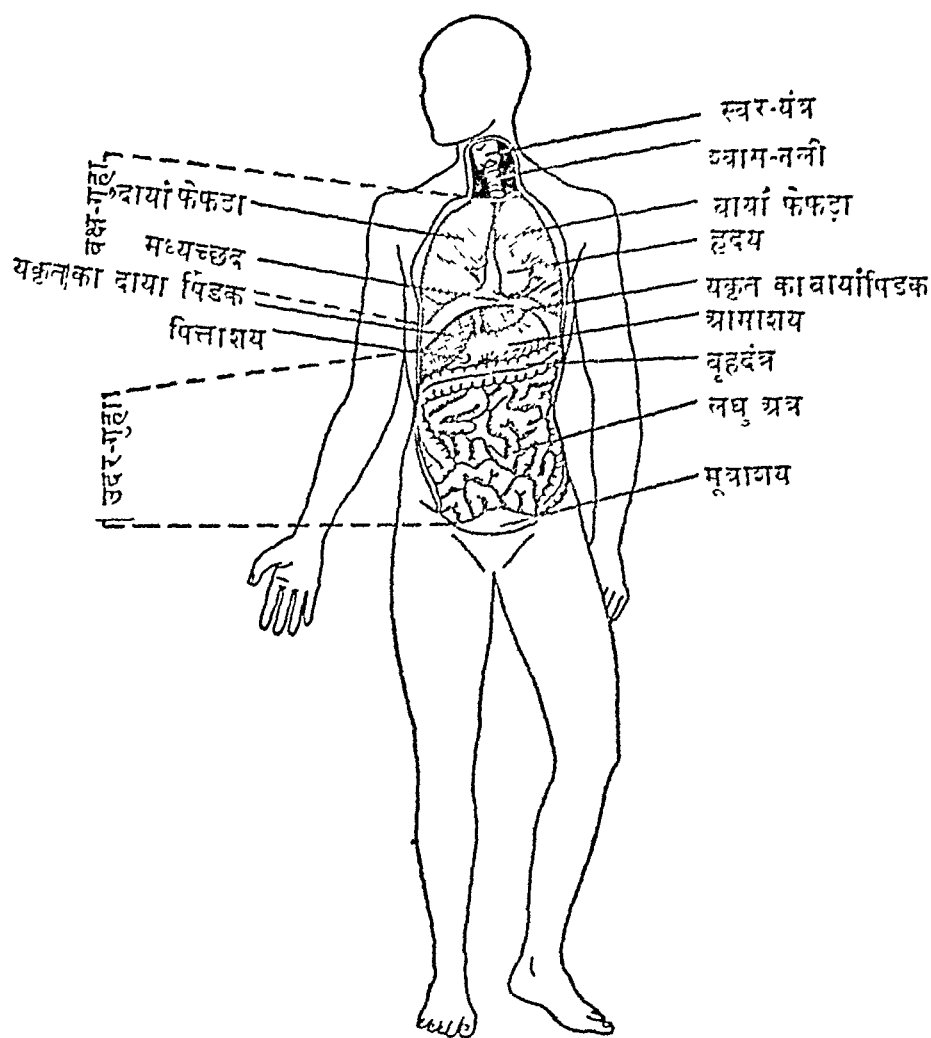
आकृति 1—कुछ प्रमुख आंतरिक अंग

के खंडन से उत्पन्न अंश है। कोशिकाओं को पोषण और ऑक्सीजन मिलना ही चाहिए। हम सब इस बात का अनुभव करते हैं कि हमारे इस जटिल समाज में रहने का अर्थ मात्र खाना या सांस लेना ही नहीं है। फिर भी यह सच है (और संभवतः कुछ लोगों के लिए इतना प्रकट कि इसकी उपेक्षा कर दी जाती है) कि मनुष्य की मूलभूत आवश्यकताओं की समुचित रूप से तुष्टि किए बिना कुछ भी नहीं किया जा सकता। इस पुस्तक का उद्देश्य आपको इन आवश्यकताओं से इन अर्थों में परिचित कराना है कि देह के भीतर क्या होता है और विभिन्न अंग किस प्रकार एक साथ काम करके एक स्वस्थ तथा शारीरिक रूप से संपूर्ण मानव का निर्माण करते हैं।

देह के तंत्र

आइए, अब हम देह की प्रमुख सक्रियताओं पर सरसरी नजर डाल ले। हमे इस बात को याद रखना चाहिए कि आगामी अध्यायो मे हम इन्हीं बातो पर अधिक विस्तार से विचार करेंगे। आकृति 1 मे देह की बाह्याकृति दी गई है और उसके प्रमुख आतरिक अग दर्शाए गए है।

देह की सरचक इकाइयां—सभी सजीव वस्तुएं (प्राणी तथा पौधे, दोनो) अतीव सूक्ष्म खडो से मिलकर बने है, जिन्हे कोशिकाए कहते हैं। ये संरचना तथा कार्य, दोनों ही की इकाइयों का काम देती है। जिस पदार्थ से कोशिका बनती है, उस 'प्राणपदार्थ' को 'जीवद्रव्य' या 'प्रोटोप्लाज्म' कहते है। हर प्राणी (और मानव) कोशिका का विशेष लक्षण यह है कि उसमे एक सघनतर भाग, नाभिक, होता है, जो एक कम सघन, दानेदार भाग—कोशिका-द्रव्य या साइटोप्लाज्म—से घिरा रहता है। कोशिका-द्रव्य के बाह्य सीमात को 'कोशिका-झिल्ली' कहते है (आकृति 2)। समान प्रयोजन के लिए समूहबद्ध एक ही प्रकृति की कोशिकाएं 'ऊतक' कहलाती है। पेशीय, तन्त्रिकायिक आदि विभिन्न ऊतको को एक बड़ी संरचक इकाई मे वर्गबद्ध किया जा सकता है, जिसे इन्द्रिय या अंग कहते है। प्रत्येक अंग (जठर या आमाशय, नेत्र, वृक्क आदि) का एक निश्चित कार्य है। जिन अंगो के संयुक्त कार्यों से अधिक बड़ी आवश्यकताओ की पूर्ति होती है, वे
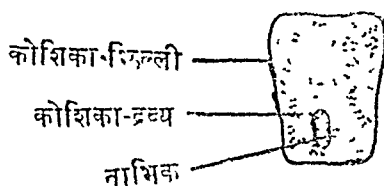
आकृति 2—कोशिका

मिलकर किसी एक तंत्र (परिवहनीय, पाचक, उत्सर्गी आदि) का निर्माण करते है। इन सभी भागों का एकीकृत संग्रह जीव (मनुष्य, कुत्ता, पेड, मक्खी आदि) है। सभी बहुकोशी जीव अपनी नाना सक्रियताओ का संचालन श्रम-विभाजन के सिद्धात के अनुसार करते है—उनके कुछ विशेष अंग विशिष्ट उपयोगो की विशिष्टता प्राप्त कर लेते हे।

पाचक तन्त्र—हम जो खाना खाते है, वह सामान्यत. इतना जटिल होता है कि देह की कोशिकाओ को तुरन्त उपलब्ध नही हो सकता। जैसा कि हम देख चुके है, शरीर के ईधन हमारे खाए हुए भोजन के खडन से उत्पन्न पदार्थ ही हैं। इसलिए पाचक तत्र का कार्य जटिलतर भोजन को सूक्ष्मतर और रासायनिक दृष्टि से सरलतर पदार्थो मे परिवर्तित करना है। निगले जाने पर भोजन मुख से ग्रसनी मे और फिर एक पेशीय नली—ग्रसिका या ग्रास-नली—में जाता है, जो उसे जठर या आमाशय मे ले जाती है। आमाशय मे भोजन मथा जाकर छोटे-

छोटे कणों मे टूटता है और उसमे पाचक रसो का मेल होता है, जो उनका सरलतर पदार्थों मे रूपांतर आरम्भ कर देते है। आमाशय मे अर्धतरल तथा अंशतः पचित भोजन क्षुद्रांत्र मे धकेल दिया जाता है। क्षुद्रांत्र एक लम्बी तथा बटी मुड़ी-तुड़ी नली है, जिसमे अन्य पाचक रसों की क्रिया से पाचन अंततः संपूर्ण होता है। इस प्रकार उत्पन्न सरलतर पदार्थ अन्त्र की गुहा से निकलकर रुधिर-प्रवाह मे मिल जाते है। क्षुद्रांत्र से भोजन का अपचित तथा किसी हद तक तरल अवशेष वृहदन्त्र मे जाता है, जहां उसका पानी सोखा जाता है। अब यह अधिक ठोस रूप मे आ जाता है और इसे तब तक के अस्थायी संग्रह के लिए मलाशय मे ठेल दिया जाता है कि जब तक यह गुदा द्वारा निष्कासित नही हो जाता।

उपरिलिखित सभी अंग पाचक क्षेत्र या आहार-नाल के भाग हैं जो मूलतः मुख से लेकर गुदा तक एक लंबी नली है। लार-ग्रंथिया, यकृत या जिगर तथा अग्न्याशय-जैसे अन्य अंग भी पाचक क्षेत्र मे ही सम्मिलित है, यद्यपि वे पाचन-प्रणाली के शारीरीय भाग नही है, क्योंकि वे ऐसे पाचक स्राव उत्पन्न करते हैं, जो भोजन के उपभोग्य पदार्थों मे परिवर्तन के लिए बड़े महत्त्वपूर्ण है।

परिवहन-तंत्र—पाचन मे उत्पन्न हुए उन सरल पदार्थों का, जो लघु अन्त्र मे रुधिर-प्रवाह मे चले जाते हैं, देह-भर की कोशिकाओ तक पहुचाया जाना आवश्यक है। यह कार्य परिवहन-तंत्र के विभिन्न अंगो द्वारा किया जाता है। इसकी तुलना हम बंद नलियों की एक ऐसी प्रणाली से कर सकते है कि जिसमे एक पप भी सीलबद कर दिया गया है। हृदय से बड़ी-बड़ी रुधिर-वाहिकाए—धमनिया—निकलती हैं, जो क्रमश: छोटी-छोटी वाहिकाओ मे बंटती चली जाती है। उनमे से सबसे छोटी वाहिकाए आकार मे बहुत ही सूक्ष्म होती है और केशिकाएं कहलाती है। जिस प्रकार छोटे-छोटे नालो के मिलने से बड़ी-बड़ी नदिया बनती है, उसी प्रकार केशिकाएं भी एक-दूसरे से मिल-मिलकर अधिक बड़ी वाहिकाएं बनाती है और ये बडी वाहिकाएं अपनी जैसी बडी वाहिकाओ से मिलकर और भी बड़ी वाहिकाओ का निर्माण करती है। इस प्रकार के मेलो से बनी वाहिकाए शिराए कहलाती है और ये वापस हृदय की ओर जाती है। हृदय इस परिपथ पर रुधिर को लगातार पप करता रहता है—हृदय से धमनियो मे, धमनियो से केशिकाओ मे, केशिकाओं से शिराओ मे, और शिराओ से वापस हृदय मे। किन्तु इस बद प्रणाली के भीतर जानेवाले पोषण-पदार्थ देह की कोशिकाओ तक क्यों कर पहुचते है? केशिकाओ से ये पदार्थ पानी सहित 'रिस' जाते हैं। इस जलीय विलयन को ऊतकीय तरल कहते हैं, क्योंकि यह देह की अधिकाश ऊतकीय कोशिकाओ को तर करता रहता है। इस तरल से पोषण-पदार्थ कोशिका मे प्रवेश कर जाते है। कुछ ऊतकीय तरल केशिका-भित्तियों से रुधिर मे सीधा लौट आता है, जबकि शेष अन्य छोटी-छोटी नलिकाओं मे छनकर चला जाता है। इन नलिकाओ को लसीका-वाहिकाएं कहते हैं। ये वाहिकाएं एक-दूसरी से मिलकर क्रमशः दीर्घतर वाहिकाए बनाती जाती हैं और दीर्घतम वाहिकाएं अपना तरल

शिराओ मे खाली करती जाती है। इस प्रकार लसीका-तंत्र परिवहन-तत्र का एक सयोजक भाग ही है।

श्वसन-तत्र—कोशिकाओ को अब आवश्यक पोषण-पदार्थ मिल चुके है। किन्तु इन पोषण-पदार्थों मे से कुछ को ऐसे रूप मे परिवर्तित करने के लिए, कि जिसमे वे जीवनदायी ऊर्जा मुक्त कर सकते है, कोशिकाओ को ऑक्सीजन भी चाहिए। वायु, जिसमे ऑक्सीजन भी सम्मिलित होती है, नासिकीय अथवा मुखीय गुहा—नासिका अथवा मुख—द्वारा ग्रसनी मे, और वहा से श्वास-नली अथवा 'वायु-नली' मे खिचकर जाती है। श्वास-नली श्वाकी या श्वसनी नाम की दो नलिकाओ मे विभक्त हो जाती है। इनमे से प्रत्येक एक-एक फुपफुस या फेफडे को जाती है। इन नलिकाओ तथा इनसे शाखारूप मे निकलती उपनलिकाओ से गुजरकर वायु अतत फुफ्फसीय ऊतक मे स्थित सूक्ष्म वायु-कोषो मे चली जाती है। वायुकोष श्वास-नली के सूक्ष्मतम उपविभागो के अतिम द्वार है। वायु-कोषो मे की ऑक्सीजन कोषो तथा उनसे मिली कोशिकाओ की भित्तियो मे से विसरित होकर (रिसकर) रुधिर मे चली जाती है, जबकि रुधिर मे की कार्बन डाई-ऑक्साइड रिसकर वायु-कोषो मे आ जाती है। रक्त मे पहुचने के साथ ऑक्सीजन लाल रुधिर-कोशिकाओ को लाल रग देनेवाले रजक—हीमोग्लोबिन के—साथ सयुक्त हो जाती है और उनके साथ देह के सभी भागो मे चली जाती है। देहीय ऊतको मे हीमोग्लोबिन द्वारा ऑक्सीजन मुक्त कर दी जाती है और वह ऊतकीय तरल मे, और उससे कोशिकाओ मे चली जाती है।

प्रश्वसन, अर्थात् सास खीचने की प्रक्रिया, क्या है? इसलिए कि वायु को फेफडो के भीतर खीचा जा सके, वक्षीय गुहा का प्रसार होना चाहिए। यह क्रिया वक्षीय तथा उदरीय गुहाओ को विभाजित करनेवाले पेशीय परदे, मध्यच्छद या डायफ्राम, के सकुचन तथा तज्जनित गिरने और पसलियो की उपरिमुखी व बाह्यगामी गति द्वारा सपादित होती है। उच्छ्वसन, अर्थात् सास का बाहर निकलना, सामान्यत. एक निष्क्रिय प्रक्रिया है, इससे मध्यच्छद तथा पसलियो मे गति उत्पन्न करनेवाली पेशियो का तनाव कम हो जाता है, जिससे वक्षीय गुहा का आयतन कम हो जाता है और फेफडे अपनी निजी प्रत्यास्थता (लचकाव) के कारण अशत· पिचक जाते है।

उत्सर्गी या उत्सर्जन-तत्र—कोशिकाओ को सरल पोषण पदार्थ तथा ऑक्सीजन, दोनो की प्राप्ति हो जाने पर ऑक्सीकरण हो जाता है। कोशिकाओ मे और भी कई प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रियाए होती हैं, चाहे वे ऑक्सीकरण के साथ-साथ हो, चाहे ऑक्सीजन के अभाव मे। सभी प्रतिक्रियाओं द्वारा उन्मुक्त ऊर्जा कई प्रयोजनो के लिए उपयोग मे लाई जाती है। ऊर्जा का कुछ अश कोशिका के रासायनिक कार्य को बढाने के लिए प्रयुक्त हो जाता है। साधारणतया सभी कोशिकाओ मे दो प्रकार की रासायनिक प्रतिक्रियाए होती रहती हैं। एक प्रकार की प्रतिक्रिया मे बड़े तथा जटिल पदार्थों का सूक्ष्म तथा सरलतर

पदार्थों मे खडन होता है। कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न ऊर्जा इसी प्रकार के परिवर्तनो के कारण होती है (ऑक्सीकरण स्वय इसका एक उदाहरण है)। इन परिवर्तनों का दूसरा प्रकार वह है, जिसमे सरल पदार्थों से जटिल पदार्थों का निर्माण होता है और जो ऊतको की वृद्धि तथा मरम्मत का आधार है। खंडन-प्रतिक्रियाओ द्वारा उत्पन्न सभी सरलतर पदार्थ कोशिकाओ के लिए उपयोगी अथवा उनके द्वारा उपयोग के योग्य नही होते, चाहे वे कितने ही मूल्यवान् क्यो न हो; यह हो सकता है कि उनका उत्पादन कोशिकाओ की आवश्यकता से अधिक मात्रा मे हो जाए। इस प्रकार के वेकार पदार्थों को यदि एकत्र होने दिया जाए, तो वे देह की कार्यक्षमता मे वाधक होगे या उसके लिए वस्तुत. हानिकारक तक हो जाएगे। इनमे से अधिकाश उन कोशिकाओ से, जिनमे वे पैदा हुए थे, रिसकर ऊतकीय तरल मे और फिर रुधिर में आ जाते है। पानी सहित इनका अधिकाश रुधिर के गुर्दों या वृक्को से गुजरते समय उससे छनकर अलग हो जाता है। वृक्कीय नलिकाओ मे लंबी और धीमी यात्रा के वाद जलीय विलयन मे मिले इन वेकार पदार्थों से मूत्र वन जाता है, जो वृक्क से मूत्रवाहिनी मे होकर मूत्राशय मे चला जाता है। मूत्राशय मे कुछ समय तक जमा रहने के वाद मूत्र-मार्ग नामक एक और नलिका मे होकर मूत्र देह के वाहर चला जाता है।

मुख्य उत्सर्गी मार्ग वृक्क-तंत्र ही है, किन्तु कुछ वेकार माल देह को अन्य मार्गों से भी त्यागते है। उदाहरण के लिए कहा जा सकता है कि फुफ्फुस उच्छ्-वसित वायु मे कार्वन डाई-ऑक्साइड तथा पानी का (वाष्प के रूप मे) उत्सर्जन करते है। त्वचा मे स्थित पसीने की ग्रथिया भी पानी तथा लवणों के उत्सर्जन मे सहायक होती है।

पेशिया तथा ग्रथिया—ये वे अग है जो देह के अधिकाश प्रत्यक्ष कार्य को करते है। ये देह के भागो को चलाते है और उन आवश्यक रासायनिक पदार्थों को स्रवित करते है, जो कुछ आवश्यक कार्य करते है। पेशियो का संकुचन हमारे पैरो, वाहुओ, धड, हनु (जवाड़ा) आदि की गतियो का कारण है। ऐसी पेशिया ककाल के भागो से जुड़ी रहती है और वे किसी अस्थि-विशेष को खीच-कर किसी नई स्थिति मे लाकर गति को सपादित करती है। इस प्रकार की पेशी वडा तेज काम कर सकती है। इनके अलावा धीमी चाल से काम करनेवाली और पेशिया भी है, जो हमारे आतरिक अंगो को गति देती है। इन पेशियो मे हृदय की पेशिया, पाचन-प्रणाली की भित्तिया तथा रुधिर-वाहिनिया, ग्रथीय वाहिनिया, श्वास-नली, मूत्रवाहिनी आदि जैसे विभिन्न नलिकीय अंगो की भित्तियो मे की पेशिया आती है। इस प्रकार ये पेशिया रुधिर के किसी अग मे प्रवाह, वायु के फुफ्फुसो मे प्रवाह तथा भोजन के आहार-नाल मे होकर जाने आदि जैसी प्रक्रियाओ को प्रभावित करती है।

पेशीय सक्रियता के दौरान ऊष्मा उत्पन्न होती है। पेशीय सक्रियता तथा पहली अवस्था की पुन.प्राप्ति के दौरान उत्पन्न समस्त ऊर्जा उपयोगी कार्य मे

परिणत नही हो जाती, वस्तुत. उसका अधिकाश ऊष्मा के रूप मे निकल जाता है। किसी भी मशीन मे यह शुद्ध व्यर्थ होता। किन्तु देह मे ऊष्मा का इस प्रकार उत्पन्न होना देह के ताप को कायम रखने की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी है।

देह की ग्रथिया वे रासायनिक कार्यशालाए है, जो देह के विभिन्न अगो के ठीक से कार्य करने तथा उनकी सक्रियताओ के लिए आवश्यक पदार्थ तैयार करती है। वडी पाचक ग्रंथियो का हम उल्लेख कर ही चुके है। आमाशय तथा लघु अंत्र की भित्तियो मे स्थित छोटी ग्रथिया अन्य पाचक रसो का स्राव करती है, जो अन्तर्गृहीत भोजन के खंडन मे सहायता देते है। श्लैष्मिक ग्रंथिया श्लेष्मा का स्राव करती है, जो अनेक कोटरो तथा अगो के अस्तरो को स्निग्ध(चिकना) रखता है।

अभी तक हमने अगो की कुछ ऐसी प्रमुख सक्रियताओ की ही जानकारी प्राप्त की है, जिनका जीवन की ऊर्जा को वनाए रखने से ही अधिक सीधा सवध है। यदि देह के अन्य अगो तथा तन्त्रो का ऊर्जा के उत्पादन से सीधा सम्वन्ध नही है, तो देहीय अर्थतत्र मे उनकी भूमिकाए क्या है ? वे भी जीवन के लिए पूर्णत उतने ही महत्त्वपूर्ण है, जितने कि वे अग कि जिनकी हम चर्चा कर चुके है। जैसा कि हम देखेगे, किसी भी एक तत्र का अन्य सभी तंत्रो से घनिष्ठ अंत:-सवंध है और वह अन्य सभी तत्रो पर आश्रित है। देह सयुक्त रूप से एक सपूर्ण इकाई है और इसके विभिन्न विभागो को अलग करना उसकी विशिष्ट सक्रिय-ताओ के अनुसधान और परिचर्या मे सहायक है। यदि हम उपर्युक्त तन्त्रो के अगो को ऐसी मशीने माने, जिनके द्वारा विभिन्न कार्य किए जाते है, तो तत्रिका तथा अत स्रावी तत्रो को इन मशीनो की सक्रियताओ को निर्देशित करनेवाले इंजीनियर मानना होगा, जो इनको रोकते-चलाते है तथा इस वात का निर्णय करते है कि उनमे से किस से, किस समय और किस चाल से काम करवाया जाए।

तत्रिका-तत्र तथा ज्ञानेन्द्रियां—अपनी शाखाओ-उपशाखाओ द्वारा तत्रिका-तत्र देह के हर भाग मे फैला हुआ है। इसे मोटे तौर पर दो भागो मे वाटा जा सकता है—केंद्रीय तत्रिका-तत्र, जिसमे मस्तिष्क और मेरु-रज्जु या रीढ-रज्जु आते है, तथा केन्द्र के वाहर का परिधीय तत्रिका-तत्र, जो मस्तिष्क तथा रीढ-रज्जु से विकसित होकर देह के वाहरी भागो को जानेवाली तंत्रिकाओ का वना है। तत्रिकाए ततुओ के वडलो की वनी है, जिन पर होकर केंद्रीय तत्रिका-तत्र को समाचार—तत्रिका-आवेग—आते-जाते है। केंद्रीय तत्रिका-तत्र से निकलनेवाले कई तत्रिका-ऊतक ककालीय पेशियो मे जाकर खत्म होते है और उन तक आवेगो का प्रेषण करते है, जिनसे वे सकुचित होते है। अन्य ततु आतरिक अगो की पेशियो को या कुछ अन्य ग्रथियो को जाते है। इन ततुओ मे के आवेग इन प्रदेशो मे पेशीय या ग्रथीय सक्रियताओं को आरभ और रोक या तेज और धीमा कर सकते हैं।

इनके अलावा दूसरे तंत्रिका-ततु भी है, जो विभिन्न ज्ञानेंद्रियो या ग्रहीताओ से आवेगो का केंद्रीय तत्रिका-तत्र मे चालन करते है। ग्रहीता वातावरण मे आने

वाले कुछेक परिवर्तनो के प्रति विशेष संवेदनशील होते हैं। हमारी देह मे प्रकाश-किरणो, ध्वनि-तरगो, रसायनों की गध या स्वाद, स्पर्श, दाब, वेदना, गर्मी-सरदी तथा कई अन्य प्रकारो की संवेदनाओ को ग्रहण करनेवाले ग्रहीता ही हैं। ये ज्ञानेद्रिया केवल देह की सतह पर या उसके निकट ही नही, प्रत्युत आतरिक अगो तथा पेशियो, कडराओ तथा सधियो मे भी स्थित हो सकती हैं। जब आवेग किसी ग्रहीता से केद्रीय तत्रिका-तत्र को जाते है, तो उनकी सूचना का एक अथवा अधिक केन्द्रो मे निर्वचन होता है, यदि आवश्यक प्रतिवेदन क्रिया या कार्य हो, तो एक केन्द्र बाह्यगामी तत्रिका-ततुओ द्वारा आवेगो का योजन कर देता है और इससे पेशिया अथवा ग्रथिया उस क्रिया के लिए उद्दीपित हो जाती है। यह प्रक्रिया अनेक तंत्रिका-कार्यो का आधार है और प्रतिवर्ती क्रिया कहलाती है।

उच्चतम तत्रिका-कार्यो का केन्द्र मस्तिष्क है। मस्तिष्क के उच्चतम स्तरो में तंत्रिकायिक प्रक्रियाए अध्ययन, स्मरण तथा विचारणा को जन्म देती हैं; भावनाओ के केन्द्र भी यही है। इन कार्यो तथा अन्य तन्त्रों पर तंत्रिकायिक प्रभाव के बारे मे हम इस बात पर सहमत हो सकते है कि तत्रिका-तत्र का सर्वप्रमुख कार्य समन्वयन तथा एकीकरण है—अर्थात्, अन्य अगो को इस प्रकार नियंत्रित करना जिससे सभी अगो तथा सक्रियताओ का एक सपूर्ण जीव में समस्वर, सहकार तथा सयोजन सुनिश्चित हो सके।

इस प्रकार तत्रिका-तत्र अगो तथा तत्रो के घनिष्ठ अन्त.सम्बन्ध के लिए उत्तरदायी है। ऊर्जा के उचित वितरण तथा नियत्रण के लिए यह सम्बन्ध अत्यावश्यक है।

अत:स्रावी तत्र—तत्रो की हमने अब तक जिन अर्थो में चर्चा की है उसे दृष्टि मे रखकर अत स्रावी तत्र को एक तत्र की अपेक्षा कुछेक ग्रथियो को समूह-बद्ध करने का एक अधिक सुविधाजनक तरीका कहना ज्यादा ठीक होगा। हम देख चुके है कि कुछ ग्रथियो (उदाहरण के लिए यकृत्) अपने स्रावो को वाहिनियो द्वारा स्रवित करते हैं। अत स्रावी ग्रथियां अथवा आतरिक स्राव करनेवाली ग्रथियो के वाहिनिया नही होती और वे अपने स्राव रुधिर-प्रवाह मे स्रवित करती है। इससे इन स्रावो अथवा हारमोनो का विस्तृत वितरण तथा उनके द्वारा अपने निर्माण-स्थलो से काफी दूर पर भी सक्रियताओ तथा प्रदेशो को नियंत्रित करना संभव हो जाता है। मोटे तौर पर अपने हारमोनों द्वारा अत स्रावी ग्रंथियां तत्रिका-तत्र की अपेक्षा देहीय सक्रियताओ को काफी धीमी गति से समन्वित तथा नियंत्रित करती है। जहा तंत्रिकायिक सक्रियता देह को अपने वातावरण मे तीव्र परिवर्तनो के प्रति अनुकूलित करती है, ये ग्रथिया दीर्घकालिक अनुकूलीकरण को सर्वधित करती है।

कुछ ग्रंथिया एक से अधिक हारमोनो का स्राव करती है। अधिकाश अंत:-स्रावी ग्रथिया अन्योन्याश्रित है और वे एक-दूसरी की सक्रिताओ को प्रभावित करती है तथा उनसे प्रभावित होती है। इनमे से मुख्य पिट्यूइटरी ग्रथि है,

जिसके हारमोन, अन्य चीजो के अलावा, कई अन्य अत.स्रावी अगो की वृद्धि तथा स्रावो को नियत्रित करते है। थाइरॉयड ग्रथि देह की समस्त कोशिकाओ मे ऑक्सीकरण की चाल को नियत्रित करती है। पैराथाइरॉयड ग्रथिया रुधिर मे 'सक्रिय' कैल्शियम की मात्रा को नियमित करती है। अधिवृक्क-ग्रथिया रुधिर मे अन्य महत्त्वपूर्ण खनिजो की मात्रा को नियमित करती है। अग्न्याशय के अत.-स्रावी भाग—पिट्यूइटरी, अधिवृक्क, तथा थाइरॉयड ग्रथिया—ये सब देह मे ऑक्सीकरणित अथवा सगृहीत खाद्य पदार्थों की मात्रा के नियत्रण मे भाग लेते है। लिग-ग्रथिया अथवा जनद यद्यपि बनावट मे अत स्रावी ही है, किन्तु उनपर विचार उन्हे जनन-तत्र के भाग मानते हुए ही किया जाएगा।

किसी भी अत स्रावी ग्रथि की अतिक्रियाशीलता (हारमोन का वर्धित स्राव) अथवा अध क्रियाशीलता (अल्प स्राव) से गभीर अव्यवस्थाए, और किन्ही-किन्ही हालतो मे तो मृत्यु तक, उत्पन्न हो सकती है। उदाहरण के लिए, अग्न्याशय की अतिसक्रियता से मधुमेह और थाइरॉयड ग्रथि की अध क्रियाशीलता से विभिन्न प्रकार की गडमालाए-जैसे रोग हो सकते है।

जनन-तत्र—देह के अन्य तत्र जहा विशिष्ट रूप से व्यक्ति मे जीवन के सरक्षण से ही सबद्ध है, वहा ये तत्र जात या जाति की निरतरता के लिए भी उत्तरदायी है। विश्वास किया जाता है कि पिट्यूइटरी ग्रथि के हारमोन लिंग-ग्रथियो तथा जनन-कोशिकाओ की वृद्धि के नियत्रण द्वारा यौवनावस्था लाते हैं। नर की शुक्राणु-कोशिकाए वृषण मे उत्पन्न होती है, और मादा की अड-कोशि-काए अडाशयो मे। जब मैथुन के बाद एक शुक्राणु-कोशिका एक अड-कोशिका के साथ सयुक्त हो जाती है, तो उससे उत्पन्न ससेचित अड-कोशिका ही नये व्यक्ति के जीवन की पहली अवस्था है।

यौवनावस्था प्राप्त होने पर जनद (वृषण या अडाशय) द्वितीयक लैगिक लाक्षणिकताओ (केश का वितरण, स्वर की तेजी आदि) का निर्धारण करते है। लैगिक रूप से वयस्क पुरुष अथवा स्त्री की लैगिक क्रियाविधि का नियमन, पिट्यूइटरी तथा जनद, दोनो, हारमोनो का काम है। स्त्रियो के बारे मे यह बात खासकर ठीक है, जिनमे ये दोनो हारमोन मासिक धर्म-चक्र तथा सगर्भावस्था की घटनाओ के क्रम को नियत्रित करते है।

अध्याय 2

देह की संरचना

जिस विज्ञान मे ऊतको की सूक्ष्म लाक्षणिकताओं का अध्ययन किया जाता है, उसे 'अण्वीक्ष्य शारीर' या 'ऊतकी' कहते हैं। संपूर्ण रचनाओ का अध्ययन करने वाला विज्ञान 'शारीर' कहलाता है।

ऊतक

देह की सरचना तथा कार्य की मूलभूत इकाई कोशिका है। एक ही प्रकार की कोशिकाए समूहबद्ध होकर ऊतक बनाती हैं। ऊतको के यद्यपि कई प्रकार हैं, तथापि प्रमुख इन चार को ही माना जाता है :
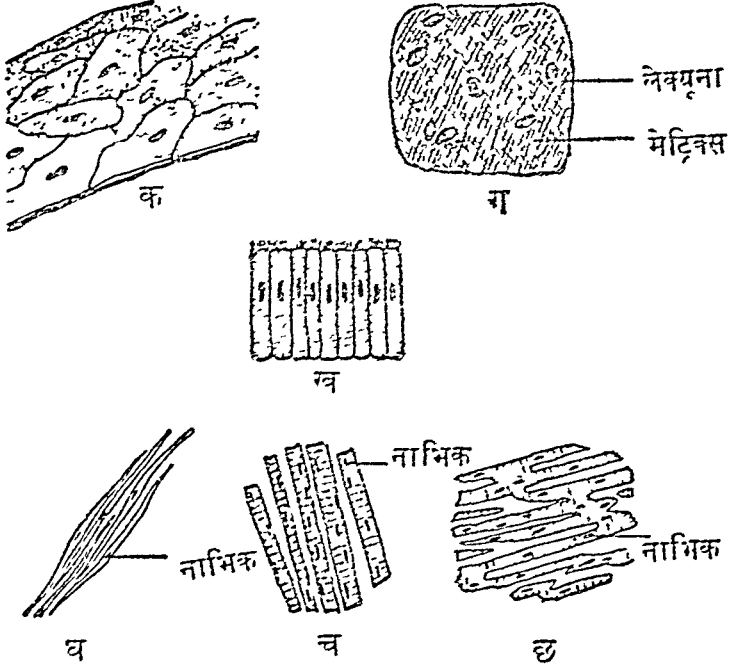
आकृति 3—ऊतकों के उदाहरण (क) वाह्य त्वचा, (ख) रोमाभ स्तंभाकार, (ग) कटोरों मे कोशिका वाली उपास्थि, (घ) समतल पेशी, (च) कंकालीय पेशी, (छ) हृदीय पेशी

(क) तलीय ऊतक अथवा वाह्य त्वचा या एपीथीलियम, जिसमे कोशिकाएं कसकर भरी होती हैं, जिससे सभी खुली सतहों पर एक सुरक्षात्मक आवरण बन जाता है। आकार में ये कोशिकाएं छोटी, बड़ी तथा परतीली—स्क्वेमुअस,

और यदि यह कटी हुई न हो, तो परतीली बाह्य त्वचा की इसकी सबसे बाहरी परत बैक्टीरियाई आक्रमण के विरुद्ध एक प्रभावशाली दीवार का काम करती है। त्वचा का फैलाव सारी देह पर निरंतर है, जिसमे इसकी श्लैष्मिक झिल्लिया है, (इन्हे यह नाम इसलिए दिया गया है कि इन झिल्लियो मे श्लेष्मा का स्राव करने वाली ग्रथिया होती है) जो बाहरी वातावरण से सपर्क में आनेवाले कोटरो या छिद्रो (जैसे मुख, नासिका, गुदा आदि) मे मढी होती है। त्वचा के दो विभाग होते है बाहर की वाह्य त्वचा या एपीडर्मिस और भीतर का चर्म या डर्मिस। एपीडर्मिस का कार्य सरक्षात्मक है, इसकी मोटाई का अधिकाश मृत बाह्यचर्मीय कोशिकाओ का बना होता है। ये मृत कोशिकाए सतही परतो से लगातार झड़ती रहती है और इनकी जगह नीचे की जीवित कोशिकाए लेती रहती है, जिनकी जगह फिर और नई-नई जीवित कोशिकाए उत्पन्न होती जाती है। चर्म या डर्मिस संयोजी ऊतको, रुधिर तथा लसीका-वाहिनियो, स्वेद तथा तेल उत्पन्न करनेवाली सिबेसियस ग्रथियो तथा बालो की जडो का अत मिश्रण है। दोनो ही प्रदेशो मे अनेक सवेदक तत्रिका-छोर होते है, जो या तो स्वतत्र होते है, या किसी विशेष ज्ञानेन्द्रिय को आते या जाते है।

त्वचा के नीचे संयोजी ऊतको की एक परत होती है, जिसमे वसा-ऊतको का भी काफी भाग होता है। सयोजी ऊतक त्वचा को नीचे की पेशी या अस्थि से जोडता है जबकि वसा पृथक्करण का काम करती है। देह के अधिकाश क्षेत्रो मे त्वचा के वाद दृष्टि मे पडनेवाले अग कंकाल-पेशिया है, (देखिए आकृति 22), जो कडराओ द्वारा अस्थि से या अपने ऊपर की त्वचा से जुडी होती है। ककाल (आकृति 20) पेशियो के नीचे है और देह के मजबूत ढाचे का निर्माण करता है।

आंतरिक अंग

देह का आतरिक भाग तीन छिद्रो या गुहाओ का बना हुआ है, जिनमे आतराग या आतरिक अग स्थित है।

कपालीय गुहा—करोटि या खोपडी के भीतर की जगह, जो मस्तिष्क द्वारा लगभग पूर्णत: भरी हुई है, कपालीय गुहा कहलाती है। खोपडी, मस्तिष्क को घेरनेवाली झिल्लिया तथा झिल्लियो मे बद जलीय अस्तर—ये सब मिलकर मस्तिष्क को सामान्यत. समुचित सरक्षण प्रदान करते है।

वक्षीय गुहा—(आकृति 5 तथा 6)—वक्ष या छाती के भीतर वक्षीय गुहा है जिसमे हृदय तथा फेफडे या फुप्फुस है। यह गुहा रीढ की हड्डी के वक्षीय भाग, पसलियो तथा छाती की हड्डी से बने अस्थियो के सरक्षणात्मक पिजडे मे बंद है। इस गुहा पर फुप्फुसावरण या प्लूरा नामक झिल्ली का अस्तर है, जो खुद अपने ही ऊपर चढी हुई है और फेफडो को भी ढंकती है। गुहा के बीच मे, कुछ वाई तरफ हटकर, हृदय है जो हृदयावरण या परिहृद् नामक झिल्लिकामय थैली से घिरा हुआ है। श्वास-नली नाम की एक पेशीय नली, जिसमे थोड़े-थोडे
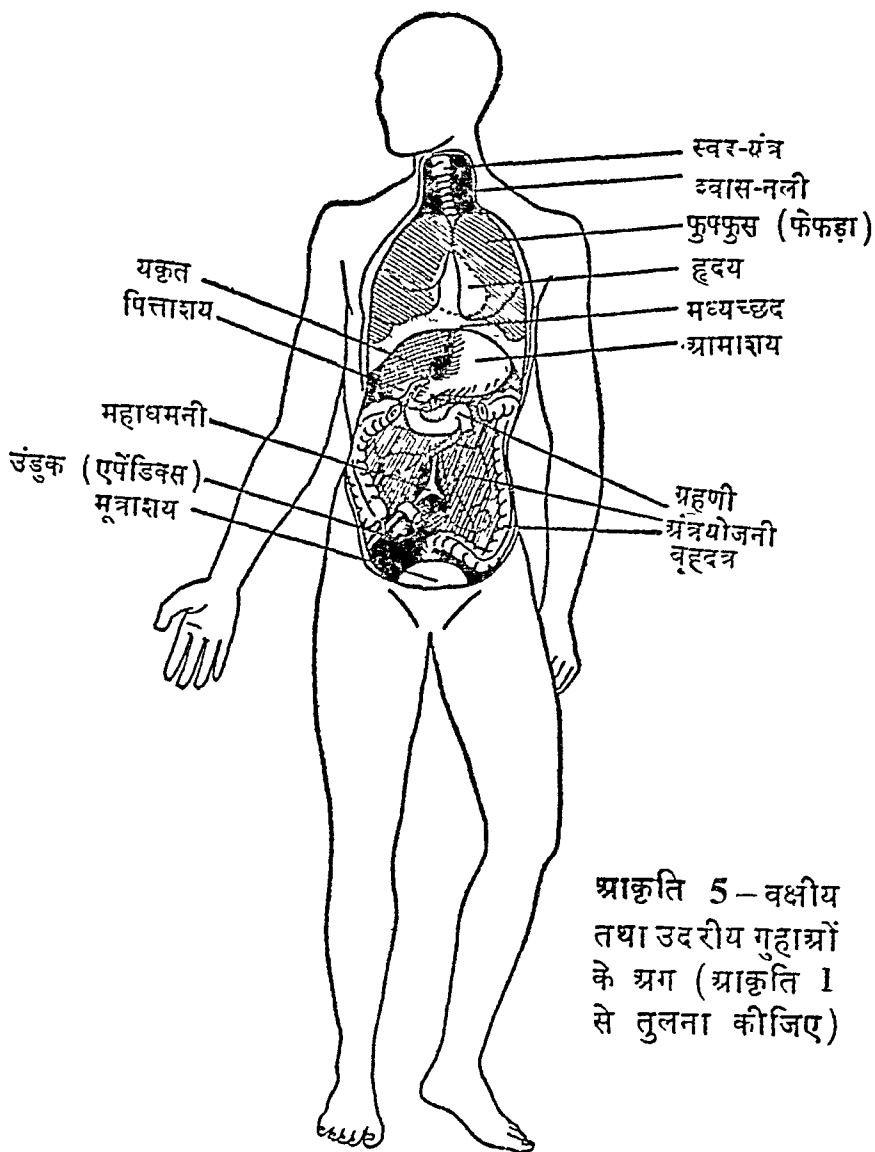
आकृति 5—वक्षीय तथा उदरीय गुहाओं के अंग (आकृति 1 से तुलना कीजिए)

अंतर पर उपास्थि के बने वलय है, ग्रसनी या फेरिंक्स और गर्दन में से होकर जाती है और इस गुहा के सबसे ऊपरी भाग के बीच के हिस्से मे दो श्वसनियो मे विभक्त हो जाती है। सरचना मे ये श्वसनिया श्वास-नली के ही समान है किन्तु इनका व्यास उससे कम है। ये नलिया फेफडो मे जाकर क्रमश छोटी-छोटी नलिकाओ मे बटती जाती है, जिनका अंत वायुकोष्ठो मे होता है। ग्रसनी से ही आरभ होकर और श्वास-नली के ठीक पीछे होकर जानेवाली ग्रसिका, ग्रास-नली या ईसोफेगस है, जो आमाशय जाते समय हृदय के पीछे से और कोटर की मध्य रेखा पर होते हुए वक्षीय कोटर से होकर गुजरती है।

उदरीय या उदर-गुहा—(आकृति 1, 5 तथा 6)—वक्षीय कोटर को

उदरीय गुहा से डायफ्राम या मध्यच्छद अलग करता है, जो कंकाल-पेशी की बनी एक पतली झिल्ली है।

अधिकांश पाचक अग उदर में ही स्थित है। मध्यच्छद के जरा ही नीचे, अधिकतर दाईं ओर ही यकृत् या जिगर है, जो देह की सबसे बडी ग्रंथि है (इसका रग लालिमा लिये भूरा होता है)। बाईं तरफ, जिगर की उल्टी दिशा मे, ग्रास-नली जठर या आमाशय से मिलती है। आमाशय का आकार कुछ-कुछ नासपाती जैसा है। स्वय आमाशय से अनेको कुंडलोवाली लघु अत्र (छोटी आत) निकलती है। उदरीय गुहा का अधिकाश मध्य भाग छोटी आत ने ही घेर रखा है। इसके अत के साथ बृहत् अन्त्र या बड़ी आत का आरभ होता है। यह अंग (बडी आत) पहले गुहा के दाहिनी ओर ऊपर चढता है, फिर समकोण पर मुडकर बाईं ओर चला जाता है और छोटी आत को तीन ओर से घेरता हुआ नीचे उतर आता है। बडी आत गुहा के निचले भाग मे स्थित मलाशय मे जाकर खाली होती है। आमाशय तथा लघु अन्त्र के सगम पर और कुछ दूर लघु अन्त्र के साथ-साथ जाता हुआ लालिमायुक्त सफेद ऊतक का एक लबाकार पिड—अग्न्याशय है। आमाशय से मलाशय तक की पाचन-प्रणाली एक पतली झिल्ली को छोड़कर, जो किसी हद तक इसे गुहा की पिछली दीवार से लटकाए रखती है, किसी से जुडी हुई नही है। उदर-गुहा के सभी अगो को फुपफुसावरण-जैसी एक झिल्ली—उदर्या या पेरिटोनियम—ढके हुए है। यह इस गुहा की दीवारो को मढे हुए भी है। इस गुहा के दोनो ओर पीछे की तरफ ऊचाई पर, किन्तु उदर्या के बाहर, सेम के बीज के आकार के वृक्क है, जिनसे निकलकर दोनो मूत्रवाहिनिया मूत्राशय या ब्लेडर मे जाकर रीती हो जाती है। मूत्राशय पेशी का बना एक थैला है, जो काफी फैल सकता है। यह इस गुहा के निम्नतम मध्यभाग मे स्थित है।

अन्य अंग

उन अनेक रुधिर-वाहिनियों, लसीकावाहिनियों तथा तंत्रिकाओ का अभी उल्लेख नही किया गया है, जो देह के लगभग सभी प्रदेशो को जाती है (आकृति 7 तथा 23)। इनके बारे मे हम आगे चलकर कुछ कहेगे। मेरुरज्जु या रीढरज्जु मेरुदड या कशेरुकदड की एक गुहा मे स्थित है और उसी प्रकार संरक्षित है, जैसे कि मस्तिष्क।

अत स्रावी तत्र की विभिन्न ग्रथियो (आकृति 38) का वितरण व्यापक है। पिट्यूइटरी ग्रथि मस्तिष्क के निचले तल से लटकी हुई है। थाइरॉयड ग्रथि स्वर-यत्र के दोनो ओर स्थित है। स्वर-यत्र स्वय देह की मध्यरेखा को काटकर अपने दोनो पिडकों या फालियों को जोडनेवाला एक पतला ततु है। पेराथाइरॉयड ग्रथिया थाइरॉयड ऊतक मे स्थित है और आकार मे काफी छोटी है। अधिवृक्क-ग्रथिया वृक्को के ऊपर वसा के उस बडे पिंड मे स्थित है, जो इन अंगो के आस-पास आमतौर पर उपस्थित रहता ही है। अग्न्याशय की चर्चा की ही जा चुकी है।

आकृति 6—अधिकतर बडे अंगो को अलग कर लेने पर आंतरिक अंग ऐसे दिखाई देंगे। (आकृति 1 तथा 5 से इसकी तुलना कीजिए।)
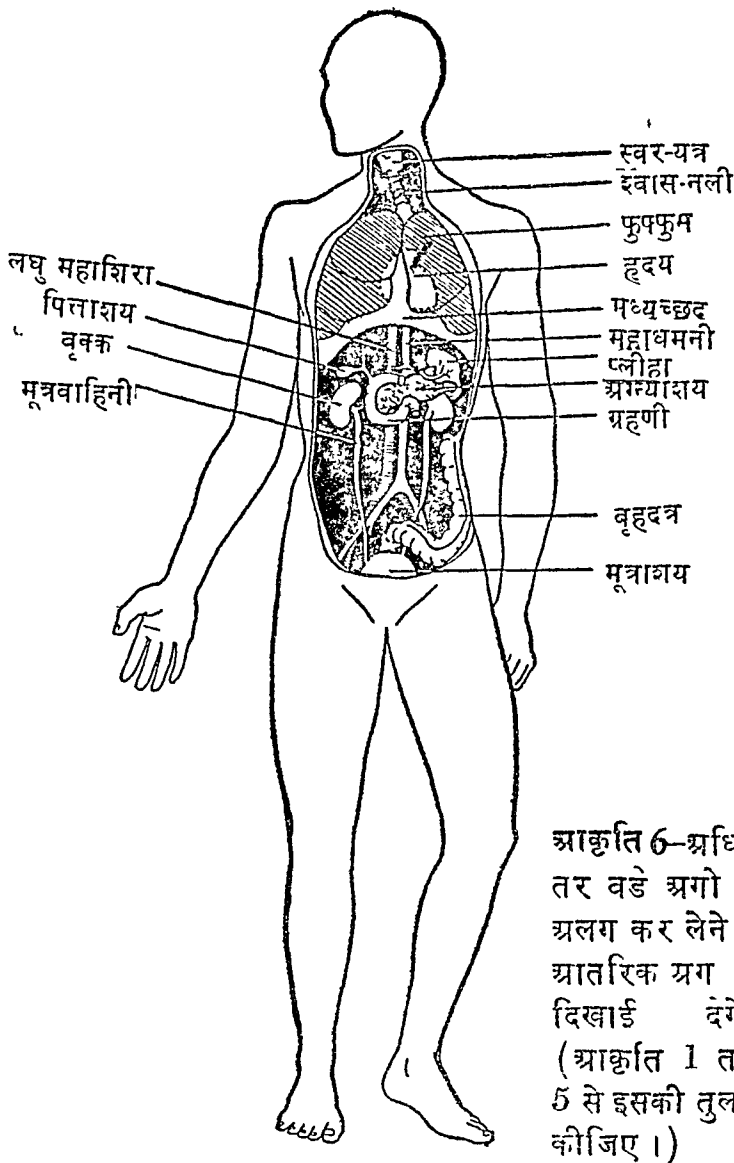
पुरुष के मुख्य जनन-अंग (आकृति 39) वृषण है, जो उदरीय गुहा के बाहर वृषण-कोश मे पाये जाते है। स्त्री के जनन-अंग (आकृति 41) उदरीय गुहा के भीतर ही स्थित है। दोनो ओर एक-एक अंडाशय लम्बी अंडवाहिनियो द्वारा बीच मे स्थित गर्भाशय से संबंधित है।

अध्याय 3

परिवहन-तंत्र

मानव-देह की अधिकाश कोशिकाए न तो बाहर से सीधे पोषक पदार्थ ग्रहण कर सकती है और न वे व्यर्थ पदार्थो को सीधे बाहर त्याग सकती है। परिवहन-तंत्र, जिसकी अनेको वाहिकाए देहभर मे फैली हुई हैं, कोशिकाओ तक पदार्थो के लाने-ले जाने मे 'बिचौलिए' का-सा काम करता है। इन वाहिकाओ मे प्रवाहित होने वाला रुधिर वाहन के माध्यम का काम करता है।

रुधिर

मानव-रुधिर को सग्रह करना अब एक सामान्य प्रक्रिया हो गई है। इस कारण अध्ययन के लिए देह के किसी भी अन्य सरचक की अपेक्षा रुधिर अधिक सुलभ है। देह के बाहर परीक्षण के समय रुधिर अन्य देहीय सरचको की अपेक्षा, जिन्हे रुधिर की भाति सुगमतापूर्वक परिरक्षित नही किया जा सकता, सामान्य अवस्था मे अधिक रहता है।

परख-नली मे रुधिर सभी जगह समान गाढेपन का एक लाल, गाढा-सा तरल दिखाई देता है। तथापि सूक्ष्मदर्शी मे देखे जाने पर यह अनेको कोशिकाओ वाले एक जलीय तरल-सा दिखाई देता है। इन कोशिकाओ को लाल रुधिर-कोशिका तथा श्वेत रुधिर-कोशिकाओ का नाम दिया जा सकता है। इन कोशिकाओ तथा बिबाणु या प्लेटेलेट नाम के कुछ कोशिका-कणो को सामूहिक रूप से निर्मित अवयव कहा जाता है। द्रव भाग प्लाज्मा है।

लाल रुधिर-कोशिकाए (संख्या, आकार तथा संरचना)—निर्मित अवयवों का एक बडा अश लाल रुधिर-कोशिकाओ या एरीथ्रोसाइट का है। एक घन मिलीमीटर मानव-रुधिर मे औसतन लगभग 55,00,000 लाल कोशिकाए पुरुषो मे, और लगभग 50,00,000 स्त्रियो मे पाई जाती है। इनका आकार ऐसा होता है कि 3200 लाल कोशिकाओ की एक पक्ति लम्बाई मे एक इंच होगी। मनुष्य तथा अन्य स्तनधारियो मे परिपक्व लाल रुधिर-कोशिकाएं बिना नाभिक की उभयावतली तश्तरियो-जैसी होती है (आकृति 8), यद्यपि लगता यह है कि उनका कोई सरचक ढाचा नही है, तथापि जब उन्हे किसी रजक द्वारा उचित अभिरंजन या रंग दिया जाता है, तो कोशिकाओ मे फैला एक जाल-सा देखा जा सकता है। यह ढाचा लाल कोशिकाओ की नम्यता का कारण जानने मे सहायता देता है। महीन कोशिकाओ से गुजरते समय यह देखा जा सकता है कि इन कोशिकाओ मे विभिन्न अशों मे विकृतिया आती है, तथापि अधिक खुले स्थानों मे वे सदा अपनी मौलिक आकृति ग्रहण कर लेती है।
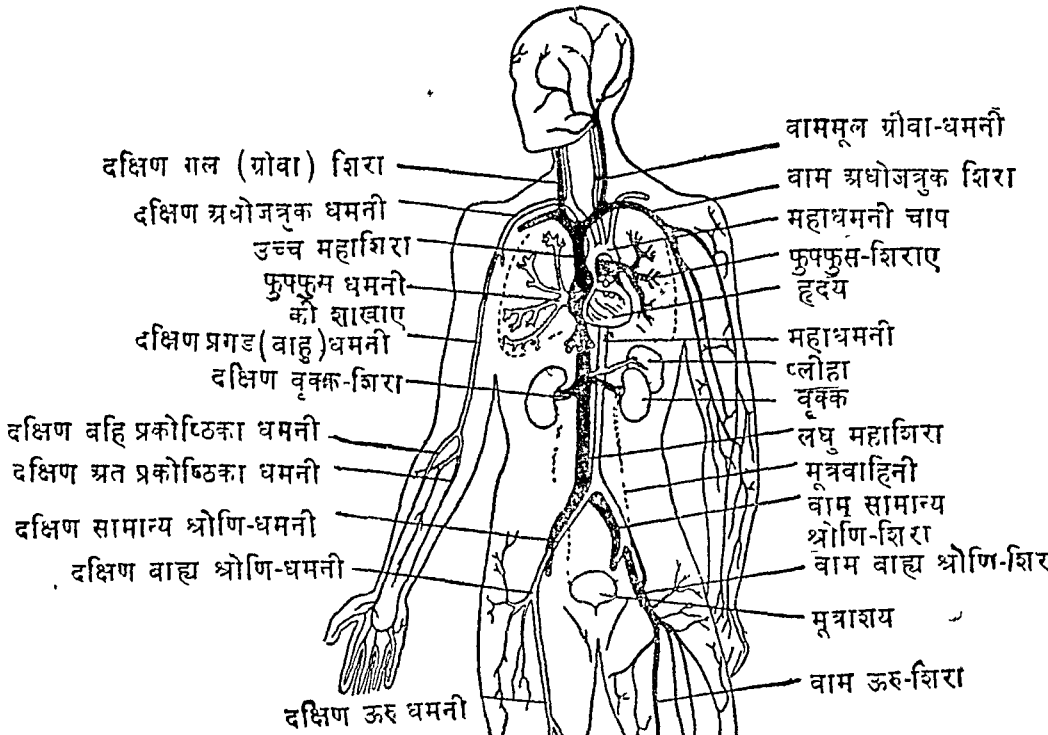
आकृति 7—परिवहन तत्र : स्पष्टता के लिए आरेख के बाई ओर केवल धमनिया (बाह्य रेखाओ में) और दाई ओर केवल शिराए (काले में) ही दर्शाई गई है ।

हीमोग्लोबिन अंश—लाल रुधिर-कोशिका का सबसे महत्त्वपूर्ण रासायनिक सरचक हीमोग्लोबिन नामक लाल रजक है जो ऑक्सीजन के साथ सयोग करता है और रुधिर मे ऑक्सीजन के वाहक का काम करता है। नाभिक की अनुपस्थिति से यही प्रतीत होगा कि इससे कोशिका के भीतर हीमोग्लोबिन के लिए अधिक स्थान हो जाएगा। लाल कोशिका के मुख्य कार्य—ऑक्सीजन का परिवहन, कार्बन डाई-ऑक्साइड के परिवहन मे सहायता देना, तथा रुधिर मे अत्यधिक
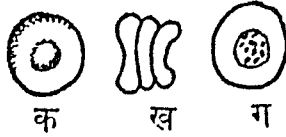
आकृति 8—लाल रुधिर-कोशिकाए : (क) परिचय, (ख) परिपक्वता के निकट, (ग) अपरिपक्व

अम्लता को रोकना—उसके हीमोग्लेविन द्वारा ही किए जाते है।

स्तनहीन कशेरुकदंडियो—जैसे मछली, मेंढक, सर्प, पक्षी आदि की लाल रुधिर-कोशिकाए नाभिकित और स्तनधारियो की कोशिकाओ की अपेक्षा बडी होती है। इन अतरों से स्तनधारी कोशिकाए ही लाभान्वित होती है। उनके प्रति-इकाई आयतन मे अधिक हीमोग्लोबिन होता है और इसीलिए अपने आकार के अनुपात मे वे अधिक ऑक्सीजन का वहन कर सकती है।

लाल कोशिका का जीवन-चक्र—हिसाब लगाया गया है कि रुधिर-प्रवाह मे लाल कोशिकाए कोई दस-से-तीस दिन तक जीवित रहती है। चूकि रुधिर मे लाल कोशिका-गणन अपेक्षाकृत स्थिर रहता है, इसलिए इसका यही मतलब निकलना चाहिए कि लाल कोशिकाओ के निर्माण और विनाश की प्रक्रियाएं समान गतियो से चलती है। लाल कोशिकाओ का निर्माण मुख्यतः लाल अस्थि-मज्जा द्वारा किया जाता है। अगर पसली-जैसी किसी सपाट हड्डी को चीरा जाए, तो एक लाल-सा ऊतक दिखाई देता है। जाघ की हड्डी-जैसी लम्बी हड्डियो के सिरों पर भी इसी प्रकार का ऊतक मिलता है। लाल मज्जा का सूक्ष्मदर्शी द्वारा परीक्षण करने पर लाल कोशिका के परिवर्धन की सभी अवस्थाए दिखाई देती है। आदिम सयोजी ऊतकीय कोशिकाएं लाल कोशिकाओ की पुरोगामी है। इन कोशिकाओ के विभाजन और गुणन के फलस्वरूप कई अवस्थाए उत्पन्न होती है जो सभी नाभिकित होती है। इन अवस्थाओ के अन्त मे हीमोग्लोबिन उत्पन्न होता है और नाभिक निष्कासित हो जाता है तथा तज्जनित परिपक्व लाल कोशिका रुधिर-प्रवाह मे चली जाती है।

यकृत् तथा प्लीहा से गुजरने वाले रुधिर मे से कुछ कोशिकाए यकृत् तथा प्लीहा की कुछ कोशिकाओ द्वारा पकडी जाकर ग्रस ली जाती तथा नष्ट कर दी जाती हे। इस प्रकार का विनाश सदा होता रहता है, किन्तु यह नही मालूम कि ये विनाशक लाल कोशिकाओ का चयन किस आधार पर करते है।

विनष्ट कोशिकाओ से उन्मुक्त हीमोग्लोबिन यकृत् तथा प्लीहा-कोशिकाओं मे खडित हो जाता है। ग्लोबिन प्रभाज का गतव्य-स्थल अज्ञात है, हेमाटिन अश या तो फिर से उपयोग के लिए अस्थि-मज्जा मे वापस चला जाता है, या वह यकृत् मे पित्त-रंजको मे परिवर्तित हो जाता है। पित्त-रजक पित्तवाहिनी द्वारा लघु अन्त्र मे प्रवेश करते है और अन्तत देह से जाते रहते है। विष्ठा मे वर्तमान पित्त-रंजको की मात्रा के निर्धारण द्वारा यह अनुमान लगाया गया था कि लाल

कोशिकाओ के दसवे-तीसवे तक भाग का नित्य विनाश हो जाता है। दस दिवसीय आयु-सीमा के आधार पर इसका मतलब प्रति-मिनट 21,00,00,00,000 कोशिकाओ का निर्माण तथा विनाश निकलेगा।

रुधिराभाव—यदि किसी व्यक्ति के रुधिर मे लाल कोशिकाओ की सख्या बहुत कम हो, या प्रत्येक कोशिका का हीमोग्लोबिन-अश घट जाए, या ये दोनो ही बाते हो, तो उस व्यक्ति को रुधिराभावी कहा जाता है। न्यूनित हीमोग्लोबिन या लाल कोशिका-न्यूनता का मतलब रुधिर के ऑक्सीजन-अश का कम हो जाना और इसके फलस्वरूप ऊतको को कम ऑक्सीजन मिलना तथा उपापचयन ऊर्जा (भोजन के पाचन से प्राप्त ऊर्जा) के अभाव मे दैनिक क्रियाविधियो मे शारीरिक अक्षमता है। रुधिराभाव उत्पन्न होने का कारण लाल कोशिकाओ या हीमोग्लोबिन का अत्यधिक व्यय या विनाश या अपर्याप्त उत्पादन है।

श्वेत रुधिर-कोशिकाए (**संख्या तथा संरचना**)—एक घन मिलीमीटर रुधिर मे 5,000 से 9,000 तक श्वेत रुधिर-कोशिकाए या ल्यूकोसाइट होती है। हम इन्हे पहले दो बडे समूहो मे पृथक् कर सकते है—एक वे, जिनके कोशिकाद्रव्य (साइटोप्लाज्म) मे दाने होते है, और दूसरी वे जिनके दाने नही होते (आकृति 9)। दानेदार प्रकार मे न्यूट्रोफिल सबसे आम हैं। उनकी कोशिकाएं फूली हुई और दाने बडे महीन होते है, जो सामान्य रुधिर-अभिरजको से लैवेडर अभिरजक ले लेते है। इओसिनोफिल तथा बैसोफिल न्यूट्रोफिलो के ही सादृश्य है, भेद बस इस बात का है कि उनके दाने अधिक बडे होते है और एक के दाने लाल अभिरजन ग्रहण करते है, तो दूसरे के नीला। ये तीनो ही प्रकार लाल कोशिकाओ से कुछ बड़े होते है। दानाहीन श्वेत कोशिकाओ मे लसीका-कणिका या लिंफोसाइट
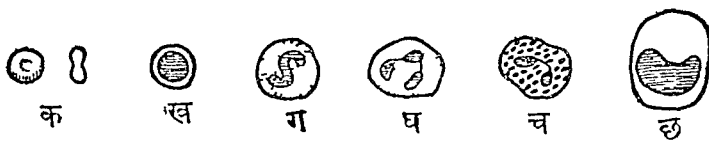
आकृति 9—श्वेत रुधिर-कोशिकाए (ख) लिफोसाइट, (ग) बेसोफिल, (घ) न्यूट्रोफिल, (च) इयोसिनोफिल, (छ) मोनोसाइट। आकृति मे आकार की तुलना के लिए एक लाल रुधिर-कोशिका (क) भी रख ली गई है।

और मोनोसाइट भी सम्मिलित है। लिंफोसाइट या लसीका-कणिकाए आकार मे लगभग लाल कोशिकाओ जितनी ही होती है और उनमे एक बडा, फली के-से आकार का नाभिक होता है, जो कोशिका को लगभग भर देता है। मोनोसाइट श्वेत कोशिकाओ मे सबसे बडी होती है और उनके नाभिक गहरे दातेदार होते है। प्रति 200 श्वेत कोशिकाओ मे, औसतन 70 न्यूट्रोफिल होगी, 22 लिफोसाइट, 4 मोनोसाइट, 3 इओसिनोफिल और 1 एबेसोफिल होगी।

जीवन-चक्र तथा कार्य——दानेदार ल्यूकोसाइट, किसी हद तक लाल कोशिकाओं की ही भांति, लाल अस्थि-मज्जा में उत्पन्न होती हैं और परिपक्वता प्राप्त करने के पूर्व परिवर्तन की कई अवस्थाओं से गुजरती हैं। लिंफोसाइट (लसीका-कणिकाएं) विशेषकर लसीका-ग्रंथियों में निर्मित होती हैं (लसीका-ग्रंथियां लसीकावाहिनियों पर थोड़ी-थोड़ी दूर पर दिखाई देनेवाली उठी हुई जगहें हैं)। मोनोसाइटों का उद्गम स्पष्ट नहीं है। श्वेत कोशिकाओं के विनाश के बारे में चूंकि हमारी जानकारी अपेक्षाकृत कम है, इसलिए इनकी जीवनावधि का अनुमान लगाना कठिन है। किन्तु यह देखते हुए कि वे लगातार उत्पन्न होती रहती हैं, फिर भी रुधिर में उनकी संख्या सारी स्थिर रहती है, ये नष्ट भी लगभग उसी रफ्तार से होती होंगी जिस रफ्तार से पैदा होती हैं।

न्यूट्रोफिल 'रेंगकर' रुधिर-प्रवाह के बाहर आ सकती हैं और छूत के स्थलों पर पहुंच सकती हैं। यहां ये रोगकारक जीवों तथा घायल अथवा मृत ऊतकीय कोशिकाओं को घेर तथा पचा लेती हैं। बैक्टीरियाई आक्रमण के बाद होनेवाले युद्ध में इनमें से अनेकों की जान जाती रहती है। छूत वाले रोगों के साथ जो पीप लगा रहता है, वह न्यूट्रोफिलों की मृत देहों तथा बैक्टीरिया तथा ऊतकीय कोशिकाओं के अवशेषों का ही बना होता है।

लिंफोसाइट (लसीका-कणिकाएं) कुछ ऐसे रासायनिक पदार्थों के स्रोत हैं, जो रोग का प्रतिरोध करने में उपयोगी हैं। ये ऊतकों की सामान्य मरम्मत में भी उपयोगी हो सकते हैं। अन्य ल्यूकोसाइटों के कार्य ज्ञात नहीं हैं।

रुग्णावस्था में श्वेत कोशिका के 'गणन' में खासा वैभिन्न्य हो सकता है। अधिकतर यह सामान्य स्तर से ऊंचा रहता है, किन्तु कभी-कभी नीचा भी हो जाता है।

प्लाज्मा——रुधिर का द्रव भाग संपूर्ण रुधिर (निर्मित तत्त्वों तथा प्लाज्मा) के लगभग 55 प्रतिशत का निर्माण करता है और यह मुख्यतः पानी का बना होता है (औसत तौर पर 90 प्रतिशत)।

इस जलीय तरल में अनेक महत्त्वपूर्ण पदार्थ होते हैं, जो देह के सभी भागों में ले जाए जाते हैं——वे पोषण पदार्थ, जो कोशिकाओं को ऊर्जा-उत्पादन तथा वृद्धि के लिए चाहिए, अंतःस्रावी ग्रंथियों के हार्मोन, और कोशिकाओं के सामान्य वातावरण को बनाए रखने के लिए आवश्यक पदार्थ हैं। इसमें कोशिकाओं के व्यर्थ उत्पाद भी मिलते हैं जो वृक्कों द्वारा निष्कासित होने के लिए जा रहे हैं।

रुधिर का आतंचन या जमना——रुधिर के थक्करण से हम सभी परिचित हैं। रुधिरवाहिनियों को चोट लग जाने पर मूल्यवान् रुधिर की अत्यधिक हानि को रोकने में यह घटना बहुत ही भारी महत्त्व की है।

आतंचन का भौतिक आधार——थक्करण की प्रक्रिया में सबसे आवश्यक प्रतिक्रिया प्लाज्मा में पाये जानेवाले पदार्थ फाइब्रिनोजेन का द्रव से अधिक ठोस अवस्था में आना है। आइए, हम यह देखें कि इससे थक्करण कैसे होता है। रुधिर

के सूक्ष्मदर्शीय परीक्षण से पता चलता है कि जब रुधिर थक्कित होता है, तो फाइब्रिन, जो फाइब्रिनोजैन की ठोस अवस्था है, के रगहीन धागे प्रकट होने लगते है। ये आपस मे गुथकर एक जाल बना देते है, जिसमें रुधिर-कोशिकाए तथा प्लाज्मा बन्द हो जाते है। इस प्रकार तरल रुधिर एक जैली-जैसे लाल पिंड मे परिवर्तित हो जाता है, जिसे हम थक्कित रुधिर के रूप मे जानते है। यदि हम कुछ थक्कित रुधिर को कुछ घटे तक स्थिर रहने देने के बाद देखें, तो हम देखेंगे कि कुछ तरल फिर मौजूद है और थक्का सकुचित हो गया है। जैसे-जैसे वह सकुचित होता जाता है, सीरम नामक भूसे-जैसे रग का द्रव बाहर निकलकर उसके ऊपर एकत्र होता जाता है।

थक्करण अकेले प्लाज्मा का ही कार्य है। यदि प्लाज्मा को कोशिकाओ से पृथक् कर लिया जाए, तो वह तुरन्त थक्कित हो जाता है। यदि किसी थक्के को पानी मे धोया जाए, तो कोशिकाओ के बह जाने के कारण वह अपना लाल रग गंवा देता है, किन्तु उसमे और कोई परिवर्तन नही आता। थक्करण मे कोशिकाओ का होना पूर्णत. आकस्मिक है।

रुधिरवाहिनियों के भीतर थक्कण—सामान्यत रुधिर देह के भीतर थक्कित नही होता, यद्यपि प्लीहा-जैसे स्थान मे यह कुछ देर के लिए रुका रह सकता है। किन्तु यदि किसी रुधिरवाहिका का अस्तर खुरदरा हो जाता है, या वह किसी बिन्दु पर चोट खा जाती है, तो थक्के के लिए एक केन्द्र-बिन्दु बन जाता है। आमतौर पर ऐसी घटना सरक्षणात्मक होती है, जो वाहिनी की दीवार के किसी कमजोर बिन्दु को मजबूती देती है, यह वाहिनी के फटने को, और तज्जनित रुधिर-स्राव को, रोकती है। तथापि कभी-कभी यह युक्ति उल्टी चोट कर जाती है। कोई थक्का बढता रह सकता है और अन्त मे वाहिनी को पूर्णत' बन्द करके रुधिर के बहाव को रोक दे सकता है। यदि वाहिनी किसी आवश्यक प्रदेश को रुधिर की प्रदाय करती है, तो ऐसा थक्का उस व्यक्ति को भारी नुकसान पहुचा सकता है और इसका परिणाम मृत्यु तक हो सकता है। रुधिर-वाहिनी के भीतर बननेवाले थक्के को 'घनास्र' या 'थ्रावस' और वाहिनी के इस प्रकार बन्द होने को 'घनास्रता' कहते है। इसमे एक और भी खतरा है। थ्रावस चाहे वाहिनी को बन्द भी न करे, तब भी वह वहा से छूटकर रुधिर-प्रवाह के साथ बहना शुरू कर सकता है और किसी ऐसी वाहिनी मे पहुच सकता है कि जहा वह चल नही सकता। इससे रुधिर के प्रवाह मे रुकावट पैदा हो जाएगी और इसके परिणाम भी गम्भीर हो सकते है। भ्रमणशील थक्के (या हवा के बुलबुले या तेल की बूद) को 'परिवहनावरोधक' या 'एबोलस', और इससे उत्पन्न अवस्था को 'परिवहना-वरोध' या 'एबोलिज्म' कहते है।

रुधिर का आयतन—विभिन्न तरीको से यह अनुमान लगाया गया है कि रुधिर देह के भार के तेरहवे भाग के लगभग बराबर होता है। इस प्रकार 140 पौड भारवाले व्यक्ति की देह मे लगभग 5 क्वार्ट रुधिर होगा। ये केवल

अनुमान ही है क्योंकि रुधिर का आयतन निर्धारित करने की ऐसी कोई पद्धति अभी तक नही निकली है कि जिसमे गलतिया न हो सके।

बडी भिन्न-भिन्न अवस्थाओ मे भी देह मे परिवहन करने वाले रुधिर का आयतन आश्चर्यजनक रूप से स्थिर रहता है। हम देख ही चुके है कि रुधिर-कोशिकाओ की सख्या उनके निर्माण तथा विनाश की गलतियों के संतुलन के द्वारा स्थिर रखी जाती है। प्लाज्मा-आयतन, जो अधिकतर वर्तमान पानी की मात्रा द्वारा निर्धारित किया जाता है, की स्थिरता कायम रखने के लिए भी कई युक्तिया काम करती है। चूकि पानी कोशिकाओ तक केवल रुधिर के जरिये ही पहुंच सकता है और चूकि पानी देह से उच्छ्‌वसित वायु, पसीने, विष्ठा तथा मूत्र के रूप मे निरंतर जाता रहता है, इसलिए रुधिर से पानी लगातार निकलता रहता होगा। पानी की पूर्ति हमारे पिए पानी और कुछेक रासायनिक यौगिको के खंडन से उत्पन्न हुए पानी से भी होती ही रहती होगी। जल-सतुलन को बनाए रखना मुख्यत: वृक्को का कार्य है। यदि पानी का निष्कासन अतर्ग्रहण से अधिक होगा, तो मूत्र मे पानी की मात्रा कम हो जाएगी। दूसरी दशा मे इसका उल्टा होगा।

इस प्रकार ऊतको को आवश्यक पानी की प्रदाय के लिए रुधिर-आयतन अपने स्तर पर ही रहना चाहिए। यह रुधिर-दाब को सामान्य रखने मे भी एक कारक है।

रुधिर-स्राव—न्यून हुआ रुधिर-आयतन वर्धित रुधिर से ज्यादा आम और सामान्यत: अधिक खतरनाक है। रुधिर-आयतन के गिरने का एक अधिक सामान्य कारण रुधिर-स्राव है। इसमे चूकि संपूर्ण रुधिर की ही हानि होती है, इसलिए कोशिकाओ की नियत सख्या और प्लाज्मा का आयतन दोनो ही कम हो जाते है। रुधिर-स्राव बंद हो जाने के बाद देह को इन क्षतियो की पूर्ति के लिए अत्यधिक सघर्ष करना पडता है। यदि समस्त रुधिर-आयतन के 30 प्रतिशत से अधिक की हानि नही हुई है, तो देह-तंत्र शीघ्र ही क्षति-पूर्ति मे सफल हो जाता है। रुधिर मे लाल कोशिकाओ की कमी के कारण, ऑक्सीजन का जो अभाव उसमे आ जाता है, वह हड्डी की लाल मज्जा को अधिक संख्या में लाल कोशिकाएं उत्पन्न करने के लिए विवश कर देता है। इस तरह कुछ ही सप्ताहो मे लाल कोशिकाओ का फिर से अपने स्वाभाविक अनुपात मे आ जाना संभव है। प्लाज्मा का आयतन शरीर मे कोशिकाओ या ऊतकीय तरल द्वारा केशिकाओ मे जल-विसरण से शीघ्र पूरा कर दिया जाता है। यह पूर्ति करने की क्रिया इतनी तेजी से होती है कि सपूर्ण रुधिर-आयतन फिर से अपने स्वाभाविक स्तर पर आ जाता है। लाल कोशिकाओ और प्लाज्मा का अनुपात यद्यपि इस परिस्थिति मे पहले से कम होता है और उस समय तक कम रहता है जब तक कि कोशिकाओ की सख्या फिर से स्वाभाविक मात्रा मे नही आ जाती। रुधिर-आयतन के इस अभाव मे वृक्क कुछ अधिक गाढा मूत्र स्रवित करते है (जिसमे जल की मात्रा कम होती

है), जिससे शरीर को आवश्यकतानुसार जल संचित करने का अवसर मिल जाता है।

रुधिर-आधान और रुधिर-वर्ग—यदि उपर्युक्त परिस्थिति से अधिक चिंता-जनक रुधिर-स्राव हुआ है, तो देह केवल अपने तंत्र द्वारा इस क्षति को पूरा करने के योग्य नही रहती और यदि उसे ठीक समय पर सहायता न दी जाए, तो मृत्यु तक होने की सभावना रहती है। ऐसे समय मे न्यून हुआ रुधिर-दाब, जो रुधिर-आयतन की कमी के कारण होता है, रुधिर मे ऑक्सीजन की कमी से अधिक सघातक सिद्ध होता है। रुधिर को परवहित रखने के लिए एक निश्चित न्यून-तम रुधिर-दाव की आवश्यकता होती है, यह दाव उस न्यूनतम स्तर तक कायम रहना आवश्यक है। इससे नीचे गिरने पर महत्त्वपूर्ण अगो को समुचित मात्रा मे रुधिर नही पहुच पाता और मृत्यु होने की संभावना रहती है। इस न्यून हुए रुधिर-दाव पर नियत्रण पाने के लिए देह मे द्रव के इजेक्शन के द्वारा रुधिर-आयतन वढाना ही एकमात्र उपाय है।

इस कार्य के लिए सवसे उत्तम आधान द्रव सम्पूर्ण रुधिर ही है। वहुत-से अन्य सहायक द्रव सुझाए अवश्य गए है लेकिन उनमे से कोई भी या तो व्याव-हारिक नही है या फिर हानिकारक है। पिछले कुछ वर्षो मे रक्त-वैको का प्रचलन हुआ है। ये सस्थाए वहुत ही उपयोगी और मूल्यवान् सिद्ध हुई है। दानकर्ताओ के रुधिर की कोशिकाओ से प्लाज्मा पृथक् करके अलग एकत्रित कर लिया जाता है। फिर यह प्लाज्मा ठंडा कर लिया जाता है या सुखा लिया जाता है। इस प्रकार इसका अधिक समय तक सुरक्षित रखा जाना सम्भव है। विशेप रूप से सुखाए हुए प्लाज्मा के कई लाभ है। यह आसानी से कही भी ले जाया जा सकता है। सग्रह करने के लिए भी इसे कम स्थान की आवश्यकता पडती है। व्यवहार मे लाने के लिए इसे सिर्फ आसवित जल की सही मात्रा मे घोलना पडता है। सुखाया या जमाया हुआ प्लाज्मा किसी भी व्यक्ति को सुरक्षापूर्वक दिया जा सकता है।

यह अन्तिम सुविधा वहुत ही महत्त्वपूर्ण है। सम्पूर्ण रुधिर हर व्यक्ति मे अलग-अलग प्रकार का होता है। यह प्रकार जातीय भेदो पर निर्भर नही है। यह देखा गया है कि लाल रुधिर-कोशिकाओ मे दो द्रव्य मिल सकते है। इन्हे हम A और B कह सकते है। इसी तरह प्लाज्मा मे भी दो और द्रव्य a और b हो सकते है। यदि A और a या B और b रुधिर मे एक साथ हो जाए, तो ये लाल कोशिकाओ को गुच्छित कर देते है। रुधिर के इस प्रकार गुच्छित होने से महत्त्व-पूर्ण क्षेत्रो को रुधिर पहुचानेवाली अत्यन्त वारीक वाहिनियो के अवरोधन से मृत्यु तक हो सकती है।

साधारणतया लाल कोशिकाओ मे पाये जाने वाले द्रव्यो के अनुसार किसी भी व्यक्ति का रुधिर इन प्रकारो मे से एक प्रकार का होता है—Ab, Ba, AB या O (O प्रकार मे न A द्रव्य होता है, न B)।

सम्पूर्ण रुधिर के आधान में पूर्ण सुरक्षा के दृष्टिकोण से यह आवश्यक है कि दिया जाने वाला रुधिर और पानेवाले का रुधिर एक ही प्रकार का हो। उसका सबसे अधिक विश्वसनीय ढंग यह है कि अलग से दोनो रुधिर मिलाकर सूक्ष्मदर्शी द्वारा देखे जाये और यदि उनमे गुच्छन नही होता हो, तो उन्हे उपयुक्त माना जाता है।

फिर भी कुछ मामलों मे देखा गया कि उपर्युक्त सभी सावधानियो के बावजूद रुधिर-आधान के बाद कुछ अप्रत्याशित प्रतिक्रियाए हुई। बाद के अध्ययन मे Rh तत्त्व का पता चला। यह एक ऐसा द्रव्य है, जो (A और B द्रव्यो के अलावा) लाल कोशिकाओ मे हो भी सकता है और नही भी। प्लाज्मा मे साधारणतया Rh तत्त्व जैसा कोई द्रव्य नही होता, जिसकी तुलना a या b द्रव्यो से की जा सके।

यदि Rh तत्त्व वाला (धनात्मक) रुधिर किसी ऐसे व्यक्ति को दिया जाता है, जिसके रुधिर मे कोई Rh (ऋणात्मक) तत्त्व नही है, तो उसका रुधिर प्रतिक्रिया करके एक ऐसा द्रव्य बनाता है, जो Rh तत्त्व से मिलकर लाल कोशिकाओ को गुच्छित कर देता है। साधारणतया एक धनात्मक Rh रुधिर-आधान से इतनी मात्रा मे यह द्रव्य नही बनता कि लाल कोशिकाओ को गुच्छित कर दे और उसके बुरे परिणाम निकले। लेकिन दूसरे या तीसरे आधान से गम्भीर परिणाम निकल सकते है।

गर्भावस्था मे यह Rh तत्त्व विशेष उलझने पैदा कर सकता है। यदि ऋणात्मक Rh तत्त्व वाली स्त्री धनात्मक Rh तत्त्व वाले पुरुष का गर्भ धारण करती है, तो गर्भ धनात्मक Rh का होगा, क्योकि धनात्मक Rh अवस्था आनुवंशिक रूप से प्रधान है। गर्भ के रुधिर मे Rh तत्त्व माता को उपर्युक्त तत्त्व विकसित करने के लिए प्रेरित करता है। इस प्रकार के पहले गर्भाधान का आमतौर पर कोई बुरा परिणाम नही होता, लेकिन यदि वही माता अन्य Rh धनात्मक गर्भ धारण करती है, तो यह द्रव्य (जो अब माता के रुधिर मे परिपुष्ट हो चुका होता है) गर्भ के रुधिर मे प्रवेश करके गर्भ की लाल कोशिकाओ को गुच्छित कर दे सकता है। श्याम शिशुओ (ब्लू बेबीज) के पैदा होने का कारण यही परिस्थिति है। ऐसी घटनाए वास्तव मे अधिक नही होती, क्योकि ससार मे ऋणात्मक व्यक्तियो की संख्या अधिक नही है और फिर मा के रुधिर का गर्भ के रुधिर मे चला जाना भी हमेशा नही होता। यदि गर्भ के रक्त मे कोशिका गुच्छित हो भी जाए, तो आजकल चिकित्सक प्रसव के तुरन्त बाद सही प्रकार का रुधिर आधान करके शिशु के दूषित रुधिर की स्थानपूर्ति कर देते है। इसलिए यदि परिस्थिति को समझ लिया जाए और सुरक्षा के सभी उपाय व्यवहार मे ले आए जाएं, तो भावी माता के रुधिर मे Rh तत्त्व का अभाव उसके गर्भ धारण करने मे कोई अवरोध नही डाल सकता।

इसलिए उन व्यक्तियो के रुधिर-प्रकार के पता रहने के लाभ प्रत्यक्ष है, जिन्हे

सम्पूर्ण रुधिर के आधान की आवश्यकता पडती हो। भावी माता-पिताओ के सम्बन्ध मे भी यही बात सही है। सौभाग्य से जिन व्यक्तियो को सिर्फ प्लाज्मा की आवश्यकता पड़ती है, उनके रुधिर-प्रकार का जानना आवश्यक नही है। सचित प्लाज्मा के a और b द्रव्य रुधिर मे A या B द्रव्य रखनेवाले व्यक्ति के अन्दर अवाछित प्रतिक्रियाए उत्पन्न नही करते। अनेकानेक लाभ होने के कारण सुखाया हुआ प्लाज्मा, युद्ध और शाति, दोनो मे ही सर्वाधिक उल्लेखनीय जीवन-रक्षक तत्त्वो मे एक माना गया है।

हृदय

हृदय वह पप है, जो रुधिर को परिवहन-तन्त्र की वाहिकाओ मे परिवहित करता है। यह वक्षीय गुहा के मध्य मे स्थित है और सयोजी ऊतक के दृढ खोल मे वद है, जिसे परिहृद् कहते है। आजीवन, दिन और रात, हृदय औसतन प्रति मिनट सत्तर वार धडकता है।

परिवहन का मार्ग—सपूर्ण परिवहन-तंत्र आकृति 7 मे दिखाया गया है। वे वाहिकाए, जो हृदय तक रुधिर ले जाती है, शिराए कहलाती है और जो वाहिकाए रुधिर को हृदय के वाहर ले जाती है, वे धमनिया। हृदय के मुख्य चार कक्ष है। ऊपर के दो अलिद कहलाते है और नीचे के निलय। वाये निलय से बाहर जानेवाली धमनी देह की सवसे वडी धमनी है, जो महाधमनी कहलाती है और फेफडो को छोडकर देह के सभी क्षेत्रो मे अपनी शाखाओ द्वारा रुधिर वितरित करती है। सभी ऊतको मे लघुतम धामनिक उपविभाग केशिकाओ मे बट जाते है और ये मिलकर शिराओ का निर्माण करती है। हृदय के नीचे की तमाम शिराए लघु महाशिरा मे और हृदय के ऊपर की उच्च महाशिरा मे विलय हो जाती है। ये दो वड़ी शिराए हृदय के दाये अलिद मे मिलती है। रुधिर-परिवहन का यह मार्ग, जो महाधमनी मे से प्रारम्भ होता है और महाशिरा मे समाप्त होता है, देहीय परिपथ कहलाता है। फुपफुस-परिपथ फेफडो को रुधिर देता है। इस परिपथ मे दाये निलय की फुप्फुस-धमनी, फेफडो की केशिकाए और फुप्फुस-शिराएं होती है, जो वाये अलिद को रुधिर ले जाती है। इस चार कक्षवाले हृदय के दाये और वाये पक्ष विलकुल अलग-अलग होते है। दाये भाग मे देहीय ऊतको से न्यून ऑक्सीजन की मात्रावाला रुधिर आता है और वाये मे फेफडो से ऑक्सीजन से परिपूर्ण।

हृदय की वनावट—हृदय चार कक्षवाला हाथ की मुट्ठी के बराबर एक पेशीय अग है। इसकी दीवारो का मुख्य ऊतक हृद्पेशी या कार्डियक पेशी है। जो एक-दूसरे से पूर्णरूप से जुडे हुए भागो का एक जाल है। कार्य और वनावट की दृष्टि से दोनो अलिदो की पेशी अनगिनत शाखाओवाली एक कोशिका है। निलयो की पेशी भी इसी प्रकार की एक और कोशिका है। पेशीय ऊतक सयोजी ऊतको द्वारा एक सूत्र मे वंधा हुआ है। अलिदो को भी निलयो से सयोजी ऊतक ही जोड़ते है।
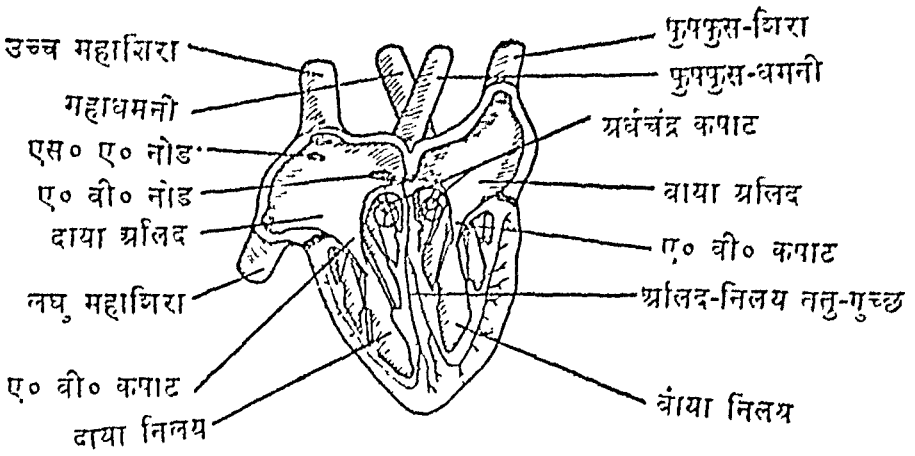
आकृति 10—हृदय की आतरिक सरचना का अर्ध आरेखीय चित्र

भित्तियों में रुधिर-वाहिकाए और तंत्रिका-तंतु होते है। इनके अलावा यहा एक प्रकार का चालक ऊतक भी होता है, जिसकी चर्चा हम बाद मे करेगे।

बाये निलय की भित्तिया दायें निलय की भित्तियो से अधिक मोटी होती है, जबकि अलिंदीय भित्तिया बाये निलय की भित्तियो से भी अधिक पतली होती है। भित्तियो का यह मोटापन हर कक्ष की रुधिर-दाब पैदा करने की शक्ति से सबंध रखता है। अलिन्दो का कार्य केवल अपने समीपवर्ती निलयो को रक्त देना भर है। दाये निलय को ज्यादा दूर स्थित फेफडो तक रक्त भेजना पडता है, जब कि बाये निलय पर समस्त देहीय परिपथ मे रक्त संचार करने का भार है।

अलिद और निलय के बीच एक कपाट होता है, जिसे अलिद-निलयीय कपाट या ए० वी० कपाट कहते है। ये कपाट इस प्रकार कार्य करते है कि रुधिर केवल अलिद से निलय की ओर ही जा पाता है, विपरीत दिशा मे नही। हर निलय और उससे निकलनेवाली धमनी के बीच एक एकमार्गी कपाट भी होता है (अर्धचन्द्र कपाट, क्योकि इसके द्वार आधे चन्द्रमा की तरह होते है), जो रुधिर को निलय से केवल धमनी की ओर ही जाने देता है। शिराओं और अलिदो के जोड़ पर कोई कपाट नही होते।

हृदय की क्रिया—कुचनशीलता की क्षमता हर प्रोटोप्लाज्म में निहित है, लेकिन पेशीय ऊतकों मे यह इस स्तर तक विकसित हो चुकी है कि यह उनका प्रमुख लक्षण हो गई है। हृद्पेशी का तालपूर्ण कुचन हृदय की धड़कन कहलाता है।

हृदय की धड़कन का उद्‌गम—यह बडे ही वाद-विवाद का विषय रहा है कि हृदय की धडकन हृद्पेशी मे अंतर्निहित है या वह उन तत्रिकाओ की तरंगो से आती है जो हृदय को तंत्रित करती है। यद्यपि इसका मूलभूत कारण अभी तक ज्ञात नही है, लेकिन प्रमाण यही मिलता है कि धडकन मूलत: एक पेशीय गुण है: भ्रूणीय हृद्पेशी तत्रिका-ऊतक के अभाव मे भी ताल के साथ धड़कती है।

युवा हृदय उस तक जानेवाली सभी तंत्रिकाओ के काट देने पर भी धड़कता रहता है।

यह सत्य है कि हृदय के हर क्षेत्र मे यह ताल समान नही होती। यदि मेढक के पृथक् किए हुए हृदय के अलिंद काटकर निलयो से अलग कर दिए जाए, तो अलिंद फिर भी धड़कते रहते है और वह भी निलयो की अपेक्षा अधिक तेजी से। यदि हृदय-अवरोध की अवस्था आ जाए, तो मनुष्य मे भी निलय अलिंद से अलग गति पर धडक सकते है।

कार्डियक चक्र—निकट से देखने से पता चलता है कि हृदय का हर भाग एक साथ नही धड़कता। वास्तव मे वहा कई घटनाओ का एक सुव्यवस्थित क्रम चलता है, जिसे कार्डियक चक्र कहते है और जो बारम्बार दुहराया जाता है। यह चक्र दाये अलिंद के प्रकुचन से प्रारम्भ होता है, जिसके तुरन्त बाद बाये अलिंद का कुचन होता है। थोडे-से विराम के बाद दोनो निलय प्रकुचित हो जाते है। हर कक्ष के प्रकुचन के बाद उनके फैलने या शिथिलन का अवसर आता है और फिर थोडा-सा विराम। हृदय की धडकन उपर्युक्त विशेष चालक ऊतक मे प्रारम्भ होती है। यह ऊतक, नोड-ऊतक (आकृति 10) के अनुसार वितरित है। बाये अलिद मे इसका सचय होता है, जिसे साइनो-औरिकुलर या एस० ए० नोड कहते है। यह नोड हृदय का सबसे अधिक उत्तेजक भाग है और बाकी हृदय के लिए वेगोत्पादक का कार्य करता है। यहा पर हृदय की धडकन जन्म लेती है और इससे उत्पन्न उत्तेजना सारे अलिदो मे प्रसारित कर दी जाती है (स्वय अलिन्दीय पेशी द्वारा)। दाये अलिंद के बाये अलिंद से पहले कुचित होने का यही कारण है।

अलिंदीय और निलयी पेशिया निरतर नही है, इसलिए यह उत्तेजना एक अलिंद से दूसरे अलिद मे रुधिर नही पहुंचा सकती। एस० ए० नोड द्वारा उत्पादित उत्तेजना-तरग अलिद और निलय के बीच सधि के नोड ऊतक को, जिसे अलिंद-निलय नोड या ए० वी० नोड कहते है, उत्तेजित करती है। इससे एक अलिंद-निलय तन्तु-गुच्छ निलयी पेशियो तक आता है और अपनी शाखाए सभी निलयी भित्तियो की ओर भेजता है। ए० वी० नोड और गुच्छ द्वारा उत्तेजना की दशा निलयो तक प्रसारित कर दी जाती है, जो तुरन्त ही प्रकुचित हो जाते है।

जब सचालन-तन्त्र ठीक कार्य कर रहा होता है, तो कार्डियक चक्र अपने स्वाभाविक ढग से चलता जाता है। कभी-कभी अलिंद और निलय के बीच का संचालन-तन्त्र अवरुद्ध हो जाता है—या तो यान्त्रिक कारणो से या अपनी कायिकी अवस्था मे कोई परिवर्तन आने से—और हृदय-अवरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। यदि यह अवरोध अपूर्ण है, तो वेगोत्पादक का उत्तेजक प्रभाव कभी निलयो तक पहुच जाता है और कभी नही। इस प्रकार इन विरामो मे (जो नियमित रूप से भी हो सकते है) निलय एक धडकन धडकना छोड जा सकते है।

लेकिन पूर्ण अवरोध की स्थिति मे एक भी उत्तेजना-तरंग नोड-ऊतकों से होकर निलयो तक नही पहुच सकती। इसका अर्थ यह नही कि निलयीय धड़कन पूरी तरह बंद हो जाए (जिससे तुरन्त मृत्यु तो सकती है)। ऐसी हालत मे निलय का एक भाग वेगोत्पादक का कार्य करने लगेगा और निलय का कुंचन प्रारम्भ कर देगा। निलय की यह धड़कन अलिंद की धड़कन से धीमी होती है। हृदय-अवरोध की दशा में ऊतको को रुधिर उस नियमितता से नही दिया जाता, जो साधारणतया रुधिर-संचालन मे होती है और इस अनियमितता का कारण है अलिंदीय तथा निलयी कुचन की असंबद्धता। इसलिए विशेषकर जोर पड़ने की अवस्था मे जीव कुछ असुविधा की स्थिति मे रहता है।

दाब-परिवर्तन और कपाटों की क्रिया—अलिन्दो तथा निलयो के रुधिर से भरने, कुंचित होने तथा शिथिलन के साथ-साथ उनके भीतर दाब-परिवर्तन होता है, जो कपाटो का नियन्त्रण करता है और इस प्रकार हृदय मे से जानेवाले रुधिर के प्रवाह की दिशा निश्चित करता है। अलिन्दीय शिथिलन के समय शिरा-रुधिर दोनो अलिन्दो मे बह आता है और जैसे-जैसे वे रक्त से भरते जाते है, उनमे दाब बढ़ने लगता है। जब यह अन्तर-अलिन्दीय दाब निलय के दाब से बढ़ जाता है, तो ए० वी० कपाट खुल जाते हैं और रुधिर निलयो को भरने लगता है। अलिन्दीय कुचन फिर अलिन्दो का शेष रुधिर निलयो मे भरने लगता है। निलय अब भरे हुए होते हैं और कुंचित होना शुरू करते है। वे जैसे ही कुंचित होने लगते है, उनके अन्दर का दाब शीघ्रता से बढता है। जैसे ही यह दाब अन्तर-अलिन्दीय दाब से बढ जाता है, वह ए० वी० कपाटो को बन्द कर देता है और रुधिर का अलिन्दो मे वापस आना रोक देता है। और भी अधिक बढ़ता हुआ अन्तर-निलयीय दाब निलयों से निकलनेवाली धमनियो मे के दाब से बढ़ जाता है। यह अर्धचन्द्र कपाटों को खोल देता है और रुधिर धमनियो में धकेल दिया जाता है। आकस्मिक रुधिर का आगमन धामनिक दाब बढ़ा देता है और अन्तर-निलयीय दाब घटा देता है। जब अन्तर-निलयीय दाब धामनिक दाब के नीचे गिर जाता है, तो अर्धचन्द्र कपाट झट से बन्द हो जाते है और जैसे-जैसे अन्तर-निलयीय दाब गिरता जाता है तथा अन्तर-अलिन्दीय दाब बढ़ता जाता है, त्यो-त्यों एक स्थिति ऐसी आ जाती है कि अन्तर-अलिन्दीय दाब शीघ्र ही अन्तर-निलयीय दाब से बढ जाता है और ए०वी० कपाट फिर से खुल जाते है। इस प्रकार यह चक्र बार-बार दुहराया जाने लगता है।

इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम—कार्डियक पेशी की क्रिया के साथ-साथ विद्युतीय परिवर्तन भी होते हैं (हृदय की धड़कन का आरम्भ अंशत. इन्ही से होता है)। ये इतने शक्तिशाली होते है कि देह की सतह तक पहुंच सकते है, वहां किसी संवेदनशील विद्युतीय यंत्र द्वारा उनकी उपस्थिति दर्शाई जा सकती है। यह यंत्र इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफ़ कहलाता है और इसके द्वारा अंकित रेकार्ड इलेक्ट्रोकार्डियो-ग्राम कहलाते है। इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम चिकित्सकों और जीव-विशेषज्ञो के लिए

अत्यन्त लाभप्रद है। चिकित्सक कार्डियोग्राम देखकर यह जान लेता है कि विद्युतीय तरगो मे कुछ प्रकार के अभाव हृदय के कार्य मे गडबड होने का सकेत है और जीव-विशेषज्ञ के प्रयोग के लिए यह बडा मूल्यवान् है। उदाहरण के लिए कुत्ते के हृदय के ए० वी० गुच्छ को चोट पहुचाई जा सकती है और चोट को इलेक्ट्रोकार्डियोग्राम पर दर्शाया जा सकता है।

हृदय की ध्वनियां—हर कार्डियक चक्र के दौरान हृदय से दो ध्वनिया उत्पन्न होती है। पहली ध्वनि दूसरी की अपेक्षा देर तक रहनेवाली और दबी-सी हल्की ध्वनि होती है। दूसरी ध्वनि अर्धचन्द्र कपाटो के एकाएक बन्द होने से उत्पन्न होती है। पहली ध्वनि शायद ए०वी० कपाटों के बन्द होने के शोर और निलयीय पेशियो की बड़ी राशि के कुचन से होती है (कोई भी पेशी अपने कुचन के समय ध्वनि उत्पन्न कर सकती है)।

आप इन ध्वनियो को किसीके वक्ष के हृदय-क्षेत्र पर कान रखकर या स्टेथस्कोप द्वारा आसानी से सुन सकते है। मुह से 'लव्व-डव' का उच्चारण, करके और दूसरे स्वर पर अधिक जोर देकर इन ध्वनियो के समान ध्वनि पैदा की जा सकती है। हृदय के कपाटो की पहुची हुई क्षति या चोट इन ध्वनियो मे परिवर्तन ला सकती है। उदाहरण के लिए यदि अर्धचन्द्र कपाट ठीक से बन्द नहीं होते है तो रुधिर धमनियो से सीत्कार की ध्वनि करता हुआ निलयों मे वापस चला जाता है। यह ध्वनि अब 'लव्व-डव' से बदलकर 'लव्व श्' हो जाती है। हृदय की यह अवस्था हृदय की बडबडाहट कहलाती है।

हृदय की धडकन के बल का नियमन—व्याप्त परिस्थिति मे हृदय अधिक से अधिक सभव जोर के साथ प्रकुचित होता है, लेकिन कुचन की शक्ति परिस्थिति के साथ बदलती जाएगी। रुधिर मे प्रवाहित होनेवाले कुछेक रासायनिक तत्त्वो के प्रभाव-स्वरूप हृदय की धड़कन अधिक (या कम) जोर की हो सकती है। फिर चूकि पेशी लचीली होती है और लचीला पिंड अपने लचीलेपन की सीमा तक खीचा जाने पर अधिक बल के साथ प्रकुचित होता है, इसलिए हृदय को भरनेवाले रुधिर की मात्रा धडकन के बल को निश्चित करने मे महत्त्वपूर्ण है। हृदय मे जब भी शिरा के रुधिर की वापसी बढ जाती है, तो धडकन अधिक शक्तिशाली हो जाती है और अधिक रुधिर हृदय के बाहर भेजा जाने लगता है।

विश्रामपूर्ण अवस्था मे निलय का हर कुचन लगभग चौथाई गिलास पानी के बराबर आयतन के रुधिर का निष्कासन करता है। कठिन श्रम के समय यह निष्कासन तिगुना तक हो सकता है।

हृदय की गति का नियमन—विश्राम की अवस्था मे वयस्को के हृदय की औसत गति लगभग 70 प्रति-मिनट रहती है (बालको मे यह कुछ अधिक तेज होती है)। लेकिन कठिन श्रम के समय यह बढकर 200 प्रति-मिनट तक जा सकती है, या अन्य परिस्थितियो मे यह गिरकर लगभग 60 पर भी ५

सकती है। जो यत्र-प्रक्रम हृदय की सामान्य गति को कायम रखते है, या उसमे अतर आने देते है, उन्हे तीन वर्गो मे विभक्त किया जा सकता है : तत्रिकायिक, रासायनिक और ऊष्मीय।

तंत्रिकायिक नियंत्रण—यद्यपि हृदय की धडकन स्वत.चालित है, तथापि उसपर तंत्रिकायिक आवेगो द्वारा गहरा प्रभाव डाला जा सकता है। तत्रिकायिक नियत्रण के बिना परिवर्तनशील देहीय परिस्थितियो के अनुसार इसकी अनुकूलित होने की क्षमता अधिकाशतया समाप्त हो जाएगी।

हृदय की गति को प्रत्यक्षत: नियत्रित करनेवाली तंत्रिकाओ के दो जोड़े है—दो 'वागी' तत्रिकाए तथा दो 'त्वरक' तत्रिकाए। प्रथमोक्त मस्तिष्क के पृष्ठभाग के एक क्षेत्र मेड्यूला या अतस्था से निकलती है और हृदय सहित वक्षीय तथा उदरीय गुहाओं के विभिन्न अगो को अपनी शाखाए भेजती हैं। त्वरक तत्रिकाएं रीढ-रज्जु के वक्षीय भाग से निकलती है और अन्तत. हृद्-पेशी मे विलीन हो जाती है। मनुष्य या प्रयोगातर्गत जतु मे त्वरक तत्रिकाओ की विद्युतीय उत्तेजना हृदय की गति को वढा देती है। लेकिन वागी तत्रिकाओ की उत्तेजना हृदय की गति को धीमा कर देती है और यदि उत्तेजना काफी शक्तिशाली है और काफी तत्रिका-आवेग हृदीय पेशी तक पहुचते है, तो थोड़ी देर के लिए हृदय की गति पूरी तरह से रुक भी सकती है।

हमारे पास इस वात के प्रमाण है कि ये दोनो ही तत्रिका-समूह हृदय पर लगातार प्रभाव डालते है। यदि वागी तत्रिकाए काट दी जाए और त्वरक तत्रिकाए सुरक्षित वनी रहें, तो हृदय की गति वढ जाती है और वढी ही रहती है। इससे यह पता चलता है कि आवेग लगातार वागी से अन्तस्था मे आ रहे है और हृदय की गति को धीमा करने का प्रयास कर रहे है। ऐसे अवरोधक आवेगो के अभाव मे हृदय अपनी 'रोक' लगाने की क्रिया से मुक्त हो जाता है और उसकी गति वढ जाती हैं। जव त्वरक तत्रिकाए काट दी जाती है, तो इसके विलकुल विपरीत होता हैं।

इस तंत्रिकायिक क्रिया के कारण हृदय को दो प्रकार से त्वरित किया जा सकता है—वागीय आवेगों की सख्या मे कमी करके, या त्वरक आवेगो मे वृद्धि करके—और दो ही प्रकार से धीमा भी किया जा सकता हैं। इन तन्त्रिकाओ की क्रिया द्वारा हृदय की गति साधारण और आकस्मिक कार्यों के लिए तेजी के साथ और वडी अच्छी तरह अनुकूलित की जा सकती है। त्वरक और अवरोधक तन्त्रिका-आवेगो का यह क्रमिक कार्य हृदय की गति को हर अवसर के लिए पूरी मितव्ययिता और निपुणता के साथ नियमित करने लगता है। वागीय और त्वरक आवेग एक-दूसरे को पूर्णत संतुलित नही कर देते, इनमे वागीय आवेगों का प्रभाव अधिक होता हे। यह एक दृष्टि से स्वाभाविक ही है, क्योकि शरीर की हर क्रिया हृदय की गति को वढानेवाली होती है।

मस्तिष्क के उच्चतर स्तरो से उद्भूत तन्त्रिका-आवेग भी हृदय की गति के

नियमन मे महत्त्वपूर्ण है। इससे विदित होता है कि केद्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के भीतर प्रवाहित होनेवाले तन्त्रिका-आवेग भी अतर्गामी आवेगो जितने ही महत्त्वपूर्ण है। उनके प्रभाव के सबसे प्रकट उदाहरण भावातिरेक की अवस्थाओ द्वारा हृदय-गतियो मे आए परिवर्तनो मे देखे जा सकते है। हममे से अधिकतर लोग क्रोध, उत्तेजना और आशका के कारण उत्पन्न हुए हृदय के तीव्रतर वेग या अत्यधिक भय से उत्पन्न धीमी हृदय-गति से परिचित है। निश्चय ही बहुत-सी युक्तिसगत मानसिक क्रियाए भी किसी सीमा तक हृदय की गति मे परिवर्तन ला सकती है।

रासायनिक नियंत्रण—रुधिर मे कार्बन डाई-ऑक्साइड की वृद्धि से हृदय की गति बढ़ सकती है, लेकिन ऐसा हृदीय पेशी पर सीधी क्रिया द्वारा नही होता। वस्तुत. रुधिर मे इसकी वर्द्धित मात्रा अतस्था मे कार्डियो-त्वरक केन्द्र पर कार्य करती है। केन्द्र की सक्रियता से त्वरक तन्त्रिकाओ मे आवेगो के रेले पैदा हो जाते है, जिससे हृदय की गति बढ जाती है। कार्बन डाई-ऑक्साइड की मात्रा मे कमी इसके विपरीत प्रभाव डालती है। घटे या बढे उपापचयी अम्लीय उत्पादन के कारण रुधिर की अम्लता मे हुए परिवर्तन भी हृदय पर इसी प्रकार प्रभाव डालते है। यह क्रिया भी उसी प्रकार और उसी यत्र-प्रक्रम द्वारा होती है, जिसके द्वारा कार्बन डाई-ऑक्साइड हृदय की गति बढाती है।

अत'स्रावी ग्रथियो के कुछ हारमोन, खास तौर से अधिवृक्क और थायरॉयड ग्रथियो के हारमोन, भी हृदय की गति पर प्रभाव डालते है। हम उनके कार्यो की चर्चा दसवे अध्याय मे करेगे।

ऊष्मीय नियंत्रण—हमारे आसपास की वायु के ताप का हृदय की गति पर कोई प्रभाव नही पडता या बहुत ही नगण्य प्रभाव होता है। लेकिन रुधिर का ताप कुछ अश तक हृदय की गति पर प्रभाव डालता है। जब देह का ताप 104° फारनहाइट तक चढ जाता है (सामान्य ताप 98 6° है,) तो हृदय की गति थोडी बढ जाती है। खैर, यह बात देर तक रहने वाले बुखार की दशा मे ही महत्त्वपूर्ण होती है, स्वस्थ अवस्था मे उच्च ताप की अल्पकालिक अवधियो मे (जैसे कठोर श्रम की अवस्था मे) नही।

कार्डियाई उत्पादन—हृदय का प्रति-मिनट उत्पादन 'मिनट-आयतन' कहलाता है। हृदय की क्रिया का समस्त नियमन मिनट-आयतन को वर्तमान परिस्थिति मे उपयुक्त बनाने के लिए होता है। इस बात का निर्धारण, कि एक निश्चित काल-अवधि मे ऊतको को कितना रुधिर जाता है, हृदय के उत्पादन से होता है।

अधिकाश परिस्थितियो मे, उत्पादन मे कोई परिवर्तन वृद्धि की ओर ही होता है। यह स्पष्ट है कि हम प्रति-मिनट उत्पादन को या तो प्रति धडकन के उत्पादन को बढाकर (धडकन की शक्ति बढाकर), या धडकन की गति को बढाकर, या दोनो का ही मिश्रण करके बढा सकते है। इस प्रकार हृदय की धड़कन

के बल और हृदय की गति का नियमन ऊतको की आवश्यकता की तुष्टि के लिए समुचित मात्रा मे रुधिर पम्प करने की ओर ही निर्दिष्ट रहता है।

रुधिर-वाहिकाए

हृदय की सक्रियता, रक्त-दाब और रुधिर-प्रवाह को नियत्रित करनेवाले सभी यत्र-प्रक्रमो का लक्ष्य केशिकाओ में समुचित मात्रा मे रुधिर पहुंचाना है, जहा गैसो, पोपको और अनुपयोगी तत्त्वो का महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान होता है।

वाहिकाओं की सरचना—धमनिया और शिराए इसी आदान-प्रदान के आधार पर बनी होती है। दोनो की भित्तियो मे तीन परते होती है। सबसे भीतरी एपीथीलियम कोशिकाओ की एक इकहरी चिकनी परत होती है, जो सयोजी ऊतक पर आधारित रहती है। यह चिकनापन रुधिर-प्रवाह के दौरान भित्तियो के साथ होनेवाले घर्पण को कम कर देता है। बीच की परत अधिक बडी होती है और शिरा और धमनी मे विभेद करती है। दोनो ही वाहिकाओं मे सयोजी ऊतक से जुडी चिकनी पेशी रहती है, लेकिन बडी धमनियो मे अनेक लचीले या प्रत्यास्थ ततु भी होते है, जो इन वाहिकाओ को इनकी लाक्षणिक लचक प्रदान करते है। सबसे बाहरी परत सख्त सयोजी ऊतक की बनी होती है, जिसमे चिकनी पेशी को जानेवाले कुछ लचीले ततु और तंत्रिका-ततु भी पाए जा सकते है।

धमनियो और शिराओ के छोटे विभाग क्रमश. 'धमनिका', 'तनु-शिरा' या 'शिरिका' कहलाते है। धमनिकाए धमनियो से आकार मे और इस बात मे भिन्न होती है कि बीच की परत मे चिकनी पेशी मे लचीले ततु का अनुपात अधिक होता है। तनु-शिराए शिराओ का ही छोटा रूप होती है।

लघुतम वाहिकाए केशिकाए कहलाती है, जिनकी भित्तिया केवल एकपरती होती है और एपीथीलियम की बनी होती है। ये सूक्ष्म वाहिकाएं कोरी आख से नही देखी जा सकती, क्योकि उनका व्यास लाल कोशिका से कुछ ही अधिक होता है और उनकी लम्बाई औसतन एक इच का लगभग पच्चीसवा भाग होती है।

धामनिक रुधिर-दाब—रुधिर जब हृदय से बाहर निकलता है, तो उसमे काफी दाब होता है। फिर भी निलयीय प्रकुचन द्वारा रुधिर को प्रदत्त समस्त ऊर्जा रुधिर का प्रवाह बढाने के काम नही आती। इस ऊर्जा का कुछ अश बडी धमनियो की लचीली दीवारो के फुलाने के कार्य मे व्यय हो जाता है। इसके बाद धामनिक भित्तियो के पुन कुचन की तरग हृदय को वाहिकाओ मे से रुधिर परिवहित करने मे सहायता देती है। इस पुन कुचन की तरग से ही नाडी-तरग की उत्पत्ति होती है, जो किसी भी धमनी मे अनुभव की जा सकती है (अर्थात् देह की सतह के निकट की धमनियो मे)। यदि धमनिया लचीली नालिया न होकर कठोर होती, तो हर निलयीय प्रकुचन के साथ उनमे दाब एकदम से बढता

और हर कुचन के साथ एकदम गिरता। इन परिस्थितियों में रक्त-प्रवाह अविरल न होकर (जैसा कि यह वास्तव मे है) रुक-रुक करके होता। इस प्रकार धामनिक दाव और रुधिर-प्रवाह को निरन्तर कायम रखने का अधिकाश श्रेय धामनिक भित्तियो के लचीलेपन को ही है।

दाब-प्रवणता—धमनियो से धमनिकाओ, केशिकाओ और शिराओ मे रुधिर-दाव मे क्रमिक कमी होती जाती है। एक स्थान से दूसरे स्थान के बीच यह अतर दाव-प्रवणता कहलाता है, जिसके विना प्रवाह हो ही नही सकता; अर्थात्, यदि रुधिर-दाव सभी स्थानो पर एक-सा होता तो एक स्थान से दूसरे स्थान मे रुधिर-प्रवाह नही हो पाता। यदि हृदय से निकलने और उसीमे लौटनेवाली केवल एक ही वाहिका होती और उसका व्यास सभी जगह एक-सा ही होता, तो वाहिका मे दाव धीरे-धीरे गिरता और यह पतन हृदय से उस स्थान की दूरी के अनुपात मे होता। दाव मे यह पतन वाहिकाओ की दीवारो से द्रव के घर्षण के समय उत्पन्न हुए अवरोध के कारण होता है। हृदय से निकलनेवाली धमनिया शीघ्र ही कई शाखाओ मे विभक्त हो जाती है, जिनमे से प्रत्येक धमनी कई-कई धमनिकाओ मे वट जाती है, जो स्वय कई केशिकाओ मे विभक्त हो जाती है। इस तमाम विभाजन का कुल नतीजा घर्षण-अवरोध प्रदान करनेवाली भित्तियो के अवकाश को वढाना है और उन भागो मे, जहा अनेक शाखाए उत्पन्न होती है, आकस्मिक दाव-पतन पैदा करना है। हृदय से रुधिर के आगे वढने के साथ-साथ वडी धमनियो मे दाव धीरे-धीरे ही गिरता है, लेकिन धमनिका-क्षेत्र मे दाव-पतन आकस्मिक और वडे अनुपात मे होता है और केशिका-क्षेत्र मे यह पतन और भी अधिक हो जाता है। रुधिर जिस समय शिराओ मे पहुचता है, तब उसमे लगभग कोई दाव नही होता।

तकनीकी शब्दों की परिभाषा—हृदय की हर धडकन के साथ धामनिक रुधिर-दाव घटता-बढता है। रुधिर के निलय से धमनी मे निष्कासन के साथ रुधिर-दाब एकाएक बढ जाता है। दाब का शिखर-विंदु प्रकुचन-दाव कहलाता है, क्योकि यह निलयीय प्रकुचन या कुचन के कारण उत्पन्न होता है। निलय के विश्राम या अनुशिथिलन की अवस्था मे धमनी मे दाव कम हो जाता है, लेकिन धामनिक भित्तियो के पुन कुचन द्वारा वह अव भी काफी ऊचे स्तर पर कायम रखा जाता है। इस स्तर पर उसे अनुशिथिलन-दाव कहते है। अनुशिथिलन-दाव और प्रकुचन-दाब के वीच का अतर नाडी-दाब कहलाता है, जब कि उनका औसत माध्य धामनिक दाव होता है।

धामनिक रुधिर-दाब का माप—बाह पर कुहनी के ऊपर रवर की एक थैली लपेट दी जाती है और उसे हवा से फुला दिया जाता है। यह थैली एक दाव-युक्ति से जुडी होती है, जो दाब की ऊचाई दर्शाती है। दाब मापनेवाला व्यक्ति स्टेथस्कोप के चौगे को कुहनी के अन्दर की तरफ रख देता है। यहा पर त्वचा के विलकुल नीचे ही एक धमनी जाती है। रवर की थैली का दाव फिर

इतना बढाया जाता है कि वह धमनी को वन्द करके रुधिर का आगे प्रवाहित होना रोक देता है। अब इस जगह कोई ध्वनि नही सुनी जा सकती। इसके बाद थैली मे दाब धीरे-धीरे कम कर दिया जाता है और धमनी के छेद को बस इतना खुलने दिया जाता है कि हृदय की हर धडकन के साथ रुधिर की एक प्रवार उससे गुजर सकती है। इस समय एक हलकी-सी 'खुटखुट' की आवाज सुनी जा सकती है। इस स्तर पर अंकित दाब प्रकुचन-दाब होता है। रवर की थैली मे दाब जैसे-जैसे कम किया जाता है, 'खुटखुट' की आवाज वदलकर धीमी होती जाती है। सारा दाब निकल जाने पर जैसे ही रुधिर धमनी मे फिर से वहने दिया जाता है, धमनी की आवाज बिलकुल वन्द हो जाती है। इस क्षण पर, जब ध्वनि वन्द ही होती है, यह युक्ति अनुशिथिलन-दाब अंकित करती है।

इस ढग से मापा गया दाब (उसे प्रतिसंतुलित करने के लिए आवश्यक पारे की ऊचाई के मिलिमीटरो मे मापा जाता है—एक मिलीमीटर एक इंच के लगभग पच्चीसवे भाग के बराबर होता है) यह इंगित करता है कि एक तरुण वयस्क व्यक्ति मे औसत प्रकुचन-दाब लगभग 120 मि० मी० और अनुशिथिलन-दाब लगभग 80 मि० मी० होता है। रुधिर-दाब या शरीर मे कोई भी दाब वायुमडल के दाब (760 मि० मी०) को 'शून्य' विन्दु मानकर मापा जाता है। धामनिक दाब वायुमंडलीय दाब से ऊचा होता है। इसका प्रमाण यह है कि कटी हुई धमनी से तुरन्त ही रुधिर वाहर आने लगता है। यदि यह दाब वायु-मंडल के दाब से कम होता, तो ऐसा होना सभव नही था।

धामनिक दाब का नियमन—**सामान्य रुधिर-दाब बनाए रखनेवाले कारक**—पाच वातों का मेल सामान्य रुधिर-दाब बनाए रखने मे सहायक होता है।

हृदय की पंप करने की क्रिया—हृदय किसी भी निश्चित अवधि मे धमनी मे जानेवाले रुधिर की मात्रा को नियन्त्रित करता है। यदि दूसरे कारक अचर रहें, तो हृदय के उत्पादन मे वृद्धि धामनिक दाब मे वृद्धि कर देगी—चाहे वह किसी भी कारण से क्यो न उत्पन्न हुई हो और इसी प्रकार हृदय के उत्पादन मे कमी उसे कम कर देगी।

रुधिर-आयतन—किन्ही वन्द नलियो के तत्र मे दाब उत्पन्न करने के लिए उन्हे पूरी धारिता तक भरना आवश्यक है। साधारणतया धमनिया इसी प्रकार भरी रहती है। लेकिन उनके लचीलेपन के कारण उनमे अधिक रुधिर का प्रवेश कराया जा सकता है; परिवहनशील तरल के आयतन मे वृद्धि उन्हें फैला देगी और वढा हुआ दाब उत्पन्न कर देगी। तरल का निष्कासन दाब कम कर देता है। यह, जैसा कि हम पहले कह चुके है, पहला अभाव है, जो रुधिर-स्राव के वाद उत्पन्न होता है। हालाकि जीव न्यून हुआ रुधिर-दाब अधिक समय तक नही सह सकता, फिर भी वह दाब मे वड़ी गिरावट सह सकता है। प्रयोग के लिए रखे जतु मे तो धामनिक दाब रुधिर के निष्कासन द्वारा एक-तिहाई तक कम कर दिया जा सकता है और फिर बस वही निष्कासित रुधिर वापस डालकर सामान्य

स्तर पर लाया जा सकता है।

ऐसे अवसरो पर, जब अधिक रुधिर-आयतन की आवश्यकता होती है, तो प्लीहा इस कार्य में प्राय सहायता देती है। रुधिर-स्राव, कठिन श्रम या भावात्मक परिस्थितियो मे प्लीहा की दीवारो की चिकनी पेशी कुचित होती है और प्लीहा मे सचित रुधिर परिवहनशील रुधिर मे धकेल दिया जाता है।

धामनिक दीवारों का लचीलापन—यह अनुशिथिलनीय दाव को उत्पन्न करता और बनाए रखता है। अनुशिथिलनीय दाब निलयीय प्रकुचन द्वारा एकाएक रुधिर फेंके जाने और उससे धामनिक भित्तियों के खिचने के बाद उनके सिकुड़ने की क्रिया से उत्पन्न होता है। अनुशिथिलन दाब प्रकुचन-दाव से अधिक सतुलित होता है, अर्थात् इसपर प्रकुचन-दाब की तरह रुधिर-दाब बनाए रखनेवाले कारकों के परिवर्तन से अधिक प्रभाव नही पडता।

रुधिर का गाढापन या श्यानता—रुधिर पानी से करीब पाच गुना अधिक श्यान (गाढा) होता है। कोई तरल जितना ही श्यान होता है, उसके प्रवाहित होने मे उतनी ही वाधा होती है और उसे पतली नलियो मे भेजने के लिए उतना ही अधिक दाब चाहिए। यदि रुधिर की श्यानता कम हो जाती है, तो उसके प्रवाह का अवरोध भी कम हो जाता है और रुधिर-दाव गिर जाता है, इसी प्रकार श्यानता वढने पर रुधिर-दाब भी बढ जाता हैं।

परिधीय अवरोध—धमनिकाए धमनियो से अधिक पतली होती है और उनकी अपेक्षा किसी निश्चित अवधि मे अधिक रुधिर प्रसारित नही कर सकती। इसलिए धमनी से धमनिका मे रुधिर के जाते समय रुधिर-अवरोध होता है और इसी कारण कुछ कम सीमा तक धमनिका से केशिकाओ के बीच रुधिर-प्रवाह की भी यही स्थिति रहती है। यही परिधीय अवरोध है। यदि धामनिक अर्धव्यासो को कम कर दिया जाए, तो अवरोध बढ जाता है और रुधिर-दाव भी उसी अनुपात मे चढ जाता है।

तंत्रिकायिक नियंत्रण—रुधिर-दाव मे हृदय की गति को नियन्त्रित करनेवाले तन्त्रिकायिक प्रक्रमो और रुधिर-वाहिकाओ के छिद्रो (खास तौर से धमनिकाओ) के द्वारा आकस्मिक और तीव्र समजन किए जा सकते है।

धामनिक भित्तियो की चिकनी पेशी तन्त्रिका-आवेगो द्वारा सिकोडी या कुंचित की जा सकती हैं। हृदय के समान ही इन पेशियो को भी तन्त्रिकाओ के दो जोडे जाते है। ये तन्त्रिकाए केंद्रीय तन्त्रिका-तन्त्र से उत्पन्न होती है। ये तन्त्रिकाए, जो रुधिर-वाहिकाओ के प्रसार और कुचन को सचालित करती है, वेसोमोटर या वाहिका-प्रेरक तन्त्रिकाए कहलाती है। इनमे से एक समूह की वेसोकास्ट्रिक्टर या वाहिकासकोचक तन्त्रिकाओ के उत्तेजन से पेशियो का और वाहिकाओ के छिद्रो का कुचन होता है, दूसरे समूह की वेसोडायलेटर या वाहिका-विस्फारक तन्त्रिकाओ के उत्तेजन से पेशियो का शिथिलन होता हे और वाहिका-छिद्रो का फैलाव बढ़ता है। यदि वहुत सारी धमनिकाए कुचित हो जाती है,

तो परिधीय अवरोध बढ जाता है तथा रुधिर-दाब ऊंचा हो जाता है और कई धमनिकाओं के फैल जाने पर रुधिर-दाब न्यून हो जाता है।

परिधीय अवरोध मे अधिकांश परिवर्तन उदरीय क्षेत्र मे होते हैं, जिसके अग अत्यधिक वाहिकी (बहुत-सी रुधिर वाहिकाओं वाले) होते हैं। तंत्रिका-आवेग अविरल गति से वाहिका-संकोचक तंत्रिकाओं द्वारा, और कुछ सीमा तक वाहिका-विस्फारक तन्त्रिकाओ द्वारा भी इस क्षेत्र की धमनिकाओ को आते रहते हैं। फिर भी वाहिका-संकोचक प्रभाव इसमे प्रधान है। वाहिका-संकोचक और वाहिका-विस्फारक केन्द्रो मे ये आवेग हृदय को जानेवाले वागी और त्वरक तन्त्रिकाओं-जैसे आवेगो की तरह ही उठते है। ये केन्द्र मस्तिष्क की अतस्था में स्थित है और सभी अभिवाही तन्त्रिकाओ से कार्डियक केन्द्रो की भाति ही प्रभावित होते हैं।

ऐसे वाहिका-प्रेरक प्रतिवर्त भी है, जिनके कारण खासकर रुधिर-दाब का समंजन होता है।

ये प्रतिवर्त इस प्रकार कार्य करते है कि रुधिर-दाब बदलती परिस्थितियों मे शरीर की आवश्यकतानुसार कम या ज्यादा हो जाता है, फिर भी यह सामान्य स्तर के निकट ही बना रहता है। इस प्रकार रुधिर-दाब मे न्यूनता आने पर ये प्रक्रम स्वत क्रियाशील हो जाते है, जो रुधिर-दाब को फिर से बढा दे, जबकि बढा हुआ रुधिर-दाब इसके विपरीत प्रतिवर्त को क्रियाशील कर देता है, जो रुधिर-दाब को नीचे की ओर ले जाते है।

रासायनिक नियन्त्रण—रुधिर के कार्बन डाई-ऑक्साइड या अम्ल-परिमाण मे वृद्धि सीधे-सीधे वाहिका-सकोचक केन्द्र पर क्रिया करती है, जिससे सासान्य वाहिका-कुचन उत्पन्न हो जाता है और रुधिर-दाब बढ जाता है। तथापि ऊतकीय उपापचयन द्वारा स्थानीय रूप से मुक्त की हुई कार्बन डाई-ऑक्साइड जिन धमनि-काओ के सम्पर्क मे आती है, वह उनकी दीवारो की चिकनी पेशी को शिथिलित करके उनको फैला देती है। रुधिर मे ऑक्सीजन-परिमाण की उल्लेखनीय कमी भी वही परिणाम उत्पन्न कर सकती है, जो कार्बन डाई-ऑक्साइड की अधिकता से उत्पन्न होते है लेकिन इनमे अन्तोक्त स्थिति ही अधिक देखने मे आती है और यही अधिक शक्तिशाली कारक भी है।

धामनिक रुधिर-दाब मे वैभिन्न्य—जैसा कि हम देख चुके है, वयस्को का सामान्य रुधिर-दाब औसतन 120 मि० मी० प्रकुचन के समय और 80 मि०-मी० अनुशिथिलन के समय होता है। प्रकुचन-दाब अनुशिथिलन-दाब की अपेक्षा कही कम स्थायी होता है और उसमे उतार-चढाव भी काफी अधिक सीमा तक होते है। मिसाल के तौर पर, कठिन परिश्रम के समय प्रकुचन-दाब 200 मि० मी० तक जा सकता है, जब कि अनुशिथिलन-दाब अधिक से अधिक 110 मि० मी० तक हो जाता है। इससे नाडी-दाब बढ जाता है और हम नाडी को अधिक तेजी से धडकता हुआ पाते है।

रुधिर-दाब आयु के साथ-साथ बढ़ता जाता है, साठ वर्ष की आयु मे प्रकुंचन-

दाव लगभग 135 मि० मी० हो जाता है जबकि अनुशिथिलन दाव बढकर केवल 90 मि० मी० तक ही जाता है। किसी भी आयु मे बहुत मोटे या भारी व्यक्तियो का रुधिर-दाव हलके व्यक्तियो की अपेक्षा अधिक ही रहता है। भावातिरेक की अवस्थाए रुधिर-दाब मे काफी परिवर्तन ला सकती है और इस परिवर्तन की दिशा इस बात पर निर्भर करती है कि हृदय पर रुधिर-वाहिकाओ के अन्तर्व्यासों का क्या प्रभाव पडता है।

उच्च रुधिर-दाब—रोग-विज्ञान की दृष्टि से उच्च रुधिर-दाब या अति-रुधिर-तनाव कोई असाधारण बात नही। रुधिर-दाब 250 मि० मी० (प्रकुचन) और 130 मि० मी० (अनुशिथिलन) तक जा सकता है। यह उच्च दाब हृदय पर जोर डालता है, क्योकि निलयो का दाब रुधिर-निष्कासन से पहले धामनिक दाव से अधिक पहुंचना चाहिए। हृदय के कार्य मे वृद्धि बाये निलय को बढने और अपनी भित्तियो को मोटा करने पर विवश करती है। अत्यधिक दाब कालान्तर मे रुधिर-वाहिकाओ मे हानिकारक परिवर्तन भी पैदा करता है। धमनी-काठिन्य (धमनियो का सख्त हो जाना और फलत उनका लचीलापन कम हो जाना) इन मामलो मे अतिरुधिर-तनाव नही उत्पन्न करता, यद्यपि यह सामान्यत आयु-वृद्धि के साथ होनेवाली दाब मे वृद्धि के लिए उत्तरदायी हो सकता है।

रोगविज्ञान-सम्बन्धी परिस्थितियो मे अतिरुधिर-तनाव का कारण धमनि-काओ के दीर्घकालिक सकुचन के कारण उत्पन्न हुआ परिधीय अवरोध होता है। तथापि बहुत-से मामलो मे यह स्पष्ट रूप से समझ मे नही आ पाता कि यह सकुचन किन कारणो से होता है। कुछ मामलो मे अतिरुधिर-तनाव वृक्क-रोगो के कारण होता है। रोग वृक्को के रुधिर-प्रवाह मे अवरोध डाल देते है, जिससे उन्हे कम ऑक्सीजन मिलती है। ऑक्सीजन की कमी से वृक्क एक ऐसा द्रव्य उत्पन्न करते है, जो धामनिक दीवारो मे चिकनी पेशी का अत्यधिक कुचन कर देता है। इसका कुछ प्रायोगिक प्रमाण भी है। यदि कुत्ते की वृक्क-धमनी पर एक शिकजा इस प्रकार कस दिया जाये कि उससे रुधिर-प्रदाय तो कम हो जाए, पर वृक्क-कोशिकाओ के लिए ऑक्सीजन की मात्रा ठीक बनी रहे, तो भी वृक्क द्वारा उत्पन्न द्रव्य अतिरुधिर-तनाव उत्पन्न कर देता है।

दूसरे मामलो मे, अतिरुधिर-तनाव तन्त्रिकायिक कारको के कारण या अधि-वृक्कीय कार्टेक्स की अति क्रिया के कारण भी हो सकता है। तन्त्रिकायिक कारको के सम्बन्ध मे भी यह सम्भव है कि वाहिका-सबोधक केन्द्र आनेवाले तन्त्रिका-आवेगो द्वारा नियत्रण मे रखा जा सके (जैसाकि साधारणतया होता है)। अति-रुधिर-तनाव के बहुत-से मामले 'रिसपाईन' नामक औषधि के द्वारा बडी सीमा तक सुधारे गए है। इस औषधि की क्रिया अत्यधिक सक्रिय तन्त्रिका-केन्द्रो मे शिथिलन उत्पन्न करनेवाली प्रतीत होती है। अतिरुधिर-तनाव मे अधिवृक्कीय कोर्टेक्स का कारण होने के सम्बन्ध मे यह सन्देह किया जाता है कि शायद इसके हारमोनो का अत्यधिक स्राव (अध्याय 10 देखिए) इस अवस्था को उत्पन्न

करता हो। इस प्रकार के अतिरुधिर-तनाव के लिए अभी तक कोई सफल उपचार नही निकल पाया है, हालांकि नमक की मात्रा मे कमी करना रोगी के लिए लाभदायक अवश्य होता है।

न्यून रुधिर-दाब—रुधिर-दाब लगातार 110 मि० मी० से कम बने रहने की स्थिति को 'अल्प तनाव' कहते है। इसका कारण अभी तक ज्ञात नही है। यह स्थिति अतिरुधिर-तनाव की अपेक्षा कम ही पाई जाती है और व्यक्ति के लिए कोई ऐसे आसार नही उत्पन्न करती कि जो उसके लिए खतरनाक हो। इस अवस्था के साथ रोगी को अत्यधिक थकान और चक्कर आने की शिकायत होती है।

रुधिर-प्रवाह—रुधिर-प्रवाह, जैसा कि हम देख चुके है, धमनियो से धमनिकाओ और धमनिकाओ से केशिकाओ के बीच दाब-प्रवणता के कारण होता है। और यह दाब-प्रवणता रुधिर को हृदय द्वारा दी गई ऊर्जा के क्रमिक ह्रास के कारण होती है जिसका कारण वाहिकाओं द्वारा रुधिर-प्रवाह मे पैदा किया गया अवरोध है। हृदय की रुधिर-निष्कासन क्रिया के अलावा—जो रुधिर-प्रवाह और दाब का मुख्य स्रोत है—रुधिर-प्रवाह का दूसरा कारक धमनियों की प्रत्यास्थता या लचीलापन है (जो हृदय की धड़कन द्वारा डाले गए दाब के एक बड़े अंश को साथ रखती है)।

रुधिर की गति को नियन्त्रित करनेवाला एक और कारक भी है। यह कारक—वाहिकाओ के सम्पूर्ण अनुप्रस्थ काट-क्षेत्र—परिवहन-वृक्ष—के विभिन्न भागो मे होनेवाले रुधिर वेग-सम्बन्धी सभी परिवर्तनो के लिए उत्तरदायी है। इसी प्रकार के परिवर्तन नलिकाओ वाले ऐसे किसी भी तन्त्र मे देखे जा सकते है, जिसकी नालिया व्यास मे अलग-अलग हो। इस प्रकार आकृति 11 मे 'क' बिन्दु नलिका ('धमनी') पर चौडी है, इसलिए रुधिर-प्रवाह तेज है; 'ख' और 'ग' (धमनिकाओं और 'केशिकाओ' पर यद्यपि हर नलिका 'धमनी' से कम चौडी है, फिर भी नलिकाओ का सम्पूर्ण अनुप्रस्थ-काट क्षेत्र बढ जाता है और रुधिर-प्रवाह धीमा
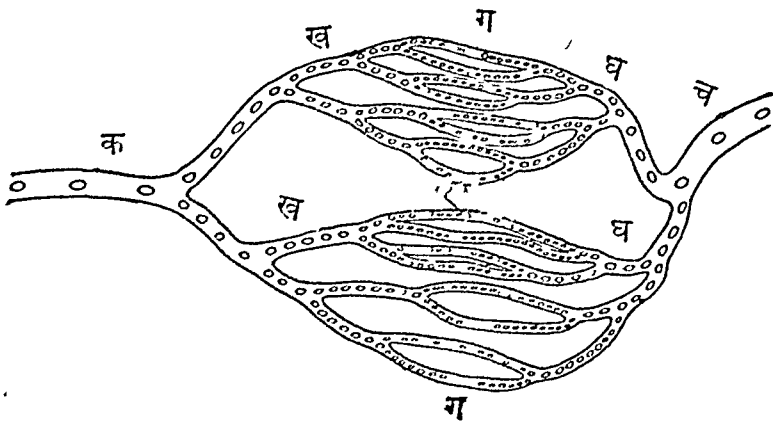
आकृति 11—रुधिर-प्रवाह : विवरण के लिए पाठ देखिए।

पड़ जाता है, और 'घ' और 'च' (छोटी शिराए और बड़ी शिरा) पर रुधिर-प्रवाह फिर बढ जाता है, क्योकि सम्पूर्ण अनुप्रस्थ-काट क्षेत्र कम हो जाता है। देह मे रुधिर का वेग बिलकुल इसी प्रकार बदलता रहता है। धमनियो मे प्रवाह तेज होता है, धमनिकाओं और केशिकाओ मे धीमा पड़ जाता है और छोटी तथा बडी शिराओ मे फिर बढ जाता है।

शिरागत रुधिर-प्रवाह—हृदय के नीचेवाली धमनियो मे रुधिर-दाब और पृथ्वी का गुरुत्वाकर्पण एक ही दिशा मे कार्य करते है, इसलिए रुधिर-प्रवाह मे कोई कठिनाई नही होती। हृदय के ऊपर की ओर की धमनियो से यद्यपि गुरुत्वाकर्षण रुधिर-प्रवाह के विपरीत पड़ता है, तथापि प्रतिवर्ती क्रियाए रुधिर-दाब बनाए रखती है। और अविरल रुधिर-प्रवाह होता रहता है।

तथापि हृदय के नीचेवाली धमनियो मे हृदय मे रुधिर का वापस पहुंचना सुनिश्चित करने वाले प्रक्रमों को काम करना पड़ता है। शिरागत दाब अत्यन्त न्यून होता है तथा गुरुत्वाकर्पण के विरुद्ध रुधिर को ऊपर पहुंचाने में असमर्थ होता है। देह के निचले भागो में सबसे महत्त्वपूर्ण सहायक प्रक्रम कंकाल-पेशियो की 'पप करने' की क्रिया है। जब ये पेशिया कुंचित होती है, तो वे अपेक्षाकृत पतली भित्तिवाली शिराओ को दबाती है और रुधिर को ऊपर की ओर धकेल देती है। कपाटो की क्रिया द्वारा रुधिर को केशिकाओ मे वापस नही जाने दिया जाता है। ये कपाट शिराओ मे थोडी-थोडी दूर पर स्थित होते है और रुधिर को केवल हृदय की ओर ही जाने देते है। कंकाल-पेशियों के फैलने के साथ शिराए भी फैलती है और नीचे के रुधिर से भर जाती है। कठिन श्रम के समय रुधिर की शिरागत वापसी मे यह प्रक्रम विशेप महत्त्व का है। शिरागत वापसी मे श्वसन-गतिया (अध्याय 4) भी बडा महत्त्वपूर्ण योग देती है।

हृदय के ऊपर की शिराओ मे चूकि रुधिर-प्रवाह को गुरुत्वाकर्षण से सहायता मिलती है, इसलिए इसे बनाए रखने के लिए किसी सहायक प्रक्रम की आवश्यकता नही पडती।

किसी अंग को जानेवाले रुधिर-प्रवाह का नियंत्रण—किसी अग-विशेष को जानेवाले रुधिर की मात्रा और गति को तंत्रिकायिक और रासायनिक कारको द्वारा नियन्त्रित किया जाता है। इनमे प्राधान्य रासायनिक प्रभावो का ही लगता है। कोई अग सक्रिय होता है, तो उसका उपापचयन वेग बढ जाता है और विश्राम की अवस्था की अपेक्षा अधिक कार्बन डाई-ऑक्साइड उत्पन्न होती है। अतिरिक्त कार्बन डाई-ऑक्साइड रुधिर-धारा मे विसरित हो जाती है और उस अंग की धमनिकाओ की चिकनी पेशियो पर क्रिया करके उन्हे फैला देती है। फैली हुई धमनिकाओ के कारण उस अग को अधिक रुधिर जाने लगता है, जिसका वेग भी अधिक होता है।

वाहिकाप्रेरक तन्त्रिकाएं भी रुधिर-प्रवाह का नियंत्रण करती है। वाहिका-संकोचक तन्त्रिकाओ की उत्तेजना धमनिकाओ मे रुधिर की मात्रा और उसके

प्रवाह का वेग कम कर देती है। वाहिका-विस्फारक तन्त्रिकाओं की उत्तेजना इससे विपरीत कार्य करती है। प्रत्येक सक्रिय अग मे रुधिर-प्रवाह का प्रतिवर्ती और रासायनिक नियन्त्रण होता है। यह क्रिया किसी प्रकार सवेदी आवेश उत्पन्न कर देती है, जो वाहिका-विस्फारक केन्द्रो को सक्रिय करके अंग की धमनिकाओ में आवेश भेज देते है। इससे धमनिकाएं फैल जाती है और इसका परिणाम अधिक रुधिर-प्रवाह होता है।

रुधिर-आयतन क्योकि अपेक्षाकृत स्थिर ही रहता है, इसलिए यदि किसी अंग में रुधिर-प्रवाह वढ जाता है, तो किसी अन्य अंग में यह घटना ही चाहिए। ध्यान देने लायक वात यह है कि पेशियों की क्रियाशीलता के समय प्रतिक्रियाओं मे कैसी समक्रमिता आ जाती है। सक्रिय कंकाल-पेशियो को अधिक रुधिर-प्रवाह की आवश्यकता होती है। उनकी सक्रियता से स्थानीय कार्बन डाई-ऑक्साइड की सांद्रता (परिमाण) वढ़ जाती है और उनकी धमनिकाएं फैल जाती है। परि-वहित रुधिर मे कार्बन डाई-ऑक्साइड की अधिकता वाहिका-संकोचक केन्द्र को उत्तेजित करके सर्वागीय वाहिका-प्रकुंचन उत्पन्न कर देती है और रुधिर-दाव वढ़ा देती है। लेकिन स्थानीय कार्बन डाई-ऑक्साइड का स्थानीय आधिक्य वाहिका-संकोचक आवेगों के वावजूद पेशियों में धमनिकाओ का शिथिलन वनाए रखता है। इस प्रकार सक्रिय अंगों को अधिक दाव के साथ अधिक रुधिर भेजा जाता है, जबकि निष्क्रिय अग कम रुधिर पाते है।

आघात—किन्ही कारणो से, जिन्हें अभी पूरी तरह समझा नही जा सका है, कई स्थितिया ऐसी होती है, जिनसे व्यक्ति 'आघात' की दशा में पहुंच जाता है। वस्तुतः होता यह है कि छोटी वाहिकाएं एकाएक साधारण स्थिति से अधिक पारगम्य हो जाती है और उनके द्वारा ऊतकीय अवकाशों में अधिक मात्रा मे रुधिर चला जाता है। इससे रुधिर-आयतन के कम हो जाने से व्यक्ति का अचेत हो जाना स्वाभाविक है। यह स्थिति अनेकानेक कारणो से उत्पन्न हो सकती है, जैसे रुधिर-स्राव, ऊतको की क्षति (जल जाना या दव जाना), शल्य-क्रिया के वाद के प्रभाव और अत्यधिक भावनात्मक गड़वड इत्यादि। आघात की सभी अवस्थाओं का मूल कारण एक ही है या अनेक, यह अभी तक पता नहीं चल सका है; लेकिन कुछ परिस्थितियो से यह स्पप्ट लगता है कि यह अवस्था रुधिर मे त्यक्त रासायनिक द्रव्यो के कारण उत्पन्न होती है।

कोई भी कारण क्यों न हो, आघात का उपचार यही है कि रुधिर-दाव अपने स्वाभाविक स्तर तक वापस ले आया जाए। प्लाज्मा का दान इसके लिए सवसे उपयुक्त होता है। फिर भी आघात की स्थिति की गड़वड़ो के वारे मे काफी अध्ययन की आवश्यकता है, क्योकि कुछ मामले उपर्युक्त उपचारो से ठीक नही होते।

लसीका-तंत्र

समस्त परिवहनीय समजनो का प्रयोजन केशिकाओ मे समुचित रुधिर-प्रवाह की व्यवस्था करना ही है। इन सूक्ष्म वाहिकाओ मे रुधिर और ऊतकीय तरल के बीच महत्त्वपूर्ण आदान-प्रदान होते है।

अन्य सभी दैहिक तरलो की भाति ऊतकीय तरल भी रुधिर से ही प्राप्त होता है। केशिकाओ मे जल और रुधिर मे घुले हुए अधिकाश द्रव्य पतली दीवारो को आसानी से भेद सकते है और ऊतकीय अवकाशो मे 'रिस' सकते है। ऐसा तव सवसे अधिक होता है कि जब रुधिर-दाब केशिकाओ मे इन द्रव्यो को खीचने वाले बलो को अधिसतुलित करके इन्हे वाहर 'धकेल' देता है। इस प्रक्रिया के अत्यधिक बढ़ जाने से उत्पन्न ऊतकीय द्रव्य का अतिसचय जलोदर कहलाता है।

लसीका-तंत्र की सरचना—ऐसी छोटी-छोटी पतली भित्तियोवाली अनेक वाहिकाए है, जो ऊतकीय अवकाशो से तरल को क्षरित करती है। ये वाहिकाए लसीका-केशिकाए कहलाती है। एक-दूसरे से मिल-मिलकर ये वाहिकाए अधिक वडी लसीका-वाहिकाए बनाती है। हृदय के निचले क्षेत्रो से निकली सारी लसीका-वाहिकाए अत मे दो वड़ी वाहिकाओ—दक्षिण लसीका-वाहिनी तथा वाम लसीकावाहिनी या वक्षीय वाहिनी—मे मिल जाती है। इसके वाद ये वाहिनिया अपना तरल उन शिराओ मे डाल देती है, जो क्रमश दाई और वाई भुजाओ से रुधिर वापस लाती है। हृदय के ऊपर की छोटी लसीका-वाहिकाए अत मे दाई और वाई ग्रैव लसीकाओ मे मिल जाती है, जो उन्ही शिराओ मे रिक्त होती है जिनमे लसीका-वाहिनिया मिलती है।

वडी लसीका-वाहिकाओ के मार्ग मे कुछ अपवृद्धिया होती है, जिन्हे लसीका-ग्रथिया कहते है। लसीका-वाहिकाए इन ग्रथियो मे प्रवेश करके छोटी-छोटी शाखाओ मे विभक्त होकर ग्रथियो के हर भाग मे प्रविष्ट हो जाती है और अत मे मिलकर फिर वडी वाहिकाएं बना देती है जो लसीका-ग्रथि से वाहर जाती है।

लसीका का प्रवाह—अतिरिक्त ऊतकीय तरल को लसीका-वाहिकाए रुधिर मे वापस ले जाती है। लसीका-वाहिकाओ मे पहुचने पर यह तरल 'लसीका' कहलाने लगता है। यह तरल लसीका-वाहिकाओ मे कैसे पहुच जाता है, यह वात अभी तक अस्पष्ट है। लसीका-केशिकाए ऐसी वद वाहिकाए होती है, जो ऊतकीय अवकाशो मे जाकर समाप्त हो जाती है। और चूकि उनकी दीवारों के दोनो तरफ तरलो की रचना और दाव समान होते है, इसलिए यह नही कहा जा सकता कि तरल का लसीका-तन्त्र मे प्रवाह किसी भी सामान्य शारीरिक प्रक्रिया से होता है।

लसीका का प्रवाह वहुत ही धीमा होता है। इस प्रवाह की चालक शक्ति भी वहुत क्षीण होती है (इसमे हृदय की भाति कोई प्रभावशाली पम्प नही है)। यदि ऊतकीय तरल का उत्पादन वढ जाए, तो लसीका-वाहिनियो मे वर्तमान दाव पर इस नवनिर्मित तरल के दाव से लसीका-प्रवाह त्वरित हो जाता है।

हृदय के नीचे की वाहिकाओं में लसीका का प्रवाह भी शिरागत प्रवाह की भाति पृथ्वी के गुरुत्वाकर्षण से अवबाधित होता है। इसलिए कंकाल-पेशियों की पम्प-क्रिया लसीका-प्रवाह के लिए शिरागत रुधिर-प्रत्यागमन से कही अधिक महत्त्व-पूर्ण है। लसीका का जो प्रवाह होता है, उसे कायम रखने में उन असंख्य कपाटो का भी बड़ा महत्त्व है, जो लसीका को रुधिर-प्रवाह मे उसके निर्गम की ओर ही जाने देते हैं।

किसी भी जगह लसीका-प्रवाह के अवरुद्ध हो जाने से वहा जलोदर या एडीमा हो जाता है।

लसीका-तंत्र के कार्य—हम पहले ही देख चुके है कि यह तन्त्र ऊतकीय तरल की रुधिर में वापसी कराता है। यह देह के उन आवश्यक द्रव्यो के लिए विशेष महत्त्वपूर्ण है, जो रुधिर के बाहर निकल तो जाते हैं, लेकिन फिर उसमें सीधे वापस नही जा पाते। इसके विपरीत, आवश्यकता पड़ने पर जल सीधा रुधिर-प्रवाह मे वापस जा सकता है।

लसीका-कणिकाओ की उत्पत्ति लसीका-ग्रंथियो में ही होती है। इसी कारण लसीका में लसीका-कणिकाओं की मात्रा रुधिर से अधिक होती है।

लसीका-ग्रंथिया और लसीका-ऊतकों के अन्य संचयन, जैसे टासिल और एडेनायड, बाहरी कण-तथा बैक्टीरिया को अवरुद्ध करते हैं और हानिकारक द्रव्यों का देह-भर मे प्रसार रोकते हैं।

अध्याय 4

श्वसन-तन्त्र

ऑक्सीजन का अन्तर्ग्रहण तथा कार्बन डाई-ऑक्साइड का निष्कासन जीवन के लिए आवश्यक प्रक्रियाए है। श्वसन मे ये दोनो प्रक्रियाए दो भिन्न स्तरों पर क्रियान्वित होती है। श्वसन का अधिक प्रकट रूप सास लेना या बाह्य श्वसन है, जिसमे देह द्वारा ऑक्सीजन का अन्तर्ग्रहण होता है और कार्बन डाई-ऑक्साइड का उत्सर्जन होता है। आतरिक श्वसन, शरीर की कोशिकाओ द्वारा ऑक्सीजन के उपयोग और कार्बन डाईऑक्साइड के उत्पादन मे कई रासायनिक प्रतिक्रियाए सम्मिलित होती है, जिसके मिलने से कोशिका का उपापचयन होता है। 'श्वसन' शब्द का अर्थ यदि दूसरे रूप मे इगित न किया जाए, तो हम इसे बाह्य श्वसन के ही रूप मे लेगे।

वायु हमारे फेफडो या फुपफुसो मे एकत्र होती है। फेफड़ों की पतली भित्तियो के आर-पार होकर विभिन्न गैसे रुधिर मे विसरित तथा निष्कासित होती है। रुधिर इन गैसो को कोशिकाओ तक लेकर जाता और वापस ले आता है।

श्वसनांगों का शारीर

वायु नासारध्रो या मुख द्वारा अदर खीची जाती है और ग्रसनी मे चली जाती है। ग्रसनी से मुख्य श्वसन-नली निकलती है, जो स्वर-यंत्र से आरम्भ होती है और स्वर-ततुओ का पात्र या केन्द्र है। श्वसननली आगे चलकर श्वासनली मे परिणत हो जाती है जिसका अन्त वक्षीय गुहा के समीप होता है (आकृति 12 देखिए)।

स्वर-यत्र की भित्तियो मे उपास्थियो की पट्टिकाए है, जो स्वर-ततुओं के आधार का कार्य करती है। उपास्थि श्वास-नली मे भी मौजूद है और इसका आकार अधूरे छल्लो जैसा होता है। ये छल्ले श्वास-नली को, उनके बिना वह जितनी दृढ होती, उससे दृढ बना देते है और उसे आसानी से ढहने से भी रोकते है। तथापि इन छल्लो का केवल तीन-चौथाई भाग ही पूर्ण होता है, जिससे कि श्वास-नली थोड़ी-बहुत कुचित की जा सकती है। श्वास-नली की भित्तियो मे भी चिकनी पेशी होती हैं। सकोचक और विस्फारक तन्त्रिकाए पेशी को नियंत्रित करती और इसके द्वारा श्वास-नली के भीतरी व्यास को नियमित करती है। भित्तियों का एक अन्य मुख्य सरचक भाग लचीला ऊतक है (जो फेफड़े के ऊतक मे भी विद्यमान है)। इसकी चर्चा हम श्वसन के प्रक्रम का अध्ययन करते समय करेगे।

श्वास-नली अन्त मे दो श्वसनियों या ब्रोकियो मे विभाजित हो जाती है, जिनमे से प्रत्येक एक-एक फेफड़े मे जाती है। श्वसनिया और भी छोटी-छोटी तथा
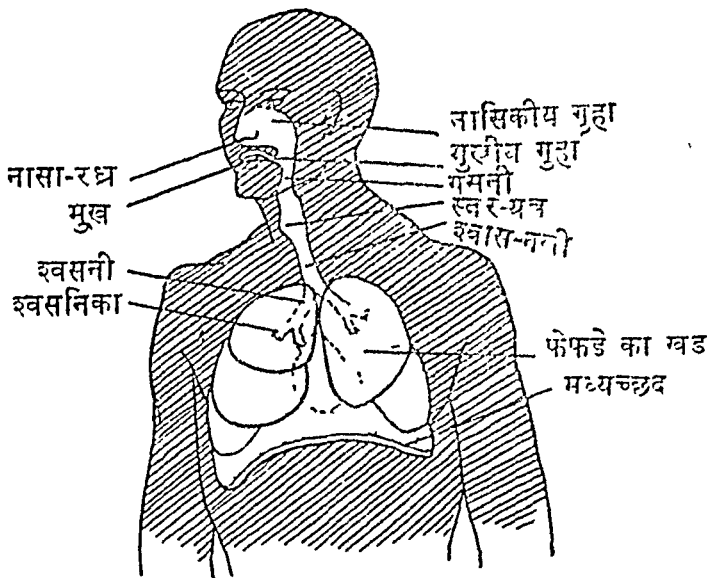
आकृति 12—श्वसन-तन्त्र (इसमे पसलियां तथा भीतरी पेशिया नही दर्शाई गई है।)

सूक्ष्म नलिकाओ—श्वसनियों (ब्रोकिओलो) मे विभक्त होती जाती है, जिनका अन्त वायु-नलियो मे होता है। श्वसनी-भित्तिया श्वास-नली की भित्तियो के समान ही होती है। अतिसूक्ष्म श्वसिनकाओ मे भित्तिया पतली होती जाती है और उनमे अब उपास्थि नही रहती।

ब्रोकियल नलिकाओ, श्वास-नली, ग्रसनी, स्वर-यन्त्र और नासिका-मार्ग के भागो के अन्दर की सतहो पर दण्डिकाकार एपीथीलियम की हलकी परत होती है। इसकी कोशिकाए कई स्थानो पर परिवर्तित होकर ग्रथिया बनाती है, जो श्लेष्मा या एक जलीय तरल स्रवित करती है। ये स्राव श्वास के मार्ग को चिकना करते है और सतही कोशिकाओ के लिए एक आर्द्र वातावरण रखते है। दण्डिकाकार कोशिकाए अपनी मुक्त सतह पर एक अतिसूक्ष्म, केश-जैसे प्रवर्धो, सीलिया, की उपस्थिति से और भी अधिक बदल जाती है। सीलिया की गति अविरल रूप से फेफडो के बाहर की ओर ही रहती है। अपनी गति द्वारा वे धूल-जैसे बाह्य द्रव्यो को बाहर की ओर फेकती रहती है उन्हे फेफडो मे नही जाने देती।

श्वसन (वृक्ष) की लघुतम शाखाए अनेको छोटी-छोटी वायु-थैलियो मे बट जाती है, जिनकी भित्तियो मे कई-कई उभार होते है। इन उभारो से छोटे-छोटे कक्ष या वायु-कोष्ठिकाए बनती है। जिनके नीचे चपटी इपीथीलियम कोशिकाओ की एक इकहरी परत होती है। फेफड़ो मे अत्यधिक सख्या मे रुधिर-वाहिकाए होती है और कोशिकाए वायु-कोष्ठिका भित्तियो से बिलकुल मिली ही रहती है। इसलिए वायु-कोष्ठिका से रुधिर तथा रुधिर से वायु-कोष्ठिकाओ मे जाने के लिए श्वसन-गैसो को केवल दो कोमल भित्तियो मे से ही विसरित होना पड़ता है

(किसी-किसी स्थान पर वायु-कोष्ठिका भित्तिया नही होती, जिससे गैसो और रुधिर के बीच केवल एक ही दीवार की आड होती है)।

श्वास-क्रिया का प्रक्रम

अपने फेफडो मे दाब कम करके हम उनमे वायु भर लेते है। हमारे सास भरने के साथ एक घटना-क्रम आरम्भ हो जाता है। वक्ष का आयतन बढ जाता है और वक्षीय गुहा तथा फेफडो मे दाब गिर जाता है, जिसके कारण वायु अन्दर जाती है। सास छोड़ने पर इसके विपरीत घटनाए घटती है। वक्ष का आयतन घट जाता है, उपरिलिखित दाब बढ जाता है और हवा फेफडो के बाहर धकेल दी जाती है। ये घटनाए केवल इसी कारण सम्भव हो पाती है कि वक्षीय गुहा पूर्णत बंद है और इसपर भी वह आयतन मे घट-बढ सकती है। साधारणतया सास लेना या प्रश्वसन एक सक्रिय और सास छोडना या उच्छ्वसन निष्क्रिय प्रक्रिया है। प्रश्वसन मे फ़ेफडो की क्षमता मे आगे से पीछे तक, एक सिरे से दूसरे सिरे तक और ऊर्ध्व तल मे वृद्धि होती है। ऊर्ध्व तल मे वृद्धि वक्षीय और उदर-गुहाओ के बीच की पेशीय भित्ति—मध्यच्छद—के कुचन द्वारा होती है। विश्राम की अवस्था मे मध्यच्छद का आकार गुवद-जैसा होता है (आकृति 12 देखिये), किन्तु कुचन के समय यह चौरस होने लगता है यह गति ऊपर से नीचे तक वक्ष का आयतन बढा देती है। इसी समय पसलियो के बीच की पेशियो (पर्शुकातर) का कुचन पसलियो को ऊपर और सामने की ओर सरका देता है। पसलियो की हरकत से वक्ष का आयतन आगे से पीछे की ओर (ऊपर की पसलियो की गति), और एक सिरे से दूसरे की ओर (नीचे की पसलियो की हरकत से) बढ जाता है।

वक्ष के आयतन मे वृद्धि के कारण फेफडे फैलते है और वायु अन्दर खिच जाती है। आइए, अब हम इसके प्रक्रम का पता चलाए। जन्म के समय फेफड़ो मे वायु नही होती और वे पिचकी हुई दशा मे होते है। लेकिन उसी समय वक्ष फैलता है और फेफडो तथा वक्षीय भित्ति के बीच के अवकाश मे दाब गिर जाता है (यदि किसी तत्र मे और कोई परिवर्तन नही होता, तो आयतन मे वृद्धि के साथ दाब गिर जाता है)। फेफडो के बाहर दाब मे कमी आने से वे फूल जाते है। चूकि अब फेफडो के भीतर का आयतन बढ जाता है, इसलिए उनके भीतर का दाब कम हो जाता है। फेफडो के अन्दर का दाब वायुमडल के दाब से कम होने के साथ वायु तेजी से श्वास-मार्ग से होती हुई फेफडो मे आ जाती है।

इस वायु-प्रवेश के पहले क्षण से जीवन के अन्त तक फेफडे कभी भी पूरी तरह से नही पिचकते और वक्षीय गुहा के अपने भाग को वे लगभग पूरी तरह भरे रहते है। इस प्रकार फेफड़ो और वक्षीय भित्ति के बीच का अवकाश—अन्तर्-वक्षीय गुहा नाम को ही एक गुहा है—वास्तव मे इसमे फेफड़ो और वक्षीय भित्तियो के बीच तरल की एक पतली परत के अलावा और कुछ नही होता। तथापि

वक्षीय भित्ति जब-जब फैलती है, तो फेफड़े लचीले होने के कारण इस प्रसार का विरोध करते हैं। फैलती हुई वक्षीय भित्ति तथा अपने ही प्रसार का विरोध करती फुपफुसीय भित्ति का सयोग, अन्तर्वक्षीय गुहा मे दाब कम कर देता है।

साधारण उच्छ्वसन प्रश्वसन के समय होने वाले परिवर्तनो के विपरीत हो जाने पर होता है। प्रश्वसनीय गति उत्पन्न करने वाली पेशिया शिथिल हो जाती हैं, जिससे मध्यच्छद के ऊपर उठने और पसलियो के अपनी विश्रामावस्था मे वापस आने के साथ-साथ वक्ष का आयतन कम हो जाता है। अन्तर्वक्षीय दाब बढ़ जाता है। फेफड़े अपने ही प्रत्यास्थ (लचीले) ऊतको के खिंचाव के कारण छोटे हो जाते हैं। फुपफुस-आयतन के कम हो जाने से फेफडों के भीतर का दाब वायु मडलीय दाब से बढ जाता है क्योकि फेफड़ो की भित्तिया अन्दर की वायु को किसी हद तक भीचती है। अब चूकि फेफड़ो के भीतर का दाब वायुमंडलीय दाब से अधिक होता है, इसलिए उनके अन्दर की वायु बाहर उच्छ्वसित हो जाती है।

जब हम सांस को जोर लगाकर बाहर निकालते हैं, तो इस प्रक्रिया मे कुछ पेशियो का कुचन सहायक होता है। उदर की भित्ति की पेशिया कुचित होती हैं और उदरीय अंगो को दबाती हैं, जो फिर मध्यच्छद को ऊपर धकेलती है, जिसके कारण उसका उभार जल्दी हो जाता है। अन्य पर्शुकातर पेशियां कुचित होती हैं और पसलियो को नीचे तथा पीछे की तरफ ले जाती हैं। ये अंत्योक्त पेशीय गतिया सामान्य गुरुत्वाकर्षण मे योग देती हैं और इस प्रकार ये परिवर्तनों की रफ्तार और विस्तार बढा देती है। इन अधिक सक्रिय घटनाओं का परिणाम यह होता है कि वक्षीय गुहा का आयतन साधारण परिस्थिति की अपेक्षा अधिक कम हो जाता है। प्रतिक्रियास्वरूप फेफडे तीव्रतर प्रत्यास्थ—प्रकुचन—करते हैं, फलत. वायु को अधिक तेजी और अधिक बल से निष्कासित कर देते हैं।

जैसा कि हमने ऊपर कहा है, अन्तर्वक्षीय गुहा मे बस तरल की एक पतली परत ही होती है। यदि किसी प्रकार इस अवकाश मे अधिक तरल या कुछ हवा घुस जाये तो श्वसन अवरुद्ध या बन्द हो जाएगा। यह इसलिए होता है कि अन्तर्-वक्षीय दाब बढ जाता है और फेफडा एक इस हद तक पिचक जाता है कि जो इस बात पर निर्भर करती है कि दाब कितना अधिक है। ऐसी परिस्थिति आक-स्मिक घटनाओ के कारण (जैसे चाकू या गोली का घाव), या किसी रोग के कारण (जैसे फुपफुसावरण या प्लूरा की सूजन और उसमें तरल का जमा हो जाना, या गुहा मे रुधिर-स्राव होना इत्यादि) उत्पन्न हो सकती हैं।

तथापि चिकित्सक इस घटना का अच्छा उपयोग कर सकते हैं। यदि एक फेफड़ा संक्रांत हो जाये, तो उसके अच्छा होने मे इस बात से अधिक सहायता मिलती है कि वह गतिहीन बना दिया जाये। चूकि प्रत्येक फेफड़ा दूसरे फेफड़े के अलग कक्ष मे होता है और वह उससे झिल्लियो तथा हृदय को स्थान देने वाले अवकाश द्वारा पृथक् रहता है, इसलिए अन्तर्वक्षीय गुहा के एक पक्ष मे इंजेक्शन द्वारा हवा भरना संभव है। दाब में वृद्धि से फेफड़ा अपनी वायु बाहर निष्कासित

कर देता है और पिचक जाता है। जब तक बाहर का दाब फेफडे के भीतर के दाव से अधिक रहता है, वह पिचका ही रहता है। कुछ अवधि के वाद गुहा के भीतर की हवा रुधिर मे विलय हो जाती है, फिर भी यदि फेफड़े को पिचकी अवस्था मे ही रखना वाछनीय हो तो इसी उपचार को दुहराया जाता है।

फुफ्फुसीय सक्रमण का एक महत्त्वपूर्ण रूप फेफडो का क्षय या तपेदिक है। क्षय एक विशेप प्रकार के बैक्टीरिया द्वारा उत्पन्न रोग है, जो देह के किसी भी ऊतक मे जम सकता है। लेकिन अधिकतर सक्रमण का स्थान फेफडे ही रहते है।

कृत्रिम श्वसन—श्वासावरोध या आघात की अवस्थाओ मे, जब स्वचलित श्वसन रुक जाता है, कृत्रिम श्वसन तुरन्त प्रारम्भ कर देना चाहिए और तव तक जारी रखना चाहिए कि जव तक या तो रोगी फिर स्वाभाविक ढग से सास न लेने लगे या चिकित्सक आकर उसे संभाल न ले। कृत्रिम श्वसन के लिए 'पीठ पर दाव देकर वाहे ऊपर उठाने' का तरीका वहुत ही प्रभावी और सीखने मे सुगम है। रोगी को पेट के वल लिटा देते है, कुहनिया मोड देते है, हाथ एक-दूसरे के ऊपर रख देते है, चेहरे का एक भाग हाथ के ऊपर रहता है, मुह खुला और जीभ वाहर रहती है। कृत्रिम श्वास दिलाने वाला अपने घुटने रोगी के सिर को बीच मे रखते हुए, उसके कन्धो के करीब टिका देता है और अपने हाथ उसके कन्धो के ऊपर रखता है। उसकी उंगलिया फैली हुई होती है और अंगूठे रीढ की ओर होते है। अब वाह सीधी रखकर अपने शरीर को आगे दवाकर रोगी की पीठ पर जोर देने से उच्छ्वसन कराया जा सकता है। प्रश्वसन दो अवस्थाओ मे पूरा किया जा सकता है : पहली, पीठ पर दाव कम करके (विना धक्का दिये हुए), और दूसरी, पीछे हटते समय रोगी की बांहो को ऊपर की ओर अपनी तरफ खीचकर। इस ऊपर खीचने की क्रिया मे वाहे कुहनी के ऊपर पकडी जाती है और तव तक खीची जाती है कि जब तक कन्धो का अवरोध पूरा-पूरा महसूस न होने लगे। अब बाहे छोड़ दी जाती है और यह चक्र हर-एक मिनट मे बारह वार दुहराया जाता है। पुरानी शाफेर-पद्धति की अपेक्षा यह नया तरीका फेफडो मे अधिक हवा पहुंचाता है।

यदि दीर्घकालिक कृत्रिम श्वसन की आवश्यकता हो, जैसा कि बाल पक्षाघात या पोलियो के मामलो मे होता है, तो यत्रो से काम लिया जा सकता है। इस यंत्र को 'लोहे का फेफडा' कहते है। लोहे का फेफडा देह के बाहर वारी-वारी से दाव कम या ज्यादा करके वारी-वारी से वक्षीय भित्ति का प्रसार तथा कुचन उत्पन्न करता है।

प्रश्वसित और उच्छ्वसित वायु की रचना—हमारे आसपास की वायु कई गैसो का मिश्रण है। नाइट्रोजन समस्त वायु का लगभग 79 प्रतिशत है। ऑक्सीजन का भाग 20 प्रतिशत और कार्वन डाई-ऑक्साइड का 0 04 प्रतिशत है। शेप भाग जलवाष्प तथा अन्य विरल गैसो का है। उच्छ्वसित वायु मे नाइट्रोजन तथा विरल गैसों का प्रतिशत लगभग उतना ही रहता है, लेकिन दूसरी गैसो के अंश मे उल्लेखनीय परिवर्तन आ जाता है। ऑक्सीजन अब कुल के केवल

16 प्रतिशत के लगभग ही रह जाती है, कार्बन डाई-ऑक्साइड का आयतन बढ़-कर 4 प्रतिशत हो जाता है और वायु वाष्प से लगभग संतृप्त हो जाती है।

सबसे महत्त्वपूर्ण श्वसनीय परिवर्तन ऑक्सीजन-अंश में प्रतिशत की कमी और कार्बन डाई-ऑक्साइड के आयतन में इतनी ही वृद्धि है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रश्वसित वायु की सभी ऑक्सीजन रुधिर द्वारा ग्रहण नही कर ली जाती और इसलिए इस उच्छ्वसित वायु में कुछ समय तक कष्ट का अनुभव किए बिना बार-बार सांस लिया जा सकता है।

रुधिर का श्वसन से संबंध—फेफड़ों तक आनेवाले रुधिर में वायु-कोष्ठि-काओं में निःश्वसित वायु में विद्यमान वायु की अपेक्षा कम ऑक्सीजन होती है, पर कार्बन डाईऑक्साइड की मात्रा अधिक होती है। चूंकि फेफड़ों की केशिकाओं तथा वायु-कोष्ठिकाओं की भित्तियां अत्यधिक पतली होती हैं, जिनको ये गैसें तुरन्त भेदकर रुधिर के अन्दर-बाहर आ और जा सकती हैं, इसलिए ऑक्सीजन आसानी के साथ हवा से रुधिर में और कार्बन डाईऑक्साइड रुधिर से हवा में आ जाती हैं। रुधिर और ऊतक-कोशिकाओं में इस हस्तांतरण के बिलकुल विपरीत क्रिया होती है।

वायु-कोष्ठिकायिक वायु में ऑक्सीजन-सान्द्रण रुधिर की अपेक्षा अधिक होता है, इसलिए वायु-कोष्ठिकाओं से वह फुफ्फुसीय केशिकाओं के रुधिर में चली जाती है। रुधिर में घुसते ही यह प्लाज्मा में विलीन हो जाती है। लेकिन प्लाज्मा अपेक्षाकृत बहुत कम ऑक्सीजन को संचित रख सकता है। प्लाज्मा में घुसनेवाली अधिकांश ऑक्सीजन लाल कोशिकाओं की भित्तियों को भेदकर हीमोग्लोबिन के साथ संयुक्त होकर एक शिथिल मेल बना लेती है। वास्तव में रुधिर में आई हुई 11 प्रतिशत ऑक्सीजन ऑक्सी-हीमोग्लोबिन की अवस्था में ही रहती है। जब ऑक्सीजन-सिक्त रुधिर ऊतकों तक परिवहित किया जाता है, तो यह अपनी कुछ ऑक्सीजन ऊतक-तरल और ऊतक-कोशिकाओं को दे देता है। ऊतक-तरल और ऊतक-कोशिकाओं को ऑक्सीजन की सदैव आवश्यकता रहती है, क्योंकि उन्हें रासायनिक क्रियाएं करनी पड़ती हैं और इसी कारण उनका ऑक्सीजन-सान्द्रण रुधिर की अपेक्षा बहुत कम होता है। एक बार फिर ऑक्सीजन उच्च सान्द्रण से न्यून सान्द्रण के क्षेत्र में जाती है—रुधिर से (यह हीमोग्लोबिन के संयोग से मुक्त कर दी जाती है) ऊतक-तरल और उससे कोशिकाओं तक।

इसके विपरीत, कार्बन डाई-ऑक्साइड अविरल रूप से ऊतक-कोशिकाओं द्वारा उत्पन्न की जाती है और कोशिकाओं में इसका सान्द्रण रुधिर की अपेक्षा अधिक होता है। इसलिए यह कोशिकाओं से ऊतक-तरल और ऊतक-तरल से रुधिर में चली जाती है। घुली हुई गैस के रूप में इसकी अपेक्षाकृत थोड़ी ही मात्रा ले जाई जाती है। इसका परिवहन मुख्यतः प्लाज्मा-द्रव्यों के संयोग में, और किसी कम सीमा तक हीमोग्लोबिन में होता है। फुफ्फुस-ऊतक में प्रवेश करने पर कार्बन डाईऑक्साइड-सिक्त रुधिर अपनी गैस का एक बड़ा अंश वायु-कोष्ठिकाओं की

वायु को दे देता है ।

इस प्रकार हम देखते है कि ऑक्सीजन का अतर्ग्रहण तथा कार्बन डाई-ऑक्साइड का निष्कासन—दोनो ही—के लिए रुधिर फेफडो और ऊतक-कोशिकाओ के बीच एक महत्त्वपूर्ण 'विचौलिया' है ।

श्वसन का नियन्त्रण

हृदय की धड़कन के विपरीत श्वसन पर एक सीमा तक ऐच्छिक नियत्रण किया जा सकता है। लेकिन अधिकतर यह पूरी तालवद्धता के साथ तथा स्व-चलित ढग से चलता रहता है। विश्राम की अवस्था मे इसमे अधिकाश मे श्वसन की गति औसतन सोलह से अठारह श्वासन प्रतिमिनट होती है। श्वसन की सख्या और उसकी गहराई मे भिन्न-भिन्न परिस्थितियो मे बडा भेद हो सकता है। ये परिवर्तन क्योकर होते है और यह स्वचलन किस पर आश्रित है ?
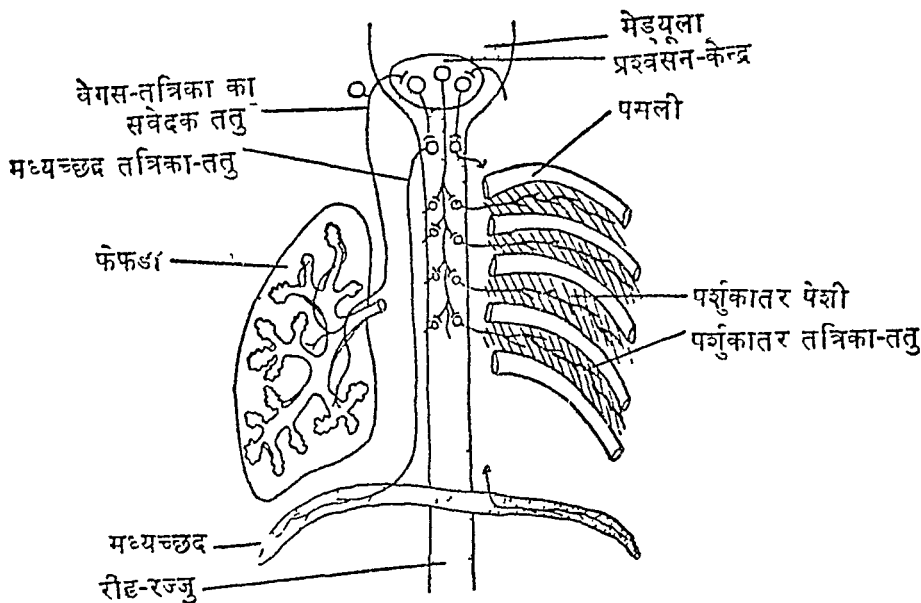
आकृति 13—तत्रिकायिक नियंत्रण और श्वसन का कार्यप्रदर्शी आरेख. सरलता के लिए केवल एक फेफड़ा और एक ही ओर की पसलियां तथा पर्शुकातर पेशिया दिखाई गई हैं।

श्वसन-केन्द्र—मस्तिष्क की अतस्था (मेड्यूला) तत्रिकायिक कोशिका-पिडो के प्रश्वसन और उच्छ्वसन केन्द्र नाम के दो समूह है। मस्तिष्क के पौस मे एक तीसरा केन्द्र भी है, जो श्वसन पर प्रभाव डालता है। सुविधा के लिए आकृति 13 मे केवल प्रश्वसन-केन्द्र ही दिखाया गया है। प्रश्वसन-केन्द्र हर प्रश्वसन के लिए उत्तरदायी है, दूसरे दो केन्द्र सम्मिलित रूप से प्रश्वसन-केन्द्र की क्रिया रोकते है और फलत उच्छ्वसन की क्रिया मे योग देते है।

प्रश्वसन-केन्द्र की तन्त्रिका-कोशिकाएं या न्यूरॉन अपने तन्त्रिका-तन्तुओ द्वारा आवेश भेजती है, जो मेरु-रज्जु की तन्त्रिका-कोशिकाओ तक पहुंच जाते है। ये स्वय उत्तेजित होकर मध्यच्छदायिक तथा पर्शुकातर पेशियो को आवेश भेजती है। विशेपतया, मेरु-रज्जु के ग्रीवा-भाग के दोनों तरफ स्थित तन्त्रिका-कोशिकाए उन तन्त्रिकायिक तन्तुओं को जन्म देती है, जिनसे मध्यच्छद-तन्त्रिकाएं बनती है (तन्त्रिका तन्त्रिका-तन्तुओ का सग्रह होती है)। इनमें से प्रत्येक वक्षीय गुहा के बीच से होती हुई जाती है और मध्यच्छद को आवेशित करती है। पर्शुकातर तन्त्रिकाएं मेरु-रज्जु के वक्षीय क्षेत्र के दोनों तरफ की तन्त्रिका-कोशिकाओ से निकलती है और पर्शुकातर-पेशियो को चली जाती है।

प्रश्वसन तभी हो सकता है जब प्रश्वसन-केन्द्र से आवेश इन प्रश्वसन-पेशियो को भेज दिए जाए। उच्छ्‌वसन इन आवेशों के समाप्त हो जाने और इन पेशियों के शिथिलन से उत्पन्न होता है।

श्वसन की तालबद्धता—जब स्वचलित श्वसन अविरल रूप से चल रहा होता है, तो रासायनिक तथा तन्त्रिकायिक कारक अपनी अर्तक्रिया से प्रश्वसन तथा उच्छ्‌वसन का तालबद्ध एकातरण उत्पन्न करते है। प्रश्वसन अधिकांशत: रासायनिक रूप से नियन्त्रित होता है और उच्छ्‌वसन तन्त्रिकायिक रूप से।

प्रश्वसन-केन्द्र की तन्त्रिका-कोशिकाए रुधिर मे प्रवहमान कार्वन डाई-ऑक्साइड से सीधी सवेदित होती है। जब भी कभी कार्वन डाईऑक्साइड रुधिर में एक निश्चित साद्रण प्राप्त कर लेती है, तो ये तन्त्रिका-कोशिकाएं आवेश भेजने के लिए सक्रिय कर दी जाती है। इसके बाद का प्रश्वसन कुछ कार्वन डाई-ऑक्साइड को रुधिर से वायु-कोष्ठिकाओ की हवा मे विसरित होने और रुधिर मे कार्वन डाईऑक्साइड का स्तर कम करने का अवसर दे देता है।

प्रश्वसन-प्रक्रिया अपने ही अवरोध के लिए प्रक्रमो को दो प्रकार से सक्रिय कर देती है। जैसे-जैसे फेफड़े फूलते जाते है, उनके विस्तार से वायुकोष्ठिका की भित्तियो मे ग्रहीता उत्तेजित हो जाते है। ग्रहीता कुछ आवेश उत्पन्न करते है, जो वागी तन्त्रिकाओ के सवेदी तन्तुओ पर चलकर उच्छ्‌वसन-केन्द्र तक चले जाते है। इस केन्द्र की तन्त्रिका-कोशिकाएं फिर अपने आवेश भेजती है, जो प्रश्वसन-केन्द्र की तन्त्रिका-कोशिकाओ को अवरुद्ध कर देते है और उनका निरा-वेश रोक देते है। साथ-ही-साथ प्रश्वसन-केन्द्र की तन्त्रिका-कोशिकाओ ने, आरंभ मे निरावेशित होते समय न केवल मेरु-रज्जु को ही, वरन् पोटीन-केन्द्र को भी आवेश भेजे थे। पोटीन-केन्द्र की तन्त्रिका-कोशिकाए उच्छ्‌वसन-केन्द्र को आवेश भेजती है, जिनका कार्य हम अभी वतला चुके है। उच्छ्‌वसन-केद्र का इस प्रकार दो सूत्रो द्वारा उत्तेजित किया जाना प्रश्वसन-केन्द्र की क्रिया का इतना समुचित अवरोध कर देता है, कि प्रश्वसन बद होकर उच्छ्‌वसन प्रारभ हो जाए। जैसे ही फेफडे कुचित होना शुरू करते है और प्रश्वसन-केन्द्र का निरावेश बन्द होता है, उच्छ्‌वसन-केन्द्र की क्रिया धीमी पड़ने लगती है। साथ ही, कोशिका-उपाप-

चयन द्वारा अधिक कार्बन डाई-ऑक्साइड की उत्पत्ति के कारण रुधिर मे उसके वर्द्धित सान्द्रण के सयोग से प्रश्वसन की परिस्थितिया फिर पैदा हो जाती है और यह चक्र फिर से चलने लगता है।

प्रयोग द्वारा यह दिखाया जा चुका है कि वागी तन्त्रिकाओ को काट देने से श्वसन की गति धीमी पड जाती है। दूसरे शब्दों मे, उच्छ्वसन-केन्द्र की सक्रियता मे कमी प्रश्वसन-केन्द्र को अधिक समय तक निरावेशित होते रहने का अवसर देती है। यदि अब उच्छ्वसन और पोटीन-केन्द्रो के बीच के सम्बन्ध भी काट दिए जाए, तो भी प्रश्वसन अवरुद्ध नही होता और प्राणी प्रश्वसन मे ही मर जाता है (क्योकि श्वसन अब तालबद्धता के साथ नही चल पाता)।

नियन्त्रण के विशेष साधन—प्रतिवर्तो द्वारा श्वसन को शरीर की तात्कालिक आवश्यकताओ के अनुरूप अनेक सवेदन-तन्तुओ द्वारा प्रभावित किया जा सकता है। अतस्था के सभी महत्त्वपूर्ण केन्द्रो की भाति श्वसन-केन्द्र भी वातावरण के परिवर्तनो के अनुसार अपनी क्रिया बदल सकते है। इसके साथ ही इसे अपनी इच्छा से भी बदला जा सकता है, इसलिए मस्तिष्क के उच्च केन्द्र श्वसन-केन्द्र को आवेश भेज सकते है। किंतु ऐच्छिक नियत्रण प्रतिवर्ती य रासायनिक नियन्त्रण की जगह पूर्णत. नही ले सकता। उदाहरण के लिए, किसी चीज को निगलते समय सास लेने का प्रयत्न कीजिए (निगलने की क्रिया अपने-आप ही श्वसन रोक देती है), या अपनी श्वास अनिश्चित अवधि तक के लिए रोके रखिए (बढते हुए कार्बन डाई-ऑक्साइड के स्तर को दबाते हुए)।

आपको यह बात असगत तो लगेगी कि श्वसन के नियन्त्रण के लिए ऑक्सीजन की अपेक्षा कार्बन डाई-ऑक्साइड का सान्द्रण अधिक महत्त्वपूर्ण है, लेकिन प्रयोगो द्वारा यह स्पष्ट रूप से निश्चित किया जा चुका है। उदाहरण के लिए, एक ऐसे कक्ष मे सास का प्रश्वसन तथा उच्छ्वसन करने पर कि जिसमे से उच्छ्वसित वायु की कार्बन डाईऑक्साइड घुसने के साथ निकाल दी जाती है, श्वसन पर तब तक कोई विशेष प्रभाव नही पडता जब तक कि ऑक्सीजन-सान्द्रण बहुत कम न हो जाए। इसके विपरीत 95 प्रतिशत ऑक्सीजन और 5 प्रतिशत कार्बन डाईऑक्साइड के मिश्रण मे सास लेने पर उपलब्ध ऑक्सीजन की अधिकता के बावजूद श्वसन की गति और गहनता उल्लेखनीय रूप से बढ जाती है। कार्बन डाईऑक्साइड-स्तर के महत्त्व का एक और व्यावहारिक उदाहरण अपनी सास रोकना है। हमारा विश्वास है कि कार्बन डाईऑक्साइड-सान्द्रण के एक स्तर तक पहुच जाने पर श्वास रोकना असम्भव हो जाता है। यदि हम सास रोकने से पहले ही कार्बन डाईऑक्साइड का स्तर गिरा सके (इस प्रकार उल्लेख्य स्तर प्राप्त करने का समय बढा दे,) तो हम सास रोकने की अवधि बढा सकते है। बहुत तेज तथा गहरी सास लेकर हम रुधिर मे कार्बन डाई-ऑक्साइड का स्तर कम कर सकते है, इस प्रकार के बलात् श्वसन के दौरान उच्छ्वसित वायु के जरिये इससे ज्यादा कर्बन डाई-ऑक्साइड निकल जाती है, जितनी कि ऊतको से रुधिर मे आ

सकती है। बलात् श्वसन के बाद सांस अधिक देर तक रोकी जा सकती है। गोताखोर लोग अधिक देर तक पानी के नीचे रहने के लिए इस घटना का लाभ उठाते है।

जब ऑक्सीजन का स्तर काफी नीचा होता है, तो श्वसन की गति बढ़ जाती है, लेकिन ऐसा श्वसन-केन्द्रो पर सीधी क्रिया द्वारा नही होता (वास्तव मे निम्न ऑक्सीजन-स्तर श्वसन-केन्द्रो को शिथिल कर देता है)। कुछ रुधिर-वाहिकाओ मे ऐसे ग्रहीता होते है जो अति न्यून ऑक्सीजन-स्तर के प्रति बड़े सवेदी होते है और प्रतिवर्ती क्रिया द्वारा श्वसन-केन्द्रो की क्रिया को तेज कर देते है। तथापि यह उल्लेखनीय है कि यह कोई स्वाभाविक दैनिक प्रतिक्रिया नही है वरन् एक प्रक्रम है, जो आकस्मिक परिस्थितियों मे काम आने के लिए हरदम तैयार रहता है।

श्वसन-तन्त्र के दूसरे कार्य और गतिविधियां

छीकना और खासी—ये प्रतिवर्ती क्रियाएं है और नासिका-गुहाओं की आतरिक परतो की उत्तेजना या श्वास-नलिका के नीचे के क्षेत्रो के क्षोभण के कारण उत्पन्न होती है। क्षोभको को निकाल फेकना ही इनका कार्य है। दोनो ही एक लघु-प्रश्वसन से प्रारम्भ होते है और इसके बाद स्वर-तन्तुओ का कुचन होता है (जिससे फेफडे बाहर से बन्द हो जाते है) और फिर एक शक्तिशाली उच्छ्वसन। श्वास-मार्ग के बन्द हो जाने से जैसे ही उच्छ्वसन प्रारम्भ होता है, फेफडो के भीतर दाव बढ जाता है। इसके बाद स्वर-तन्तु अलग हो जाते है और वायु का एक तेज झोका क्षोभक को नासिका या मुख के बाहर फेक देता है।

जमुहाई, उसास तथा हिचकी—ये श्वसन-प्रतिवर्त है। इनका महत्त्व तथा इन्हे उत्पन्न करनेवाले उद्दीपनो के बारे मे अभी तक ज्ञात नही है। जमुहाई एक परोक्ष परिवहन प्रतिवर्त भी हो सकता है, जो रुधिर-परिवहन को उत्तेजित करने के काम आता है। यह बात, कि जमुहाई के बाद शरीर मे तनाव आ जाता है, इसी निष्कर्ष की पुष्टि करती है।

बोलना और गाना—उच्चारित ध्वनिया स्वर-तन्तुओ के स्पन्दन से उत्पन्न होती है। ये तन्तु उच्छ्वसित वायु द्वारा सक्रिय किए जाते है। ध्वनि का गुण स्वर-तन्तुओ के तनाव पर निर्भर करता है और यह एक ऐसी दशा है कि जिसे हम अपनी इच्छा से परिवर्तित या निश्चित कर सकते है। यह भी प्रकट है कि मानविक वाणी की क्षमता के अनुरूप भाति-भाति के उतार-चढाव तथा निरन्तरता को बनाए रखने के लिए हमे स्वेच्छा से श्वसन-क्रिया का नियत्रण करना चाहिए।

शिर-विवर—ललाट और ऊर्ध्वहनु अस्थियो मे (आकृति 20 देखिये) वायु से भरे कुछ विवर है, जिन्हे ललाट-विवर तथा ऊर्ध्वहनु-विवर कहते है। इन विवरों का कार्य अभी तक अज्ञात है। हममे से बहुतो को तो उनके

का भान भी नही होता, पर साइनस या राइनसाइटिस रोग हो जाने पर हममे से कुछ को इनकी उपस्थिति का बडा तीखा ग्राभास मिल जाता है।

सिर के विवरो के भीतर एक पतली झिल्ली का अस्तर होता है और ये पतले मार्गो द्वारा ऊपरी नासा-गुहाग्रो से जुडे होते है। कभी-कभी इन मार्गो से कीटाणु विवरो मे ग्रा जाते है ग्रौर दाह या सदूषण पैदा कर देते है।

रुधिर ग्रौर लसीका-प्रवाह को सहायता देना—ग्रध्याय तीन मे हम देख चुके है कि श्वसन-क्रियाए शिरागत रुधिर ग्रौर लसीका के प्रवाह मे सहायक होती है। यह सहायता ग्रतर्वक्षीय ग्रौर उदरीय गुहाग्रो के भीतर के दाव-परिवर्तनो के कारण सम्भव हो पाती है। प्रश्वसन के समय ग्रतर्वक्षीय गुहा मे दाव गिर जाता है, किन्तु उदरीय गुहा मे वढ जाता है (मध्यच्छद के गिरने के कारण, जो एक हद तक उदरीय ग्रगो पर दाव डालता है)। ग्रपेक्षाकृत पतली भित्ति वाली शिराए ग्रौर लसीका-वाहिकाए दाव-परिवर्तनो के कारण वक्ष मे फैल जाती है ग्रौर उदर मे दब जाती है। उच्छ्वसन के समय इन प्रभावो का क्रम उलट जाता है, क्योकि दाव विपरीत दिशा मे चले जाते है। जब वाहिकाए फैल जाती है, तो उनमे नीचे से ग्रधिक रुधिर ग्रौर लसीका प्रवेश करते है ग्रौर जब वे दबाई जाती है, तो रुधिर ऊपर धकेल दिया जाता है। पम्प करने की यह सहायक क्रिया (हर श्वसन के समय) रुधिर को हृदय मे लौटने मे ग्रौर लसीका को रुधिर मे लौटने मे काफी सहायता पहुंचाती है।

अध्याय 5

पाचक तन्त्र

ईधन, वृद्धि और ऊतको की मरम्मत के लिए आवश्यक तीन आहारीय पोषक कार्वोहाइड्रेट, वसाएँ तथा प्रोटीन है। कार्वोहाइड्रेटो के सरलतम प्रकार 'सरल शर्कराएं' कहलाते है (जैसे ग्लूकोज या अंगूरी शकर, फ्रक्टोज या फल-शर्करा, जिससे कई फल अपनी मिठास प्राप्त करते है)। सरल शर्कराओ की दो इकाइया मिलकर एक द्विगुण शर्करा का निर्माण कर सकती है, जैसे इक्षुशर्करा या सुक्रोज या चीनी, लैक्टोज या दुग्ध-शर्करा, माल्टोज या यव (माल्ट) शर्करा, या सरल शर्कराओ की कई इकाइया मिलकर अधिक जटिल कार्वोहाइड्रेट बना सकती है, जैसे मांड या स्टार्च वसाए ग्लिसरोल और वसीय अम्लो की बनी होती है। प्रोटीन, जो सभी रासायनिक द्रव्यो मे सबसे अधिक जटिल है, एमीनो अम्लो की अति दीर्घ शृखलाओ से बनते है। प्रोटीन और एमीनो अम्लो के बीच की प्रकृतिवाले द्रव्य अपनी जटिलता के क्रम से 'पेप्टाइड', 'पेप्टोन' और 'प्रोटिओज' कहलाते है।

चूकि कार्वोहाइड्रेट, वसाए तथा प्रोटीन इतने जटिल पदार्थ है कि जिस रूप मे वे खाये जाते है, उसी रूप मे देह के काम नही आ सकते, इसलिए पाचनतन्त्र का मुख्य कार्य उन्हे तोड़कर ऐसे सरलतम द्रव्यो के रूप मे ले आना है कि जो दैहिक तरलो मे अवशोपित हो सके।

पाचक अंगों का शारीर

आहार मुख से निगला जाता है और फिर वह ग्रसनी से होता हुआ ग्रसिका या ग्रास-नली, जठर या आमाशय तथा क्षुद्रान्त्र इत्यादि मे जाता है। आमाशय और क्षुद्रान्त्रो मे पचनीय पदार्थ खडित कर दिया जाता है। पाचन के उत्पादन क्षुद्रान्त्र मे अवशोषित हो जाते है। अवशेप वृहदन्त्र तथा मलाशय मे से गुजरकर गुदा द्वारा निष्कासित हो जाता है।

मुख मे श्लेष्मक झिल्ली की एक परत होती है, जिसे 'श्लेष्मल झिल्ली' या 'श्लेष्मा' अथवा 'म्यूकोसा' कहते है। यह श्लेष्म से स्नेहित रहती है, जो इसकी असख्य सूक्ष्म ग्रथियो से स्रवित होता है। 32 दात अस्थीय अग है, जो काटने ('छेदक') या चवाने ('चर्वणक') आदि के लिए उपयुक्त होते है और जो अन्त-र्ग्रहीत खाद्य को निगलने के लिए तैयार करने के काम आते है। दातो पर एनेमल या दतवेष्ट की एक पतली वाहरी परत होती है जो सामान्यतः क्षयकारी कारको के लिए अभेद्य होती है, लेकिन इस वात के कई प्रमाण है कि भोजन मे मिठाइयो (शर्करा) की अधिक मात्रा एनेमल को भेद देती है और दन्त-क्षय करती है।

दातो और पेशीय जिह्वा का चवाने मे महत्त्वपूर्ण स्थान है। जीभ भोजन की
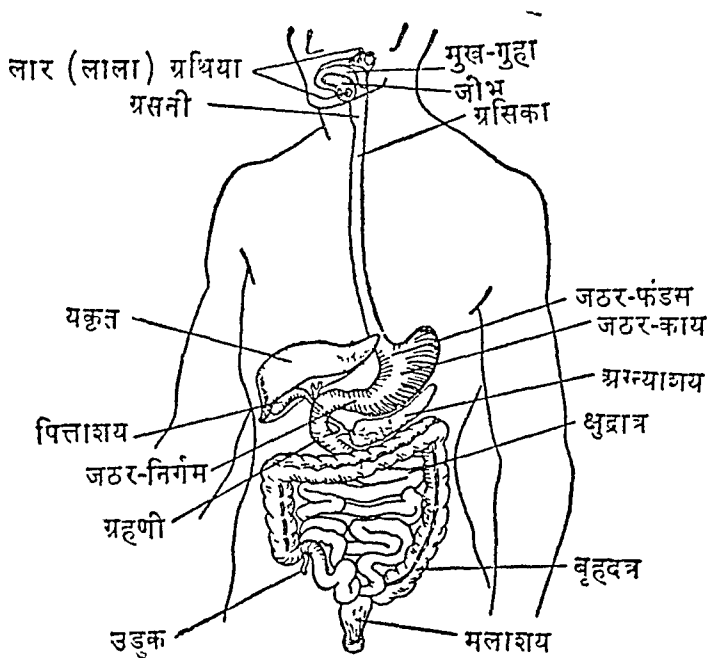
आकृति 14—पाचन-तंत्र का आरेख

पाचक क्षेत्र की यात्रा का आरम्भ करती है। मुख मे आनेवाली अधिकाश लार लाला-ग्रथियो की तीन जोडियो से स्रवित की जाती है। ग्रथीय कोशिकाए छोटी-छोटी वाहिनियो मे लार स्रवित करती है, जो मिलकर बडी वाहिनिया बनाती है और अन्त मे एक या दो महावाहिनियो मे परिवर्तित हो जाती है, जो तरल को मुखीय गुहा मे ले जाती है।

मुख्य आहार-नाल के सभी भागो का आधारभूत ढाचा यही है। हर भाग अनिवार्यत. चौपरती भित्तियो की बनी एक नलिका है। ल्यूमेन या गुहा से लेकर बाहर की ओर की ये परते क्रमश 'श्लेष्मा' या 'म्यूकोसा' 'आन्तरिक संयोजी ऊतकीय परत' 'पेशीय परत' तथा 'बाह्य सयोजी ऊतकीय परते है' (आकृति 15 देखे)। इन परतो के रूपातरण विभिन्न भागो के कार्यो से सहसम्बन्धित किए जा सकते है।

श्लेष्मा या म्यूकोसा—ग्रासनली या ग्रसिका मे श्लेष्मा मुख्यत बहुपरतीली इपीथीलियम का बना होता है। अधिक घर्षणवाले अंगो मे अधिकतर इसी प्रकार का श्लेष्मा पाया जाता है। आमाशय और आतो मे सभी जगह श्लेष्मा की कोशिकाएं स्तंभाकार होती है। आमाशय के अस्तर मे कई सलवटे होती है, जिससे इसका सतही क्षेत्रफल बढ जाता है। इसमे असख्यो सूक्ष्म ग्रंथिया भी होती है, जो सतह के भीतर घुसी होती है। क्षुद्रान्त्र का अस्तर देखने मे बडा ही चिकना और मखमल की तरह का होता है। पर सूक्ष्मदर्शी से देखने पर यह पता चलता है कि इसमे असख्यो ग्रन्थियो के अलावा श्लेष्मा से अगुलियो-जैसे असख्यो प्रवर्ध ल्यूमेन

की तरफ जाते है। वृहदंत्र में श्लेष्मा दूसरे क्षेत्रो की अपेक्षा कम विवर्तित होता है, लेकिन इसमे श्लेष्मा स्रवित करनेवाली कई कोशिकाएं अवश्य होती है। इस प्रकार इस नली के हर भाग के श्लेष्मा मे विशिष्ट वैभिन्न्य होता है।

आन्तरिक संयोजी ऊतकीय परत—समस्त पाचक क्षेत्र मे यह परत बहुत ही थोडी विभिन्नताएं रखती है। रुधिर-वाहिकाओं की कई बडी शाखाए यहा होकर जाती है और यहा से वे ऊतक की अन्य परतो को छोटी-छोटी शाखाएं भेजती है। इसके अलावा इस परत मे तंत्रिका-तंतु और तंत्रिकायिक कोशिका-पिंडो का एक जाल भी है।

पेशीय परत—ग्रसिका के ऊपरी दो-तिहाई भाग को छोडकर सभी भागों (जिसमे, ककाल-पेशी होती है) की पेशीय परत चिकनी पेशी ही होती है। मोटे तौर पर यह पेशी की एक भीतरी परत मे, जिसके तन्तु वृत्ताकार होकर नली के चारों तरफ जाते है, और एक पेशी की बाहरी परत मे, जिसके तंतु नलिका की लम्बाई की दिशा मे साथ-साथ जाते है, उपविभाजित होती है। वृत्ताकार परत
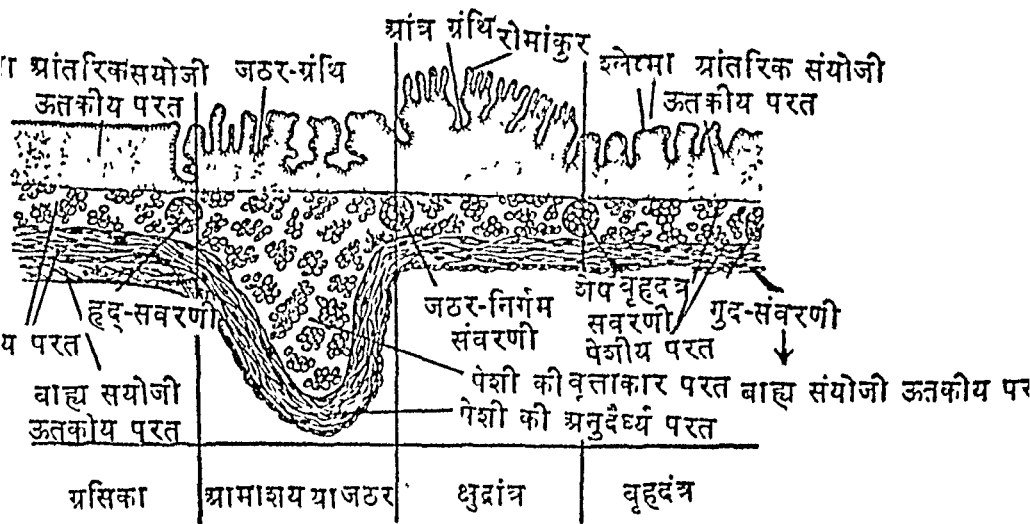
आकृति 15—पाचक क्षेत्र के चारों मुख्य क्षेत्रों की परतों का आरेख

का कुचन ल्यूमेन का प्रकुचन उत्पन्न करेगा। आमाशय (जठर) की पेशी दूसरे भागो से अधिक मोटी होती है और इसके उपविभाग इतने स्पष्ट नही होते। यहा पर वृत्ताकार तथा अनुदैर्घ्य तंतुओ के अलावा अन्य तन्तु भी होते है, जो तिरछे जाते है। वृहतंत्र की अनुदैर्घ्य पेशी एक पूर्ण परत नही। यह पेशी की तीन अलग पट्टियों की बनी होती है। ये पट्टिया वृहदंत्र के बराबर लम्बी नही होती और जब वे कुंचित होती है तो क्षेत्र के इस भाग को मुडा-तुडा हुआ आकार दे देती है।

किन्ही-किन्ही भागो मे—जठर और ग्रसिका के मिलन-बिंदु आमाशय

(जठर) और क्षुद्रान्त्र के मिलन-बिन्दु, क्षुद्र और बृहदन्त्रो के मिलन-बिन्दु और गुदा पर—वृत्ताकार पेशी बहुत मोटी हो जाती है, जिससे पेशी की एक ऐसी छल्लेदार नली बन जाती है कि जो पूर्ण रूप से ल्यूमेन को बन्द कर सकती है। ये छल्ले या सवरणिया क्षेत्र के एक भाग से दूसरे भाग को जानेवाले द्रव्य पदार्थ का नियमन करती है। वृत्ताकार और अनुदैर्घ्य परतो के बीच एक और तन्त्रिकायिक जाल होता है।

बाह्य सयोजी ऊतकीय परत—यह अधिकतर एक सख्त और लचीला सरक्षणात्मक आवरण होता है, जो पाचक क्षेत्र की रक्षा करता है।

आहार का रासायनिक उपखंडन

यद्यपि पाचक क्षेत्र से आहार के सभी अवशेष बाहर निकलने मे दो दिन तक का समय लग सकता है, तथापि उसके पचनीय अश चार से दस घटो के भीतर रुधिर मे अवशोपित हो चुके होगे और कोशिकाओ द्वारो उपयोग के लिए उपलब्ध हो जाएगे। इससे पहले कि हम यह देखे कि, भोजन इस क्षेत्र मे से किस प्रकार गुजरता है, हमे इसके पाचन का अनुरेखन कर लेना चाहिए।

अठारहवी शताब्दी के मध्य से पहले के वैज्ञानिको का यह विश्वास था कि पाचन एक यात्रिक प्रक्रिया है, जिसमे आहार के जठर मे पिसते जाने के साथ-साथ पोपक रस उसमे निचुडकर निकलते जाते है। इसके बाद यह पता चला कि जठर-रस मास को यात्रिक सहायता के बिना जठर के बाहर ही पचा सकते है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि पाचन एक रासायनिक प्रक्रिया है। इस समय इसके बारे मे एक बडा ही रोचक प्रयोग यह हुआ कि एक आदमी को धातु की एक छेददार गेद निगलवा दी गई, जिसमे खाना भरा था। गेद मे के छिद्रो मे से होकर जठर-रस भोजन पर हमला कर सकते थे, पर किसी भी यात्रिक शक्ति का गेद विरोध करती। कुछ समय के बाद गेद बाहर निकाल ली गई और यह देखा गया कि उसमे का भोजन पच चुका था।

लार-पाचन—लार की पाचन-क्रिया उसकी अन्य क्रियाओ कम महत्त्व-पूर्ण है।

यदि लार-स्राव यथेष्ट नही है, तो मुह और ग्रसनी की झिल्लिया शुष्क हो जाती है और प्यास की अनुभूति उत्पन्न हो सकती है। किन्तु इन झिल्लियो का मात्र शुष्क से हो जाना इस अनुभूति के लिए यथेष्ट उद्दीपन नही है। यह प्यास उसी समय अनुभव होती है जब देह मे जल की वस्तुत कमी के कारण (जब कि सामान्य लार-स्राव के लिए देह मे यथेष्ट जल नही होता) शुष्कता उत्पन्न होती है।

लार मुख और दातो को धोती तथा स्वच्छ करती है और उन द्रव्यो को जमा होने देने से रोकती है, जो दातो को क्षति पहुचा सकते है। यह मुख मे के अवयवो को भी चिकना तथा आर्द्र करती है। आर्द्र तथा स्वस्थ वातावरण बनाए रखने के अलावा यह क्रिया बातचीत के दौरान जिह्वा और होठो को चलने मे सहायता

भी देती है। और चूंकि ठोसो का आस्वादन घुले हुए रूप मे ही किया जा सकता है, इसलिए लार की विलय-क्रिया स्वाद की अनुभूति भी पैदा करती है।

जब भोजन मुख मे प्रवेश करता है, तो यह लार के साथ अच्छी तरह से मिल जाता है। इससे भोजन कही अधिक कोमल और निगलने लायक बन जाता है। उदाहदरण के लिए, सूखे बिस्कुट को लार के अभाव मे निगलना बहुत कठिन है। मंडमय आहार और लार का मिश्रण लारमय प्रक्रिण्व या एजाइम ट्यालिन का वास्तविक पाचन-क्रिया प्रारभ करने का अवसर देता है। ट्यालिन की उपस्थिति मे माड (श्वेत सार), जो एक जटिल कार्बोहाइड्रेट है, विखंडित होकर 'माल्टोज' नाम की द्विगुण शर्करा के रूप मे आ जाता है।

एजाइम या प्रक्रिण्व एक प्रकार के उत्प्रेरक, अर्थात् ऐसे पदार्थ हैं, जो उन रासायनिक प्रक्रियाओ को अपनी उपस्थिति से तेज कर देते है, जिनकी गति इनके बिना या तो बहुत धीमी रहती है या होती ही नही। प्रतिक्रियाओं में एजाइम स्वय उपयुक्त नही हो जाते, वरन् अपनी उत्प्रेरक क्रिया दुहराने के लिए फिर अपनी स्वाभाविक हालत मे आ जाते है। यद्यपि एंजाइमो मे कोई परिवर्तन नही आता, फिर भी वे देह मे लगातार विलुप्त होते रहते है। अन्य एजाइम उनका रासायनिक उपखडन कर सकते हैं, या जिन विलयो मे वे विद्यमान है, उनकी अम्लता मे आए तीव्र परिवर्तन उन्हे निष्क्रिय कर सकते है, या फिर वे देह से उत्सर्जित भी किए जा सकते है।

किसी भी एजाइम की सक्रियता पर कई कारक प्रभाव डाल सकते है। हर एजाइम एक निश्चित ताप-सीमा के भीतर ही सर्वाधिक कार्य करता है। चूकि शरीर का ताप बहुत थोडा ही घटता-बढता है, इसलिए यह कारक शरीर के लिए बहुत महत्त्व रखता है। प्रत्येक एजाइम एक विशेप अम्लता पर भी सर्वाधिक कार्य करता है। यदि यह किसी दिशा मे बहुत अधिक घट-बढ जाए, तो एजाइम निष्क्रिय हो जाएगा। लार सामान्यत: एक अम्लीय द्रव है, किन्तु यह कुछ क्षारीय भी हो सकती है। ट्यालिन उन विलयो मे सबसे ज्यादा प्रभावी होती है, जो लगभग उदासीन है (अर्थात् जो उतने ही अम्लीय है, जितने कि क्षारीय)।

एजाइमो की बड़ी विशिष्टिता और प्रत्येक के विशेष कार्य ही करने की क्षमता के कारण वे कुछ ही पदार्थो पर आक्रमण करते है। हो सकता है कि इस प्रकार वे उत्पन्न पदार्थो पर कार्य न भी कर सके। उदाहरणार्थ, ट्यालिन केवल माड (श्वेतसार) पर ही क्रिया करता है, पर वह माल्टोज का उपखडन नही कर सकता।

चूकि भोजन मुह मे बहुत थोडे समय तक ही रहता है, इसलिए लार-पाचन भोजन के आमाशय मे पहुचने तक पूर्ण नही हो जाता। साधारणतया यह आध घटे या उसके आसपास तक जठर मे चलता रह सकता है। भोजन का मडमय अश सामान्यत. पाचन के अन्तर्गत सबसे अत मे आता है। पहले निगला हुआ भोजन आमाशय की दीवारो से लगने की, और बाद मे आए भोजन के चारो

ओर एक सरक्षणात्मक आवरण बनाने की चेष्टा करता है, जिससे बाद मे आने वाले भोजन का जठर-रस के साथ तीव्रता से मिश्रण नही हो पाता। इन परि-स्थितियो में ट्यालिन मे मड को तब तक उपखडित करता रहता है कि जब तक अत्यधिक अम्लीय जठर-रस प्रकिण्व को निष्क्रिय नही कर देते।

जठरीय पाचन—कई जठर-ग्रथिया एक जलीय रस स्रवित करती रहती है, जिसमे हाइड्रोक्लोरिक अम्ल की खासी मात्रा होती है। इसलिए 'अम्लीय आमाशय' एक स्वाभाविक, और जैसा कि हम बाद मे देखेगे, एक उपयोगी अवस्था है, जिसमे चिकित्सक की राय के बिना कभी भी परिवर्तन नही करना चाहिए। जठर-रस के एजाइम केवल तीव्र अम्लीय माध्यम मे ही सबसे अच्छा कार्य करते है।

आमाशय के अन्य तीन भाग फण्डस, काय और पाइलोरस या जठर-निर्गम कहलाते है (आकृति 14 देखे)। फडस और काय की ग्रथियो मे दो महत्त्वपूर्ण प्रकारो की कोशिकए होती है। एक प्रकार की कोशिकाए अम्ल स्रवित करती है और दूसरी प्रकार की जठर-प्रकिण्व।

पेप्सिन इन दोनो प्रकारो के एजाइमो मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। यह अंतर्ग्रहीत भोजन के प्रोटीनो पर आक्रमण करती है और उन्हे अधिक सरल और सूक्ष्म तत्त्वो मे खडित कर देती है। साधारणतया यह पाचन कुछ माध्यमिक पदार्थो की उत्पत्ति का पूर्वगामी होता है, जैसे 'प्रोटिओज' और 'पेप्टोन'।

रेनिन एक एजाइम है, जो विशेष रूप से शिशुओ मे दुग्ध का आतचन करता है। यह प्रक्रिया रुधिर के आतचन की तरह ही है। दूध का प्रोटीन, 'कैसीन', अपनी विलय अवस्था से अविलय अवस्था मे आ जाता है। अब चूकि कैसीन अविलेय हो गया है, इसलिए यह घोल के रूप मे आमाशय को शीघ्र नही छोड सकता और पेप्सीन द्वारा क्रिया की जाने के लिए रह जाता है। इस मामले मे उत्पन्न थक्का दही है और वह द्रवाश, जो अलग हो जाता है, मट्ठा या छाछ कहलाता है (यह रुधिर-सीरम के समान है)।

क्षुद्रान्त्र मे पाचन—पाचन का अधिकाश भाग क्षुद्रान्त्र मे सम्पन्न होता है। यकृत् या जिगर अग्न्याशय तथा आन्त्रिक श्लेष्मा के स्राव आहार का ऐसे सरल पदार्थो मे खडन सुनिश्चित कर देते है, जो आसानी से रुधिर मे अवशोपित हो सकते है।

पित्त—यकृत्-कोशिकाए अविरल रूप से पित्त स्रवित करती रहती हे, जो हरे या हरे-भूरे रग का एक तरल है। यकृत् से एक वाहिनी पित्त को क्षुद्रान्त्र तक ले जाती है (आकृति 16 देखे)। यदि अंत्र पित्त को ग्रहण करने को तैयार नही है, तो यह एक अन्य वाहिनी द्वारा पित्ताशय मे चला जाता है, जहा यह जमा रहता है और आवश्यकता पड़ने पर फिर बाहर आ जाता है। ऐसे अवसर पर यह पित्ताशय की वाहिनी से सामान्य या मूल पित्तवाहिनी (जो यकृत् और पित्ता-शय की वाहिनियो के सयोग से बनती है), मे चला आता है और इससे होता हुआ
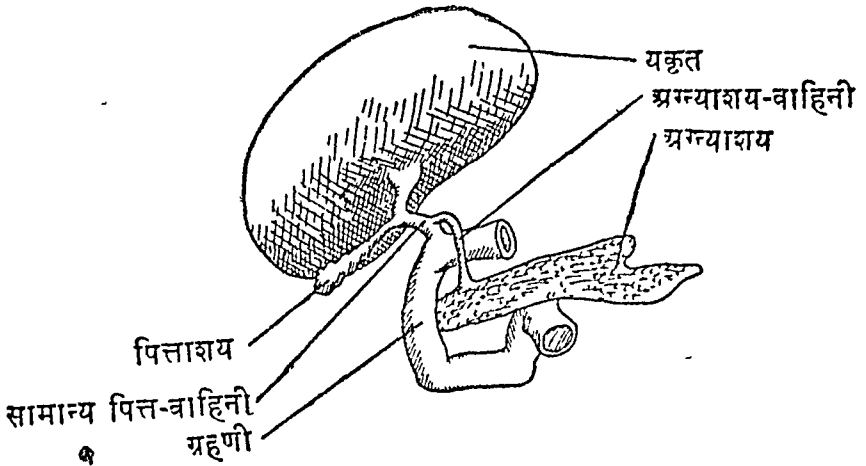
आकृति 16—पित्त तथा अग्न्याशय-वाहिनियों का संबंध

ग्रहणी मे जाता है, जो क्षुद्रान्त्र का आरभिक भाग है।

पित्त के मुख्य सरचक भोजन की वसाओ का ग्रहणी मे पायसीकरण कर देते है। वसा की गोलिकाए आकार मे कम हो जाती है और उनकी एक-दूसरे से मिल जाने की प्रवृत्ति भी कम हो जाती है। इस प्रकार अग्न्याशयी वसा-भजक एजाइम के आक्रमण और क्रिया के अतर्गत आनेवाली वसा की कुल सतह वढ जाती है।

अग्न्याशय-रस—अग्न्याशय एक हलके दूधिया रग की ग्रंथि है, जो क्षुद्रान्त्र को ग्रहणी के साथ-साथ उदरीय पित्त के साथ जोडनेवाली झिल्ली मे स्थित है। इसकी कोशिकाए एक क्षारीय विलय स्रवित करती है, जिसमे प्रचुर एजाइम होते है और उन्हे अग्न्याशय-वाहिनी द्वारा ग्रहणी मे भेज देती है (आकृति 16)।

अग्न्याशयी लाइपेज—पित्त द्वारा पायसीकृत वसा पर अग्न्याशयी लाइपेज कार्य करता है और उन्हे वसीय अम्लो तथा ग्लिसरोल मे परिवर्तित कर देता है। चूकि केवल यही एक प्रभावी वसाभजक एजाइम है, इसलिए इसकी अनुपस्थिति वसाओ के पाचन तथा पूर्ण अवशोषण को रोक सकती है।

ट्रिप्सीन—प्रोटीन को तोडनेवाला अग्न्याशयी एजाइम है। यह उस प्रोटीन पर आक्रमण कर सकता है, जिसका आमाशय मे पहले आशिक पाचन नही हो पाया है, या यह उन प्रोटिओजो तथा पेप्टोनो पर क्रिया कर सकता है, जो पेप्सिन की पाचन-क्रिया के कारण उत्पन्न होते है। यह इन पदार्थो को भजित करके और भी सरल यौगिको, पेप्टाइडो, मे परिवर्तित कर देता है।

अग्न्याशयी ऐमिलेज—ट्यालिन से इस बात मे भिन्न है कि यह पके या अनपके दोनो प्रकार के मडो को तोड़कर माल्टोज मे परिवर्तित कर सकता है। ट्यालिन केवल पका हुआ मण्ड ही पचा सकती है।

आंत्र रस—अत्र की श्लैष्मिक ग्रन्थिया भी एक क्षारीय द्रव स्रवित करती है, जिसमे कई एजाइम होते हे। ये एजाइम भोजन का पाचन पूरा करके उसे ऐसे यौगिको मे वदल देते है, जो आसानी से अवशोषित हो सकते है।

पेप्टाइड—यह ऐसे एंजाइमो की एक शृंखला है जो भिन्न-भिन्न जटिलता के पेप्टाइडो को तोड़कर एमीनो अम्लो मे बदल देते है। आन्त्र लाइपेज साधारणतया अधिक महत्त्वपूर्ण नही है, क्योकि यह अग्न्याशयी लाइपेज की अपेक्षा कमजोर होता है। फिर भी यह इतना शक्तिशाली तो है ही कि अग्न्याशयी लाइपेज की अनुपस्थिति मे अंतर्ग्रहीत वसा के लगभग अर्धांश को वसीय अम्लो तथा ग्लिसरोल मे बदलकर पचा सकता है।

यहा कुछ कार्बोहाइड्रेट एजाइम भी होते है। माल्टेज माल्टोज को ग्लूकोज मे परिवर्तित कर देता है। दुग्ध-शर्करा—लैक्टोज—लैक्टेज एजाइम द्वारा ग्लूकोज तथा गेलेक्टोज मे भजित हो जाती है, और इसी प्रकार साधारण शर्करा—इक्षु-शर्करा—सुक्रेज द्वारा ग्लूकोज और फ्रुक्टोज मे परिवर्तित कर दी जाती है।

पाचक स्रावों का नियमन

पाचक रसो का स्राव निरतर होता रहता है, किन्तु जब-जब उनकी आवश्यकता विशेष रूप से पड़ती है, तब कई ऐसी प्रक्रियाए शुरू हो जाती है, जो उनका प्रवाह तेज कर देती है। पाचक ग्रथियो की क्रिया को नियत्रित करनेवाले ये कारक तन्त्रिकायिक, रासायनिक या यात्रिक प्रवृत्ति के हो सकते है।

लार-ग्रथियों का नियन्त्रण—हम सब जानते है कि जब किसी वस्तु को मुह मे रखा जाता है, तो इसके फलस्वरूप लार-प्रवाह बढ जाता है। यही नही, भोजन के विचार, भोजन के दर्शन या गध का भी यही परिणाम हो सकता है। (जरा अपने प्रिय भोज्य पदार्थ के बारे मे सोचिए और देखिए कि आपके मुह मे कैसे लार भर आती है!) प्रयोग द्वारा पाया गया है कि ऐसी स्थितियो मे वर्धित लार-प्रवाह प्रतिवर्ती तन्त्रिकायिक नियत्रण मे होता है।

विलय-रूप मे आए पदार्थ जिह्वा की स्वाद-कलिकाओ को रासायनिक रूप से उत्तेजित कर देते है, जिससे मस्तिष्क के पिछले भाग मे स्थित लार-केन्द्रो को सवेदी तन्त्रिका-सवेग भेजे जाते है, और उनसे प्रेरक सवेग भेज लार-ग्रन्थियो को दिए जाते है। अत्योक्त सवेग ग्रन्थियो की क्रियाशीलता को तेज कर देते है। भोजन के विचार, दर्शन या बोध के कारण या मुह की झिल्ली की परत के यात्रिक उत्तेजन से भी सवेदी सवेग लार-ग्रथियो को जाते है। मुह के खाली होने पर उत्पन्न हुए प्रतिवर्त, अनुकूजित या अधोगत प्रतिवर्तो के उदाहरण है (९वा अध्याय देखिए), जो किसी व्यक्ति को अपने अनुभवो द्वारा प्राप्त होते है और वशागत नही होते। मुह के अवयवो की उत्तेजना के कारण उत्पन्न लार-अनुक्रियाए वशागत प्रतिवर्त है, अर्जित नही।

उद्दीपन की लार-अनुक्रियाए बडी ही प्रयोजनात्मक होती है। उदाहरण के लिए, यदि मुह मे अम्ल ले लिया जाए, तो इसके फलस्वरूप प्रचुर लार-प्रवाह होने लगता है। यह अम्ल को तनु (हलका) कर देता है और क्षति को रोकने का यत्न करता है। इसके विपरीत भोजन अपेक्षाकृत कम लार उत्प्रेरित करता है

और यह लार एंजाइम तथा श्लेष्मा से परिपूर्ण होती है। भोजन ट्यालिन के साथ मिश्रित होता है, स्नेहित होता और अधिक सरलता से निगल लिया जाता है। ये दो प्रकार के लार-स्राव लार-ग्रंथियो के विभिन्न कोशिका-प्रकारो से आते है; एक प्रकार जलीय लार उत्पन्न करता है, तो दूसरी श्लेष्मामय एंजाइम से परिपूर्ण लार। चूकि दोनों प्रकार की कोशिकाओ को भिन्न-भिन्न तन्त्रिकाए गतिमान करती है, अतः उनका स्राव अलग-अलग या एक साथ भी उत्पन्न किया जा सकता है।

जठर-स्राव का नियन्त्रण—मनुष्य मे जठर-ग्रन्थिया अविरल रूप से—निद्रा तक मे—सक्रिय रहती है। किन्तु तन्त्रिकायिक, यान्त्रिक और रासायनिक कारक उनकी क्रिया मे परिवर्तन ला सकते है।

लार-स्राव की तरह, मुख मे भोजन की उपस्थिति या उसके विचार, दृश्य अथवा गन्ध से जठर-रस का प्रतिवर्ती स्राव पैदा हो सकता है। सामान्यत ऐसा भोजन के आमाशय मे जाने से पहले होता है और इसे जठर-स्राव की मानसिक कला कहते है। इस प्रतिवर्ती प्रतिक्रिया की प्रेरक तन्त्रिकाए वेगस-तन्त्रिकाएं हैं, जो अपनी शाखाएं आमाशय को भेजती है। यदि ये काट दी जाती है तो जठर-स्राव की मानसिक कला समाप्त हो जाती है।

आमाशय मे घुसने के बाद भोजन उसकी दीवारो को फैलाता है; यह यान्त्रिक प्रभाव श्लैष्मिक ग्रन्थियो को अधिक जठर-रस स्रवित करने के लिए उत्तेजित कर देता है। यह जठर-स्राव की क्रिया जठर-कला मे होती है। इस अवधि मे जठर-स्राव का रासायनिक उद्दीपन भी होता है। इससे पहले के मानसिक जठर-स्राव द्वारा मुक्त हुई पेप्सिन भोजन के प्रोटीन पचाने लगती है। आंशिक प्रोटीन-पाचन की उपज—प्रोटिओज तथा पेप्टोन—जठर-निर्गम श्लेष्मा को गैस्ट्रिन नामक पदार्थ उत्पन्न करने के लिए उत्तेजित करते है। गैस्ट्रिन रुधिर मे अवशोषित हो जाता है और वह इसे फंडस की ग्रंथियों तथा आमाशय-काय को ले जाता है। गैस्ट्रिन के प्रभाव से ग्रंथिया और भी अधिक जठर-रस स्रवित करती है।

मानसिक स्राव के कारण जठर-रस भोजन पहुंचने से पहले ही आमाशय के ल्यूमेन मे पहुंच जाता है और तुरन्त ही उसे पचाने का कार्य करने लगता है। स्वयं भोजन और उसकी अवपची उपज अब पाचन के जठरीय भाग को पूर्ण कराने के लिए अधिक रस का स्राव करते है।

अग्न्याशयी और पित्तीय स्राव का नियन्त्रण—वेगस-तन्त्रिकाए अग्न्याशयी और यकृत्-कोशिकाओ को भी तन्तु भेजती है। किसी वेगस-तन्त्रिका का उद्दीपन अग्न्याशय-रस और पित्त का स्राव बढा सकता है। इन दोनों पाचक रसो का मनसिक प्रवाह प्रतिवर्ती रूप से उत्प्रेरित किया जा सकता है, किन्तु लार और जठर-स्रावो की तरह यह प्रवाह अधिक महत्त्वपूर्ण नही है। वेगस-तंत्रिका के काट देने पर पित्त और जठर-रस की उत्पत्ति बन्द नही हो जाती।

इन स्रावो का नियन्त्रण तन्त्रिकायिक नियंत्रण से अधिक महत्त्वपूर्ण है।

जब ग्रामाशय के ग्रम्लीय तत्त्व ग्रहणी मे प्रवेश करते है ग्रौर उसके श्लेष्मा के सम्पर्क मे ग्राते है, तो सेक्रेटिन नाम का एक रासायनिक द्रव्य उत्पन्न होता है। एक बार मुक्त होने पर सेक्रेटिन रुधिर मे ग्रवशोषित होकर ग्रग्न्याशय तथा यकृत् तक चला जाता है ग्रौर इनकी ग्रन्थियो का स्राव बढा देता है। यह बात कि सेक्रेटिन की उन्मुक्ति किसी ग्रन्य जठरीय ग्रतर्वस्तु से नही, वरन् ग्रम्ल से होती है, ग्रहणी मे ग्रम्ल के प्रवेश के बाद ग्रग्न्याशयिक रस तथा पित्त के वर्धित स्राव द्वारा दर्शाई जा सकती है।

यद्यपि सेक्रेटिन पित्त का स्राव बढा देता है, पर यह पित्ताशय को सचित पित्त निकालने पर बाध्य नही करता। 'कोलीसिस्टोकाइनिन' नामक पदार्थ, जो ग्रहणी-श्लेष्मा पर वसा की क्रिया द्वारा उत्पन्न होता है, रुधिर मे ग्रौर उसके द्वारा पित्ताशय मे ले जाया जाता है ग्रौर पित्ताशय को प्रकुचित कर देता है। इस प्रकार जठरीय ग्रतर्वस्तुए पित्त का स्राव बढा देती है ग्रौर यदि वसा उपस्थित है, तो पित्ताशय का सचित पित्त स्खलित कर देती है। इस प्रकार वसा का समुचित पायसीकरण सुनिश्चित हो जाता है।

ग्रांत्र ग्रंथियो का नियन्त्रण—ग्रात्र ग्रन्थियो के ऊपर तन्त्रिकायिक ग्रौर रासायनिक दोनो ही प्रकार के नियत्रण दृष्टिगोचर होते है, किन्तु उनकी वास्तविक क्रियाविधियो के बारे मे ग्रभी कोई निश्चित बात नही कही जा सकती। ग्रात्र रस ग्रविरल रूप से स्रवित होता रहता है, लेकिन क्षुद्रात्र मे भोजन के पहुच जाने पर वह बढ जाता है।

पाचक क्षेत्र में भोजन का निर्गमन

ग्राइए, ग्रब हम यह देखे कि ग्रतर्ग्रहीत भोजन पाचक रसो के साथ किस प्रकार मिश्रित होता है ग्रौर पाचक क्षेत्र से गुजरने के साथ-साथ इसकी तरलता किस प्रकार बदलती जाती है।

चर्वण—नीचे के जबड़े की ऊपर-नीचे, ग्रागे-पीछे, दाए-बाए चलने की क्रिया से भोजन छोटे-छोटे टुकडो मे टूट जाता है ग्रौर वह लार के साथ ग्रच्छी तरह मिल जाता है। जिह्वा ग्रौर गाल की गतिया इसीलिए महत्त्वपूर्ण है कि वे भोजन को दातो के बीच मे धकेल देती है ग्रौर फिर इस सूक्ष्म विभाजित द्रव्य को गोलाकार ग्रासो मे परिवर्तित कर देती है।

निगलना—चवाए हुए भोजन का ग्रास जिह्वा पर जाता है ग्रौर फिर जिह्वा-पेशियो के कुचन द्वारा पीछे धकेला जाता है, यहा तक कि वह जिह्वा के पिछले भाग पर ग्राकर ठहर जाता है। इसके बाद जिह्वा के नीचे की एक पेशी कुचित होती है ग्रौर जिह्वा को मुख की छत की तरफ ऊपर उठाती है ग्रौर ग्रास को ग्रसनी मे पीछे की तरफ भेज देती है। निगलने की यह पहली मजिल ऐच्छिक नियंत्रण मे होती है, लेकिन भोजन के ग्रसनी मे पहुंचने के बाद ग्रनैच्छिक प्रतिवर्ती नियत्रण स्थापित हो जाता है।

ग्रसनी की पेशिया कुचित होने लगती है और ग्रास ग्रासनली या ग्रसिका में धकेल दिया जाता है। ग्रास का नासा-गुहा, स्वरयन्त्र या ग्रसिका के बजाय वापस मुंह मे जाने से रोकने के लिए यहा सहायक प्रतिवर्ती क्रियाएं आवश्यक होती है। भोजन मुख में वापस नही जा सकता, क्योंकि जिह्वा तालू से लगी उसी स्थिति मे रहती है जिसमे वह पहली मजिल में आई थी; यह ऊपर नासा-गुहा मे भी नही जा सकता, क्योंकि कोमल प्रतिवर्त द्वारा तालु उठ जाता है और ग्रसनी को उस जगह पर बन्द कर देता है, और यह स्वर-तन्त्र मे भी नही जा सकता, क्योकि प्रतिवर्ती पेशीय कुचन इस अग को ऊपर उठाकर जिह्वा और कठच्छद के नीचे ले आता है। इसी समय स्वर-तन्तु खिचकर एक साथ हो जाते है और श्वसन अवरुद्ध हो जाता है। इस प्रकार निगलने और श्वसन की क्रिया का एक ही साथ होना रोक दिया जाता है और निगला हुआ पदार्थ केवल एक ही जगह जा सकता है और वह है ग्रसिका।

ग्रसिका में क्रमाकुचन—ग्रसिका मे पहुचने के बाद ग्रास क्रमाकुचन या लहरी गति द्वारा नीचे भेजा जाता है। क्रमाकुचन एक प्रकार की गति है, जो पाचन-क्षेत्र के अधिकाश भागो मे व्याप्त है। इसमें प्रकुचन की एक तरग उठती है और उसके एकदम बाद और पहले शिथिलन की तरग उठती है। प्रकुचन क्षेत्र की भित्तियो की वृत्ताकार पेशी के कुंचन से उत्पन्न होता है। प्रकुचन के इस गतिमान वलय के आगे आया हर पदार्थ उसी की दिशा मे धकेल दिया जाता है।

साधारणतया निगलने की हर क्रिया क्रमाकुचन की एक प्रतिवर्ती तरंग उत्पन्न करती है, जो ग्रासनली की पूरी लम्बाई मे फैल जाती है। जिह्वा के मूल या ग्रसनी की बाहरी भित्ति का यान्त्रिक उद्दीपन तुरन्त ही ऐसी तरग पैदा कर देता है। मस्तिष्क की अतस्था मे स्थित निगलने के केन्द्र को सवेदी तन्त्रिकायिक सवेग भेजे जाते है, जो प्रेरक तत्रिकाओं द्वारा उन्हें पुन. ग्रसिका की भित्ति की वृत्ताकार पेशी को प्रेषित कर देता है। क्रमाकुचन तरग ग्रास-नली की दीवार के फैलने से भी प्रतिवर्ती रूप से उत्पन्न की जा सकती है। बडा ग्रास जो एक ही क्रमाकुचन तरग द्वारा ग्रास-नली की पूरी लम्बाई पार नही कर सकता, इस प्रकार द्वितीयक तरगे उत्पन्न कर सकता है। हर क्रमिक तरंग द्वारा यह आमाशय के अधिक निकट ले जाया जाता है।

ग्रसिका के ऊपरी दो-तिहाई भाग मे क्रमाकुचन उन वागी तन्त्रिकाओं की अखडता पर निर्भर करता है, जो उसकी भित्तियो की पेशी को सक्रिय करती है। निचले एक-तिहाई भाग मे चिकनी पेशी होती है, जिसकी क्रिया भित्तियो के भीतर स्थित तन्त्रिकाओ द्वारा नियत्रित होती है।

ठोस या अर्धठोस भोजन मुख से आमाशय तक 6 से 7 सैकिण्ड में चला जाता है। क्रमाकुचन तरंग ग्रसिका तथा आमाशय के मुहाने पर स्थित पेशीय वलय 'हृद्-सवरणी' तक ग्रास के पहले ही पहुच जाती है। सवरणी, जो कुचित हो चुकी थी, अब शिथिलित होती है और भोजन आमाशय मे चला जाता है। द्रव

सवरणी मे एक सैकिड से भी कम मे पहुच जाते है, क्योकि वे ग्रसनी मे दाव के साथ भेजे जाते है और ग्रसिका मे वे क्माकुचन क्रिया के वजाय गुरुत्वाकर्षण के प्रभाव से नीचे चलते चले जाते है। द्रव तवतक हृद्-सवरणी के ऊपर ही एकत्रित रहता है जव तक कि क्माकुचन तरग, जो अपेक्षाकृत धीमी चाल से आती है, संवरणी तक आकर उसे शिथिलित नही कर देती।

जो पशु उपर्युक्त ढग से द्रवो को निगलते है, वे सिर नीचा रहने पर भी द्रव पी सकते है, क्योकि वे द्रव को गुरुत्वाकर्षण के विरुद्ध भी ग्रासनली मे धकेल सकते है। कुछ पक्षियो मे द्रव को ग्रास-नली मे नही धकेला जा सकता। इसलिए इन पक्षियो को द्रव को ग्रास-नली मे पहुचाने के लिए सिर उठाकर द्रव को नीचे ढुलकाना पडता है। क्माकुचन तरग फिर द्रव को ग्रासनली के नीचे ले जाती है।

आमाशय की गतिया—प्रायोगिक जन्तुओ मे पाचन-क्षेत्र की गतियो को प्रत्यक्ष निरीक्षण द्वारा देखा जा सकता है। मनुष्य के साथ ऐसा करना सम्भव नही है। इसे देखने का सवसे अच्छा ढग आहार के पाचन के दौरान आमाशय तथा आतो के एक्स-रे फोटोग्राफ लेना है। सम्वन्धित व्यक्ति को खिलाये गए भोजन मे ऐसे पदार्थ होते है, जो एक्स-किरणों के प्रति अपारदर्शी होते है (जैसे वेरियम लवण)। ये पदार्थ उन अगो की, जिनमे वे विद्यमान होते है, वाह्य रेखा को रेखाकित कर देते है।

इस तरीके द्वारा यह निर्धारित किया जा चुका है कि भोजन के प्रवेश के पहले आमाशय निष्क्रिय होता है, और फडस को छोडकर, जो गैस के कारण फैला हुआ होता है, इसकी गुहा अस्तित्वहीन होती है, क्योकि इसकी भित्तिया एक साथ सिकुडी हुई होती है। अन्दर आता हुआ भोजन अपने खुद के भार से भित्तियो को अलग कर देता है और नीचे की ओर चला जाता है। इसके कुछ ही वाद क्माकुचन तरग आमाशय के लगभग आधे निचले भाग से प्रारम्भ होती है और जठरनिर्गम क्षेत्र की ओर चली जाती है आमाशय-काय की अपेक्षा ये तरगे जठरनिर्गम क्षेत्र मे अधिक शक्तिशाली होती है और पाचन के साथ-साथ, ये तेज होती जाती है। जठरनिर्गम क्षेत्र मे तरग-पर-तरग आकर भोजन को मथती है, इसे और भी छोटे-छोटे टुकडो मे विभाजित करती है, जठर-रस के साथ इसे खूब मिश्रित करती है और इसे अर्ध तरलता की अवस्था मे ले आती है।

आमाशय से साधारण भोजन तीन से पाच घटो के भीतर पूरी तरह से निकल जाता है। हा, यह प्रक्रिया एकदम नही होती, वल्कि धीरे-धीरे होती है। हर थोडी अवधि के वाद थोडा-सा द्रव्य जठरनिर्गम से ग्रहणी मे धकेल दिया जाता है। आमाशय और क्षुद्रात्र को विभाजित करनेवाली जठरनिर्गम सवरणी प्रकटत: हर समय ही खुली रहती है और छलनी का कार्य करती है। जब जठरीय अतर्वस्तुए सही तरलता की हो जाती है, तो वे आगे निकल जाती है। इस प्रकार आमाशय से द्रव बहुत जल्दी निकल जाते है (कुछ ही मिनटो मे)। भोजन के ठोस सरचको मे से कार्वोहाइड्रेट सवसे शीघ्रता से निकलते है। और फिर प्रोटीन तथा

अंत मे वसाएं। वसाए खास तौर से जठरीय सक्रिया को कम कर देती है जिसके कारण वसीय भोजन के पाचन मे अधिक समय लगता है।

आमाशय के खाली होने की अवधि पर दूसरे कारक भी प्रभाव डालते है। यदि ग्रहणी भरी हुई है तो आमाशय को खाली होने मे ग्रहणी के खाली रहने के समय लगनेवाले समय की अपेक्षा अधिक समय लगेगा। क्रमाकुंचन तरगे जितनी ही बलवान होगी, आमाशय उतनी ही जल्दी खाली हो जायेगा। आमाशय मे खाद्य-भार की उपस्थिति उसकी भित्तियो को फैलाकर क्रमाकुचन को वढा देती है। तन्त्रिकाओ के दो जोडे भी इस पर कुछ प्रभाव डालते है। इनको काट देने से आमाशय की क्रियाए नहीं रुकती, जिसके कारण भित्तियो के भीतर स्थित तन्त्रिकायिक जाल वाहरी तन्त्रिकाओ से अधिक आवश्यक लगता है। फिर भी ये तंत्रिकाए जब उपस्थित होती है और उद्दीपित की जाती है, तो एक जोड़ा (वागी तन्त्रिकाए) आमतौर पर क्रमाकुचन को वढा या आरम्भ कर देता है, जब कि दूसरा उसे अवरुद्ध या धीमा करता है। व्यायाम से जठर-चरता सामान्यत. कम हो जाती है।

क्षुद्रांत्र की गतियां—जब जठरीय अंतर्वस्तुए अंत्र मे प्रवेश करती है, तो क्रमाकुचन तरंगे उन्हें आगे परिचालित करती जाती है। अधिकाशतया ये तरंगे धीमी गति से चलती है और थोडी ही दूर तक जाती है। कभी-कभी तेज तरंगे भी आती है जो कुछ अधिक दूर तक जाती है। ये तरंगे 'क्रमाकुचन' वेग या 'झझा' कहलाती है। अंतर्वस्तुए वडी धीमी रफ्तार से क्षुद्रात्र की 20 फुट की लम्बाई को पार करती हुई आगे वढती है।

यहा पर एक और प्रकार की गति प्रमुख है—ताल उपखंडन। यह अत्र-भित्ति की वृत्ताकार पेशी के खडो के नियमित समयातर पर तेज प्रकुचन से उत्पन्न होती है। आस-पास के खड एक के वाद एक कुचित होते तथा शिथिल होते है, जैसाकि आकृति 17 मे दिखाया गया है, जिससे भोजन और पाचक रस अच्छी तरह मिल जाते है। आत्रिक अतर्वस्तुओ तथा श्लेष्मा के मध्य घनिष्ठ सपर्क का कारण भी तालवद्ध उपखडन ही है, जिससे पचित पदार्थो का अवशोषण संभव होता है। साधारण घटनाक्रम मे तालवद्ध उपखडन एक अवधि के लिए आत्रिक वृत्त मे चलता है और फिर क्रमाकुचन तरग भोजन को आगे वढा देती है। यही क्रम वार-वार दुहराया जाता है।

वाह्य तन्त्रिकाओ के दो जोडे आत्रिक चरता को उसी प्रकार सुधार देते है, जिस प्रकार उनके समान तन्त्रिकाए आमाशय मे करती है। क्रमाकुंचन वनाए रखने के लिए ये तन्त्रिकाए आवश्यक नही है, जो प्रत्यक्षतः अंत्र-भित्तियो के भीतरी तन्त्रिका-जाल से नियंत्रित होता है। औषधियो द्वारा इन जालो के निश्चेष्ट कर दिए जाने पर भी तालवद्ध उपखडन होता है। इससे यही निष्कर्ष निकलता है कि यह गति आत्रिक चिकनी पेशी का निहित गुण-धर्म होना चाहिए। आत्र गतियो के लिए सामान्य उद्दीपन आत्रिक अतर्वस्तुओ द्वारा इसकी दीवारो का
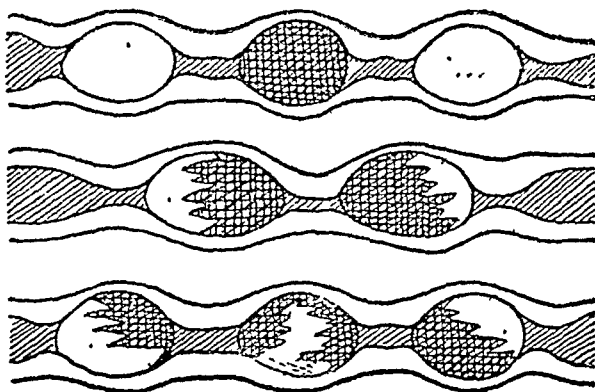
आकृति 17—क्षुद्रांत्र में तालबद्ध उपखंडन : आंत्रिक अंतवस्तुओ के मिश्रण की ओर ध्यान दीजिए।

फैलाव है।

वृहदत्र की गतियां—आत्रिक अतर्वस्तुएं वृहदत्र मे प्रवेश करने के समय भी अर्ध-तरल अवस्था मे ही होती है। यहा मथने की कुछ ऐसी क्रियाए होती हैं जो जल के अवशोषण मे सहायता देती है। आहार-नाल के इस भाग मे अधिकाश समय क्रियाए प्राय नही के बरावर ही होती है। दिन मे दो-या-तीन बार एक तीव्र क्रमाकुचन तरग वृहदत्र के एक खासे भाग मे दौड जाती है। यह गति क्षुद्रात्र के क्रमाकुचन वेग से अधिक तीव्र, किन्तु उसी के समान होती है। यह गति सामूहिक क्रमाकुचन कहलाती है। और आहार को वृहदत्र के निचले भाग मे ले जाती है। आमाशय मे आहार का प्रवेश सामूहिक क्रमाकुचन के लिए उद्दीपन का काम करता है। नाश्ते के बाद शौच की इच्छा सामान्य अनुभव है और यह बहुत करके इसी प्रतिवर्त का परिणाम है।

आत्रिक अतर्वस्तुओ को आत्रो मे से बाहर आने मे बारह घटे लगते है। वे आमतौर पर निष्कासन से पहले वृहदंत्र के अतिम भाग मे कोई चौबीस घटे और रहते है तथा खाये हुए भोजन के गुण उसके अत्रो से बाहर आने की अवधि पर प्रभाव डाल सकते है। व्यायाम और भावात्मक अवस्थाए आमतौर पर आत्रिक क्रियाशीलता को बढा देती है।

मलोत्सर्ग—शौच की इच्छा वृहदंत्र से मल के मलाशय मे आने के कारण उत्पन्न होती है। इसके बाद एक तीव्र क्रमाकुचन तरग वृहदत्र से होकर मलाशय की तरफ उतर जाती है, अनुदैर्घ्य पेशी कुचित होती, है, जिससे अत्र छोटी हो जाती है और गुद-सवरणी शिथिलित हो जाती है। इन क्रियाओ के फलस्वरूप मल गुदा द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है।

जोर डालने की ऐच्छिक क्रिया प्राय. मलोत्सर्ग मे सहायक होती है। एक गहरा प्रश्वास लिया जाता है, मध्यच्छद नीचे उतरता है और स्वर-तन्तुओ को एक साथ खीचकर श्वसन-मार्ग को बन्द करके श्वास रोक ली जाती है। उदर-पेशिया

जोर के साथ कुचित होती है। मध्यच्छद के वर्तमान कुचन के साथ-ही-साथ उदर-भित्ति का कुचन उदर-गुहा और उसके अंगों के भीतर दाव वढा देता है। मलाशय के भीतर दाव-वृद्धि मल के निष्कासन में सहायक होती है।

मल का निर्माण—क्षुद्रात्र की अर्धतरल अंतर्वस्तुएं वृहदंत्र मे जाने के वाद जल के अवशोषण के कारण भार मे काफी कम हो जाती है। मल मे अपचित या अपचनीय आहारावशेष (जैसे सेल्यूलोज) पाचक स्राव, वैक्टीरिया (जीवाणु) और स्खलित इपीथेलियल कोशिकाएं होती है। इनमे से आहारावशेषो की मात्रा मल मे वहुत ही कम होती है। भुखमरी की अवस्था मे भी मल वनता रहता है और उसकी सरचना सामान्य आहार करने के समय के मल की रचना से भिन्न नही होती। भूखे रहने के समय मल की मात्रा कम अवश्य हो जाती है, लेकिन इस कमी का मुख्य कारण स्राव-सक्रियता के उद्दीपन का अभाव ही है, जो अत-ग्रहीत भोजन द्वारा पैदा किया जाता है।

वृहदत्र मे वैक्टीरिया उपस्थित रहते है। पित्तरंजको पर उनकी क्रिया ऐसे यौगिक उत्पन्न करती है, जो मल को उसका विशिष्ट रग प्रदान करते है। अन्य यौगिको पर वैक्टीरियाई क्रिया दुर्गंधपूर्ण तथा जहरीले पदार्थ उत्पन्न करती है। ये पदार्थ रुधिर मे कभी-कभी ही इतनी मात्रा मे अवशोपित हो सकते हैं कि जिससे कुछ हानि पहुंच सके, अन्यथा ये मल के साथ ही देह से वाहर फेक दिये जाते है।

अतिसार, कब्ज़ तथा विरेचन—यदि किसी कारण से वृहदंत्र की अतर्वस्तुए उसमे से ज्यादा तेजी के साथ निकल जाती है, तो उनमे से जल समुचित मात्रा मे अवशोपित नही हो पाता। अनियत्रित और शीघ्रता से होनेवाली अंत्र-गतियो के कारण दस्त या अतिसार हो जाता है। इसके विपरीत, धीमी अंत्र-क्रिया से मलवन्ध या कब्ज हो जाता है। इस अवस्था मे आवश्यकता से अधिक जल अव-शोपित हो जाता है और सूखा तथा कडा मल कठिनाई से उत्सर्जित हो पाता है। कब्ज किसी देहीय दोप की अपेक्षा मल-निष्कासन के ऐच्छिक निरोध की आदत रोकने से अधिक होता है। इस अवस्था मे मलाशय अधिक मल को सचित करने की प्रवृत्ति वना लेता है और शौच की इच्छा दव जाती है। कब्ज को दूर करने के के लिए शौच की नियमित आदत विरेचको या दस्तावर दवाइयों से अधिक कारगर होगी। विरेचको का अत्यधिक उपयोग कब्ज को कम करने के वजाय वढा देता है। यह ऐसी आदत डाल देता है कि आते अपनी गति के लिए किसी वाहरी सहायता की 'अपेक्षा' करने लगती है। यदि कब्जियत पुरानी है, तो विज्ञापित औपधियो की अपेक्षा किसी चिकित्सक की सलाह अधिक लाभदायक होगी।

प्रतिअंत्र-गति या प्रतिक्रमाकुचन—जैसा कि हम देख चुके है, क्रमाकुचन आहार-नाल मे भोजन को ले जानेवाली एक तरग गति है, जो मुख से अत्रो की ओर चलती है। सामान्यत: इसके विपरीत दिशा मे चलनेवाली तरगे भी

पाचक क्षेत्र के विभिन्न भागों में पाई जाती है और वे प्रतिक्रमाकुचन गतियां कहलाती है।

अम्लशूल या 'कलेजा जलने का कारण इस प्रतिक्रमाकुंचन द्वारा आमाशय के अम्लीय द्रव का ऊपर आकर ग्रासनली के अन्तर का उद्दीपन बताया जाता है। डकार' का कारण प्रतिक्रमाकुचन द्वारा आमाशय से गैस का निष्कासन माना जाता है। प्रतिक्रमाकुचन आमतौर पर क्षुद्रात्र मे होता है और इससे भोजन क्षुद्रात्र से आमाशय मे वापस लौट सकता है। अधिकाश परिस्थितियो मे यह क्रिया भोजन का क्षुद्रात्र से शीघ्र निष्कासन रोकने के लिए होती है। असामान्य अवस्थाओं मे प्रतिक्रमाकुचन अत्रावरोध से भी पैदा हो सकता है, जिसमे आत्रिक अंतर्वस्तुएं आमाशय मे वापस चली जाती है और वमन द्वारा निकल जाती है।

वमन—वमन एक प्रतिवर्ती क्रिया है, जो आमाशय या शरीर के किसी अन्य अग से आए सवेदी सवेगो से या मस्तिष्क के भागो मे उत्पन्न सवेगो से उत्पन्न होती है। ये संवेग अंतस्था मे वमन-केन्द्र को चले जाते है, जो संवेगो को इस प्रक्रिया से सम्बन्धित विभिन्न पेशियो को प्रेपित कर देता है। वमन की क्रिया एक तीव्र क्रमाकुचन के साथ प्रारम्भ होती है, जिसके तुरन्त बाद आमाशय के निचले भाग का जोर से कुचन, और फिर आमाशय तथा वहा बने वलय के ऊपर हृद्-संवरणी का तीव्र शिथिलन होता है। फिर मध्यच्छद तथा उदर-पेशियो के तीव्र कुचन जठरीय अतर्वस्तुए को समान रूप से शिथिलित आमाशय तथा ग्रासनली के बाहर फेक देते है। इस प्रक्रिया के समय श्वसन अवरुद्ध रहता है।

क्षुधा-आकुचन—भोजन खाने के कुछ घंटो के बाद, जब आमाशय खाली हो जाता है, तो हम कभी-कभी भूख महसूस करने लगते है। जो अनुभूति उस समय उत्पन्न होती है, उसका ठीक से स्थान-निर्धारण करना कठिन है और उसका कारण भी अज्ञात ही है। जैसे-जैसे समय गुजरता जाता है, क्षुधा की टीसे बढती जाती है। इनका स्थान-निर्धारण हम उदर के ऊपरी भाग, यानी आमाशय का गढे मे करते है। ये टीसे बड़ी बुरी लगती है और कुछ समय तक एक-के-बाद-एक करके चलती रहती है। इसके बाद ये बन्द हो जाती है, लेकिन जब तक अमाशय खाली रहता है, ये वार-वार फिर उठती रहती है।

इस वात को दर्शाने का श्रेय कि क्षुधा-टीसे रिक्त आमाशय के कुचन से उत्पन्न होती है, मुख्यतः हार्वर्ड विश्वविद्यालय के डॉ० केनन तथा शिकागो विश्वविद्यालय के डॉ० कार्लसन को ही जाता है। भोजन के लगभग तीन घटे के बाद आमाशय मे तीव्र क्रमाकुचन गतिया उत्पन्न होती है। लगभग तीस मिनट तक ये एक-दूसरे के पीछे-पीछे आती रहती है, क्षुधा-टीसे इस कुचन के दौरान ही अनुभव होती है। आम तौर पर 'क्षुधा-काल' के बाद कुचन डेढ या दो घटे के लिए लुप्त हो जाते है। इसके बाद एक नया क्षुधा-काल आरम्भ हो जाता है। सक्रियता और निष्क्रियता का यह आवर्ती एकातरण निराहार की पूरी अवधि भर चलता रहता है। तथापि कुछ दिन के बाद ये टीसे कम होकर लुप्त हो जा

सकती है। उदर के दवाने (पट्टा कस लेने या पेट पर पत्थर रख लेने) या धूम्र-पान, व्यायाम करने या ठंडे पानी से नहाने से भी इन टीसो को कम किया जा सकता है।

ये कुचन किस कारण होते है, यह वात विलकुल भी साफ नही है, न इस वात का ही पता चल सका हे कि रिक्त ग्रामाशय के क्रमाकुंचनीय कुंचन किस प्रकार चैतन्य सवेदनाएं उत्पन्न करते है जब कि भोजन पाचन के दौरान इसी प्रकार के कुचनों पर जरा भी ध्यान नही जाता।

क्षुधा एक भोंड ग्रौर कष्टदायी संवेदना है, जो व्यक्ति को वंशानुक्रम से प्राप्त होती है ग्रौर उसके ग्रनुभावो से वदलती नहीं। इसके विपरीत भूख या वुभुक्षा खाने की इच्छा है, जिसके साथ क्षुधा भी हो सकती है, किन्तु यह क्षुधा-जैसी चीज नही है। वुभुक्षा एक ऐसी संवेदना है जो व्यक्ति के ग्रनुभव के द्वारा वदल सकती है ग्रौर वंशानुगत नही होती। उदाहरण के लिए, क्षुधा की तुष्टि के बाद भी हमें खीर खाने की 'भूख' हो सगती है।

भोजन का ग्रवशोषण

पाचन की ग्रंतिम उत्पाद—सरल शर्कराएं एमिनो ग्रम्ल, वसीय ग्रम्ल, ग्लिसरोल—तथा भोजन के ग्रन्य तत्त्व (जैसे विटामिन, लवण तथा जल) तव तक निर्थक है कि जव तक वे रुधिर मे ग्रवशोपित होकर देह-भर की कोशिकाग्रो को नही पहुंचा दिए जाते।

ग्रधिकाश ग्रवशोपण क्षुद्रात्र मे होता है। इसमें ग्रपवाद केवल ग्रामाशय द्वारा ऐलकोहल के ग्रवशोपण ग्रौर वृहदत्र द्वारा जल, कुछ ग्रकार्वनिक लवणो ग्रौर कभी-कभी ग्लूकोज के ग्रवशोपण का है। ग्रामाशय द्वारा ऐलकोहल का ग्रवशोपण सुरायुक्त पेयो के शीघ्र प्रभाव के लिए उत्तरदायी है। वृहदात्र की ग्लूकोज ग्रवशोपित करने की क्षमता का लाभ मलाशय-पोपण के समय उठाया जाता है ग्लूकोज का विलय एनीमा द्वारा दिया जाता है ग्रोर रुधिर मे ग्रवशो-पित कर लिया जाता है।

क्षुद्रात्र की श्लेष्मा के ग्रगुलियो-जैसे प्रवर्ध, जिन्हे 'विलस' (वहुवचन-विलि) या 'रोमाकुर' कहते है (ग्राकृति 15) ल्यूमेन मे प्रक्षेपित रहते है ग्रौर एक विस्तृत सतह को ग्रवशोपण के लिए खुला रखते है। रोमाकुरो (विलि) की ऊपर-नीचे ग्रौर दाएं-से-वाए की गतिया इनकी भित्तियो मे की चिकनी पेशी द्वारा पैदा की जाती है। ये गतिया ग्राहार को ग्रत्र मे मिश्रित करने के ग्रलावा उसके पाचन ग्रौर पोपक पदार्थो के ग्रवशोपण मे भी सहायता देती है। प्रत्येक रोमाकुर मे एक केशिका-पाश होता है ग्रौर एक छोटी श्लेष्मवाहिका होती है। रोमाकुर के इपीथीलियम मे से गुजरने के वाद शर्कराएं ग्रौर एमीनो ग्रम्ल केशिका मे विसरित हो जाते है ग्रौर रुधिर द्वारा ग्रहण कर लिये जाते है। वसीय ग्रम्ल ग्रौर ग्लिसरोल इपीथीलियम मे से ग्रपनी यात्रा के समय फिर से वसा मे परि-

र्वातित हो जाते है। कुछ वसा विना पचाए हुए ही अवशोपित हो सकती है। अधिकाश वसा फिर लसीका-वाहिका मे चली जाती है। यह 'वाहिका पायसिका' या 'लेक्टिअल' कहलाती है, क्योकि भोजन के उपरात यहस फेद-दूधिया वसा से भर जाती है। लवण और जल भी यहा पर अवशोपित हो जाते है, यद्यपि जल का अधिकाश अवशोपण वृहदत्र मे ही होता है।

अध्याय 6

उत्सर्जन-तन्त्र

उत्सर्जन या उत्सर्गी कार्य का सर्वांश तो नहीं, पर अधिकांश गुर्दों या वृक्कों द्वारा किया जाता है। अन्य उत्सर्जक अंग फुप्फुस या फेफड़े, त्वचा तथा बृहदंत्र है। जैसा कि हम देख ही चुके हैं, फेफड़े कार्बन डाई-ऑक्साइड तथा कुछ जल का उत्सर्जन करते हैं। त्वचा की स्वेद-ग्रंथियां पानी तथा लवणों को उत्सर्जित करती हैं, यद्यपि जैसा कि हम पन्द्रहवें अध्याय में देखेंगे, जल का यहा बहिष्करण देहीय ताप के नियमन के लिए उत्सर्जन से अधिक महत्त्वपूर्ण है बृहदंत्र का अन्तर ल्यूमेन में कैल्सियम तथा लोह का उत्सर्जन करता है और उसके बाद ये लवण मल के साथ बहिष्कृत कर दिए जाते है। मल के अधिकांश अन्य संरचक उत्सर्गी-उत्पाद नहीं माने जाते, क्योंकि वे उपापचयी व्यर्थ पदार्थ नही है। तथापि पित्त-रंजकों को उत्सर्जित पदार्थों में गिना जा सकता है, क्योंकि वे यकृत् में हीमोग्लोबिन
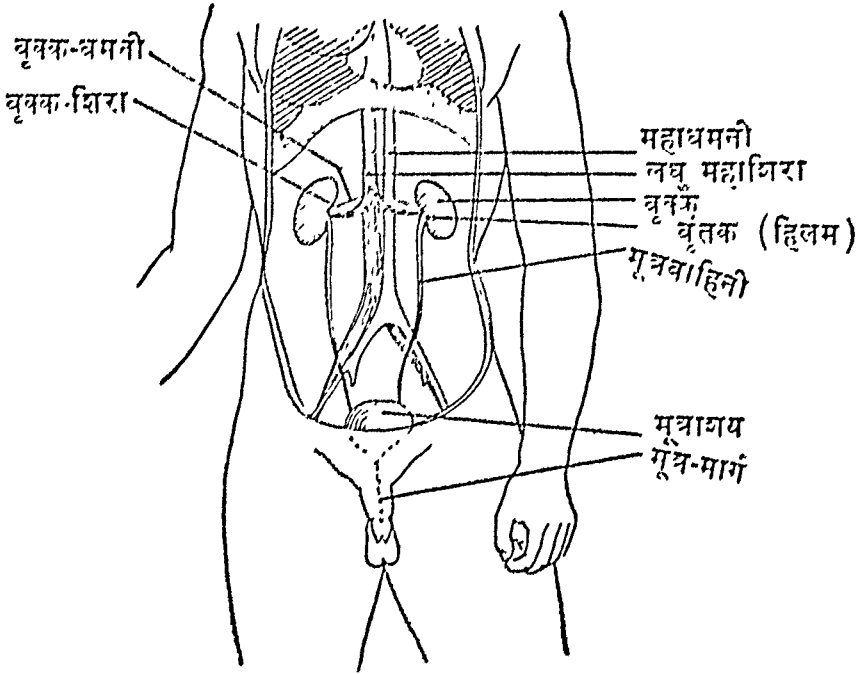
आकृति 18—उत्सर्जन-तंत्र का आरेख

के उपघटन से उत्पन्न होते है। यहा यह उल्लेख कर देना चाहिए कि सीसा और पारा-जैसी भारी धातुओं के शरीर में प्रविष्ट हो जाने पर लार-ग्रन्थियां उनके उत्सर्जन में सहायक होती है। शरीर में सीसे का विष फैल जाने पर मसूड़ों पर जो नीली धारी पट जाती है, वह सीसक सल्फाइड के जमने के कारण बनती है। यह सीसक सल्फाइड लार मे स्रवित सीसे के साथ दांतों की ऊपरी पपड़ी में

विद्यमान गधक की प्रतिक्रिया से बनता है।

उत्सर्जन से हमारा आशय रुधिर से कुछ विशेष कोशिकाओ द्वारा उपापचयी व्यर्थ पदार्थो का निष्कासन होगा। इसके बाद सहायक प्रक्रमो द्वारा देह अपने को इन व्यर्थ पदार्थो से मुक्त कर लेती है। उदाहरण के लिए, रुधिर मे पाये जाने-वाले कई व्यर्थ पदार्थो को निकालने का काम वृक्क करते है। ये व्यर्थ पदार्थ देह मे के पानी के साथ मिलकर मूत्र बनाते है, जो इसके बाद देह से मूत्रवाहिनी, मूत्राशय तथा मूत्रमार्ग द्वारा बाहर निकाल दिया जाता है (आकृति 18)।

मूत्र-तन्त्र का शारीर

वृक्क उदर-गुहा मे स्थित फली की शक्ल वाले दो अग है, जो मध्यच्छद के कुछ ही नीचे और उदर्या से एकदम लगे हुए ही है। यदि वृक्क को बीच से खड़ा काट दिया जाए, तो इसके द्रव्य की दो मुख्य परते दिखलाई पड़ती है (जैसा कि आकृति 19 मे दिखाया गया है)। वृक्क को अपने भीतर बन्द रखनेवाले सख्त संयोजी ऊतकीय आवरण के एकदम नीचे बाहरी परत प्रातस्था, वल्क या कॉर्टेक्स
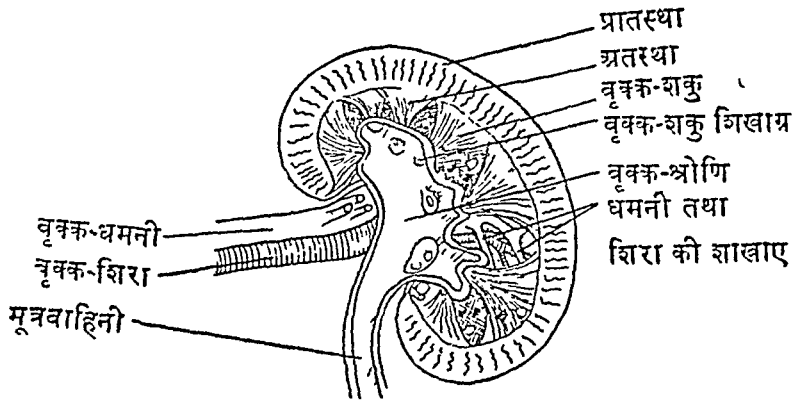
आकृति 19—वृक्क तथा मूत्रवाहिनी की खड़ी काट

है। यह परत एक आतरिक परत—अतस्था या मेड्यूला—मे मिल जाती है, जो के आकार के कई खडो की बनी है। इन खडो को वृक्क-शकु कहते है। हर शकु शंकु का शिखाग्र एक केन्द्रीय थैली मे जाता है, जिसे वृक्क-श्रोणि कहते है।

सूक्ष्मदर्शी परीक्षण से पता चलता है कि वृक्क कई नलिकीय इकाइयो से मिलकर बनते है, जिन्हे 'वृक्काणु' या 'नेफ्रन' कहते है। हर नेफ्रन (वृक्काणु) एक केशिका-स्तवक सपुट के रूप मे आरम्भ होता है, जिससे एक लम्बी नली बाहर निकलती है। इस सपुट मे पतली, चपटी इपीथीलियम-कोशिकाओ की दो परते होती है, जो उसकी एक गुहा को परिवेष्टित किए रहती है। यह गुहा नलिका के ल्यूमेन के साथ जुडी रहती है। इस नलिका को कई स्पष्ट भागो मे विभाजित किया जा सकता है। सपुट से सीधा निकलनेवाला एक बड़ा मुड़ा-तुड़ा हुआ भाग

है, जिसे 'निकटस्थ लहरदार नलिका' कहते है। इसके बाद हेनले-पाश है और उसके बाद एक और मुडा-तुडा हुआ भाग आता है जिसे 'दूरस्थ लहरदार नलिका' कहते है। उसके बाद एक संग्राहक नलिका आती है, जो इसी प्रकार की अन्य नलिकाओं से मिलकर बडी नलिया बनाती है, और ये फिर वृक्क-श्रोणि मे जा गिरती है। यह संपुट और निकटस्थ तथा दूरस्थ लहरदार नलिकाएं प्रांतस्था में होती है, हेनले-पाश और संग्राहक नलिकाओ का अधिकाश भाग अंतस्था मे है (आकृति 19)। प्रत्येक वृक्क में लगभग दस लाख वृक्काणु (नेफ्रन) होते है, जिनमें से सीधा करने पर प्रत्येक कोई दो इंच लम्बा बैठता है। वृक्क के सभी नेफ्रनों की सम्मिलित लम्बाई लगभग पैंतालीस मील है।

वृक्क की रुधिर-सप्राप्ति के कई लक्षण मूत्र-निर्माण मे इसका कार्य समझने की दृष्टि से विशेष महत्त्व रखते है। वृक्क-धमनी वृन्तक या हिलम के पास वृक्क मे प्रवेश करती है (आकृति 18) और कई शाखाओ मे विभाजित हो जाती है, जो अंतस्था से होती हुई अंततः प्रांतस्था मे चली जाती है। प्रांतस्था मे की धमनिकाएं निकलकर केशिका-स्तवक सपुट मे जाती है। इसके बाद हर धमनिका कई छोटे-छोटे केशिका-पाशो मे विभक्त हो जाती है, जो सपुट द्वारा निर्मित प्याले मे चले जाते है। केशिकाओ का यह गुच्छ केशिका-गुच्छा या केशिका-स्तवक कहलाता है। हर केशिका-पाश दूसरे से पृथक् होता है और उसका किसी अन्य पाश से कोई सम्बन्ध नही होता। ये पाश फिर से संयुक्त होकर एक धमनिका का निर्माण करते है, जो सपुट के बाहर जाकर फिर से कई केशिकाओ मे विभक्त हो जाती है। ये केशिकाए नलिकाओ को रुधिर पहुंचाती है। इसके बाद केशिकाएं मिलकर छोटी-छोटी शिराएं बनाती है, जो अंत मे वृक्क से हिलम या वृन्तक के पास निकलनेवाली एक बडी वृक्क-शिरा मे मिल जाती है।

मूत्रवाहिनी वह नली है, जो मूत्र को वृक्क से मूत्राशय तक लाती है। मूत्रवाहिनी भित्तियो मे मूत्राशय की भित्तियो के समान ही चिकनी पेशी की तीन परते होती है। मूत्राशय एक बहुत ही फैल सकनेवाला खोखला अंग है। मूत्राशय से मूत्रमार्ग नाम की एक और नली द्वारा मूत्र बाहर चला जाता है। पुरुषो मे मूत्रमार्ग लिंग या शिश्न मे होकर और स्त्रियो मे भगद्वार के भीतर होकर जाता है।

मूत्र का निर्माण

मूत्र-निर्माण पर गत बीस वर्षो मे ही एक ऐसे सिद्धात का विकास हो सका है जो उससे सम्बन्धित अधिकतर ज्ञात तथ्यो की व्याख्या कर सकता है।

केशिका-स्तवक संपुट का कार्य—वृक्क रुधिर-सप्राप्ति की शारीरीय विशेषताओ से, और इस तथ्य से कि सपुट-केशिकाओ की आतरिक परत स्तवक-केशिकाओ पर 'अगुलियो पर दस्ताने' की तरह चुस्त मढी होती है, यही विचार बनता है कि केशिका-स्तवक से छनकर पदार्थ केशिका-स्तवक संपुट में आते है।

केशिका-भित्तियो तथा सपुट-भित्तियो की कोशिकाए पतली तथा चपटी होती है। ये भित्तिया अपनी-अपनी गुहाओ को एक-दूसरे से पृथक् करती है। इस कारण अपने मे से होकर जानेवाले पदार्थो के छनन के लिए ये भित्तिया भली प्रकार अनुकूलित होनी चाहिए। यह बात, कि ऐसा ही होता है, निश्चित रूप से सिद्ध की जा चुकी है। अब यह ज्ञात हो चुका है कि स्तवक-केशिकाओ मे का अपेक्षाकृत ऊंचा रुधिर-दाब पानी तथा उसमे घुले उन सभी सूक्ष्म पदार्थो को, जो इन भित्तियो को भेदकर जा सकते है, रुधिर से केशिका-स्तवक सपुट मे धकेल देता है। यह पाया गया है कि संपुट मे रुधिर-प्लाज्मा से मिलता-जुलता एक तरल होता है तथापि इस तरल मे प्रोटीन नही होते (जिनके अणु इतने बडे होते है कि झिल्लिया भेदकर नही जा सकते)।

वृक्क-नलिकाओं का कार्य—सपुट तरल की मूत्राशय के मूत्र से तुलना करने पर दोनो की रचना मे स्पष्ट विभिन्नताए दृष्टिगोचर होती है। चूंकि मूत्र-वाहिनी और मूत्राशय मूत्र-वहन और सचय के अतिरिक्त और कुछ कार्य नही करते, इसलिए रचना मे परिवर्तन मूत्र के वृक्क-नलिकाओ मे से गुजरने के समय ही होने चाहिए। ऐसा अनुमान किया गया है कि प्रतिदिन लगभग 180 लिटर तरल वृक्को द्वारा छाना जाता है फिर भी एक औसत दिन मे लगभग केवल 1 या 2 लिटर मूत्र ही बाहर निकलता है। इससे यह स्पष्ट है कि जल का एक बहुत बड़ा भाग नलिकाओ मे रुधिर को वापस चला जाता होगा।

यहा दूसरे परिवर्तन भी होते है। प्लाज्मा और सपुट-तरल मे शर्करा (ग्लूकोज) होती है, मूत्र मे साधारणतया यह नही होती। इसके विपरीत, यूरिया (जो प्रोटीन-उपापचयन का व्यर्थ उत्पाद है), रुधिर की अपेक्षा मूत्र मे कही अधिक सान्द्रित होता है। रुधिर तथा सपुट-तरल के मुकाबले मूत्र मे ठोस व्यर्थ पदार्थो के सान्द्रण मे परिवर्तन नलिकाओ मे ही होने चाहिए। नलिकाए जल और ठोस पदार्थ, दोनो को ही अवशोपित कर लेती होगी। तथापि, जैसा कि उपरलिखित उदाहरणो से प्रकट होता है, सभी ठोसो का समान अश मे ही पुनर-वशोपण नही होता। जहा शर्करा सामान्यत पूर्णत. अवशोपित हो जाती है, यूरिया का कही कम अश साधारणतया रुधिर को वापस जाता है।

कुछ अज्ञात गुणधर्मो के कारण नलिकाए ठोसो का वरणीय पुनरवशोपण करती है। कुछ ठोस उच्च-सीमा-पदार्थ कहलाते है, क्योकि नलिकाए उनके अपेक्षाकृत बड़े सान्द्रणो को पुनरवशोपित कर सकती है। रुधिर मे उनका सान्द्रण नलिकाओ की अवशोपण-शक्ति से अधिक बढ जाने पर ही वे मूत्र मे प्रकट होगे। मिसाल के तौर पर, ग्लूकोज साधारणतया पूर्णत. पुनरवशोषित हो जाता है। लेकिन यदि हम रुधिर मे ग्लूकोज का सान्द्रण सामान्य से अधिक कर दे, (मिठाई खाकर या ग्लूकोज का इजेक्शन देकर) तो उसकी अतिरिक्त मात्रा मूत्र मे 'छलक' जायेगी। अन्य ठोस निम्न-सीमा-पदार्थ होते है, अर्थात् मूत्र मे प्रकट होने के लिए रुधिर मे उनका अपेक्षाकृत निम्न सान्द्रण ही काफी होता है। यूरिया

एक ऐसा ही पदार्थ है। जिन पदार्थों को देह अपने उपयोग मे नही ला सकती, वे देह के लिए बहुमूल्य पदार्थों की अपेक्षा निम्न सीमा के होते है। इस प्रकार जहा व्यर्थ पदार्थ अधिकाशत: उत्सर्जित कर दिए जाते है, आवश्यक रुधिर-संरचक अधिकतर संचित कर लिये जाते है। तथापि, यदि आवश्यक रुधिर-सरचको का भी आधिक्य हो, तो वे भी व्यर्थ पदार्थ बन जाते है और उत्सर्जित कर दिए जाते है।

रुधिर-आयतन का नियन्त्रण—जो भी वस्तु केशिका-स्तवक केशिकाओं मे रुधिर-दाब बढा देगी, वह केशिका-स्तवक सपुटो मे तरल का छनना बढा देगी। यदि जल अधिक मात्रा मे पिया जाता है, तो इससे रुधिर-आयतन बढने लगता है। सामान्य रुधिर-दाब तथा केशिका-स्तवक-रुधिर-दाब मे तज्जनित वृद्धि से छनने की गति बढ जाती है, परिणामस्वरूप निर्मित मूत्र का आयतन अधिक हो जाता है। तरल अंतर्ग्रहण कम कर दिया जाने पर या बुखार और निर्जलीकरण होने की अवस्थाओ मे उसके विपरीत क्रिया होती है और फलस्वरूप मूत्रप्रवाह कम हो जाता है। इस प्रकार एक बड़ी सीमा तक वृक्क का कार्य ही परिवहित रुधिर का आयतन नियन्त्रित करता है।

सामान्य से अधिक मात्रा मे मूत्र का निष्कासन मूत्रता या डाईयूरेसिस और इसे उत्पन्न करनेवाला पदार्थ मूत्रत, मूत्रवर्धक या डाईयूरेटिक कहलाता है। ग्लूकोज (बड़ी मात्रा मे) और यूरिया मूत्रवर्धको का कार्य करते हैं। ऐल्कोहल सभवत: नलिकायिक पुनरवशोषण को कम करके शक्तिशाली मूत्रवर्धक का कार्य करता है। कॉफी मे उपलब्ध औषध कैफीन वृक्को से रुधिर का प्रवाह बढाकर मूत्रता उत्पन्न करती है।

मूत्रण—मूत्र अविरल रूप से बनता तथा मूत्रवाहिनी की क्रमाकुचन-गतियों से मूत्राशय को जाता रहता है। जब मूत्राशय मे मूत्र की मात्रा 300 घन सेंटी-मिटर के लगभग हो जाती है, तो मूत्राशय की दीवारो का फैलाव मूत्र-उत्सर्जन की इच्छा उत्पन्न कर देता है। मूत्र-उत्सर्जन की क्रिया मूलत: एक अचेतन प्रति-वर्त्त है, लेकिन इसे स्वेच्छा से नियन्त्रित किया जा सकता है।

मूत्रण मे निहित आवश्यक प्रतिवर्ती गतिया मूत्राशय की भित्तियों का कुचन और मूत्रमार्ग के आसपास के भाग को घेरनेवाली संवरणी का शिथिलन है। मूत्राशय मे काफी दाब उत्पन्न हो जाता है (जो जोर देने पर बढाया जा सकता है) और मूत्र मूत्रमार्ग से बाहर निकाल दिया जाता है। सवरणी का कुचन बनाए रखने पर मूत्रण का ऐच्छिक अवरोध किया जा सकता है।

अध्याय 7

कंकाल

जन्तु-जीवन के निम्नतम स्वरूपो मे से कई ऐसे है जिनका कोई दृढ सरचक ढाचा ही नही होता। अकशेरुकियो या अकशेरुकदडियो—बिना रीढ के जतुओ—मे अगर ककाल होता भी है, तो वह देह के वाह्य भाग पर जमे एक सख्त वाहरी खोल का ही होता है। सीपो तथा घोघो के कवच तथा कीटो के सख्त वाह्यावरण ऐसे वाह्य ककालो के उदाहरण है। इन जन्तुओ के लिए वाह्य ककाल काफी है, किन्तु ये उन्हे देहीय आकार तथा गति की नम्यता—दोनो ही दृष्टियो से सीमित कर देते है।

कशेरुकदडियो, अर्थात् रीढवाले जन्तुओ के आन्तरिक ककाल होते है, जो मछली से लेकर मनुष्य तक सभी जीवो मे मूलत: समान ही होते है। हा, जिन जन्तुओ के जीवन तथा सचलन के तरीके बहुत भिन्न है, उनमे विभिन्न रूपातर भी होते है। आतरिक कंकाल मे वृद्धि की क्षमता होती है, इसलिए कशेरुकदडी आकार मे बहुत बडे भी हो सकते है (जैसे हाथी, व्हेल मछली या डाइनोसार)। विभिन्न अस्थियों के एक-दूसरे से जुडने के विभिन्न तरीको के कारण सचलन के विभिन्न प्रकार, और कुछ कशेरुकदडियो मे तो गति के खासे जटिल प्रकार (वन्दरो, वन-मानुषो तथा मनुष्यो मे हाथ, अगूठे तथा अगुलियो की गतिया) भी हो सकते है।

कंकाल की अस्थियां

कुछ मछलिया (शार्क और कुकुर मछली इत्यादि) के ककाल उपास्थि के बने होते है; अधिकाश कशेरुकदडियो की भाति मनुष्य का ककाल अस्थि का होता है। मानव-ककाल कपाल, करोटि या खोपड़ी कशेरुकदड (रीढ की हड्डी) या मेरुदंड और उसके सयोजनो का बना होता है। सयोजको मे पसलिया या पर्शुकाएं, अस (कधे की) मेखला तथा श्रोणि (नितब) मेखला सम्मिलित है। मेखलाओ से शाखाए जुडी हुई है और उरोस्थि पसलियो से जुड़ी हुई है।

खोपड़ी कई जुडी हुई या सगलित हड्डियो की बनी है, जिनमे से चलनेवाली हड्डी केवल निचला जबडा या चिबुकास्थि है। रीढ की हड्डी तेतीस कशेरुको की शृखला है। एक-दूसरे पर ठीक बैठी ये अपेक्षाकृत छोटी-छोटी हड्डिया एक ठोस आधार की वनी होती है, जिसके पृष्ठ भाग की ओर एक मेहराब होती है (आकृति 21)। कशेरुक मेहरावो के छिद्रो द्वारा निर्मित गुहा मे मेरु-रज्जु या रीढ रज्जु है। वक्र पसलियो के वारह जोड़े पीठ मे वक्षीय कशेरुको के साथ संधि बनाते है। पहले सात जोड़े सीधे-सीधे सामने की उरोस्थि से जुडे हुए है। आठवे से दसवे तक के जोड़े पहले सातो जोड़ो से छोटे है और उपास्थि द्वारा सातवी पसली से
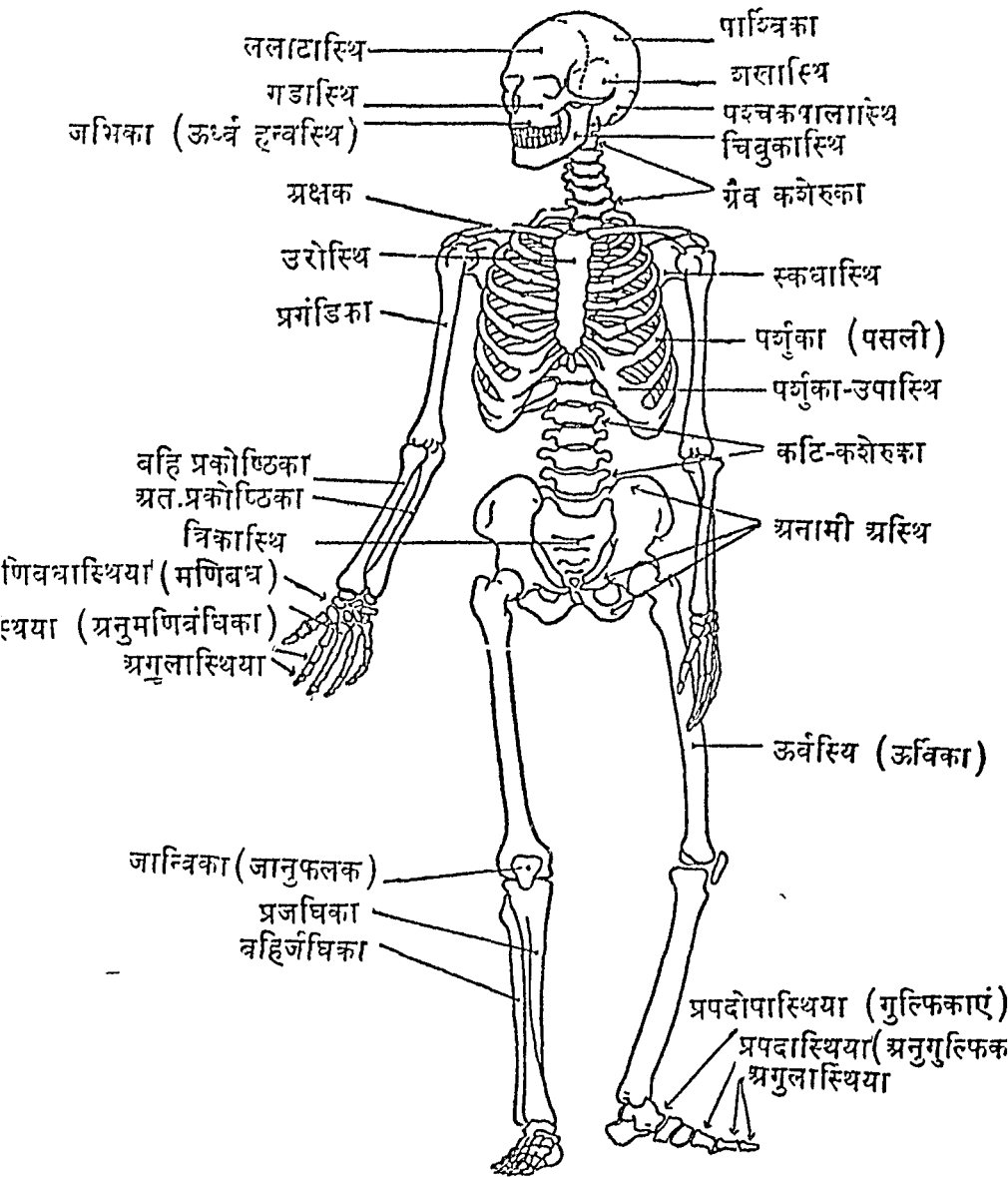
आकृति 20—कंकाल का रेखाचित्र

जुडे है। इस प्रकार वे उरोस्थि से परोक्षत ही जुडे है। ग्यारहवीं और बारहवी पसलिया 'तैरती' पसलिया कहलाती है, क्योकि उनका उरोस्थि से कोई संयोजन नही है।

देह के दोनो ओर अंस (कंधे की) मेखला मे स्कंधास्थि या स्केपुला और हंसुली या अक्षक है। श्रोणि-मेखला मे मूलत दोनो तरफ तीन हड्डिया थी। मनुष्य मे इन तीनो का समूह अनामी नाम की एक हड्डी मे संगलित हो गया है। प्रत्येक अनामी अस्थि त्रिक या त्रिकास्थि से, जो पाच त्रिक कशेरुको के संगलन से बनती है, जुड़ जाती है। त्रिक तथा अनामी हड्डिया सामूहिक रूप से श्रोणि-प्रदेश

कहलाती है ।

बाहे और टागे भी इसी प्रकार बनी है। प्रत्येक के ऊपरी भाग मे एक-एक लम्बी हड्डी होती है, जिनके नाम क्रमश प्रगडिका तथा ऊर्वस्थि या ऊर्विका है। बाह के नीचे के भाग मे दो हड्डिया है, जिनमे बडी अत प्रकोष्ठिका और छोटी
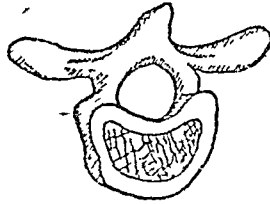
आकृति 21—एक प्रतिरूप कशेरुका

वहि प्रकोष्ठिका है। टाग का निचला भाग इसी प्रकार प्रजघिका या अन्तर्जघिका और बहिर्जघिका से मिलकर बना है। कुछ छोटी हड्डिया मिलकर कलाई और टखना बनाती है, जिन्हे क्रमश मणिबधास्थिया या मणिबध और प्रपदोपास्थिया या गुल्फिकाए कहते है। हाथ के अधिकाश भाग मे अनुमणिबधिका या करभास्थिया होती है और पैर मे अनुगुल्फिकाएं या प्रपदास्थिया। अगुलास्थिया अगुलियो और अगूठो की हड्डिया होती है।

कंकाल के कार्य

ककाल का कार्य संरक्षण और सहारा देना है। हड्डियो की सधियो के प्रकारो से भी कई तरह की गतियो मे सहायता मिलती है। इन पर सोलहवे अध्याय मे विस्तार से चर्चा की जायेगी।

खोपडी (कपाल या करोटि) मस्तिष्क को पूर्णत ढाप लेती है और इसकी घनी जुड़ी हड्डिया भारी बाह्य प्रहारो को छोडकर शेष सभी आघातो से इसका समुचित रक्षण करती है। खोपडी हमारी कुछ महत्त्वपूर्ण ज्ञानेद्रियो की भी रक्षा करती है। नेत्र अस्थिमय कोटरो के काफी भीतर घुसे हुए है और ऊपर की अस्थिमय भ्रूओ से उन्हे अतिरिक्त सरक्षण मिलता है। भीतरी कान (जिनमे ध्वनि की ज्ञानेन्द्रिया स्थित है) खोपड़ी की शखास्थियो के भीतर होते है। गध और स्वाद की ज्ञानेन्द्रिया नासा और मुख-गुहाओ मे होती है और इन गुहाओ के चारो ओर की हड्डियो द्वारा रक्षित है। चेहरे की हड्डिया इसे इसका अपना ही लाक्षणिक रूप भी देती है।

मेरुदंड मेरुरज्जु को भीतर बन्द रखता और उसकी रक्षा करता है। यह देह को कुछ दृढ सहारा भी देता है। अपने शीर्ष पर यह खोपडी की गतियो मे सहायक होता है और वक्ष मे यह पसलियो के लिए एक सयोजक का काम देता है। अपने निचले सिरे पर यह श्रोणि-मेखला मे बैठ जाता है, जिससे इस क्षेत्र से ऊपर की देह के लिए एक ठोस आधार बन जाता है। अंत के चार कशेरुको से

काक्सिक्स या अनुत्रिक बनती है, जिसका कार्य तो कुछ नहीं है, पर जो उस पूछ के अवशेष है, जिसे हमने अपने विकासकालीन परिवर्धन के दौरान मे गंवा दिया है।

वक्षीय कशेरुकों, पसलिया और उरोस्थि द्वारा निर्मित 'पिंजड़ा' हृदय और फेफडो को कुछ रक्षण प्रदान करता है। श्वसन के लिए आवश्यक गतियो के होने मे भी इन हड्डियो का बड़ा महत्त्व है।

अस-मेखला मुख्यत: बांह के संयोजन-स्थल का काम देती है। वाह एक ऐसा अग है, जो पकड़ने, सतुलन करने और रक्षा करने के काम आता है। वानरो, वनमानुषो और मनुष्यो का उगलियो के विरुद्ध रहनेवाला अभिमुखी अगूठा एक महान् वैकासिक प्रगति है, जो इन्हे वस्तुओं को इस तरह पकडने और व्यवहार मे लाने की क्षमताए प्रदान करता है, जो इसके उदय के पूर्व कभी सभव नही थी।

श्रोणि-मेखला टागो के संयोजन-स्थल का काम देने के अतिरिक्त उनमे देह का भार भी वितरित कर देती है। टागे वाहो की अपेक्षा अधिक सुदृढ रूप से बनी होती है, और इसका उनके द्वारा वहन किये जानेवाले भार से सीधा संबंध है। ऊर्विकाओ और अंतर्जंघिकाओ द्वारा देह का भार पैरो की मेहरावो मे वितरित हो जाता है। मेहराव फिर इस भार को एड़ियो और तलवो को वाट देते है, जिससे सहारे के लिए अधिक सुदृढ आधार और अच्छा संतुलन मिलता है। स्त्रियो के ऊची एड़ी के जूते चाहे सुन्दर तो लगे, पर वे इस वितरण को विगाड देते है और पैरों को जकड देते है। ऐसे जूतो के दीर्घकालीन उपयोग से पैरो के स्वाभाविक कार्य मे गम्भीर दोप उत्पन्न हो सकते है।

हड्डी की संरचना

हड्डी मुख्यतया खनिज द्रव्य की वनी है। फिर भी हड्डी-जैसे सख्त ऊतक मे भी 25 प्रतिशत पानी होता है। लम्वी हड्डी को लम्बाई मे फाड़ने पर हम उसकी गुहा के तने में भरी पीली मज्जा देख सकते है। मोटी वाहरी खोल अस्थि-ऊतक की वनी होती है। ऐसी हड्डी के सिरो पर लाल रुधिर-कोशिकाए वनानेवाली मज्जा हड्डी के पतले सुई-जैसे टुकड़ो के बीच छितरी हुई होती है।

हड्डी के इस तने की लम्वाई मे चलनेवाली छोटी नालो के चारो तरफ अस्थि-ऊतक की परते संकेन्द्रित वृत्तो मे फैली रहती है। इन नालो मे रुधिर-वाहिकाएं होती है। पोषक पदार्थ रुधिर से अस्थि-कोशिकाओ तक और भी छोटी-छोटी नालो के जाल द्वारा पहुचाये जाते है। व्यर्थ पदार्थ इसकी विपरीत दिशा मे जाते है।

चपटी हड्डियो (जैसे पसलियो, खोपडी आदि की हड्डियो) की गुहाओ मे केवल लाल मज्जा होती है, अन्यथा वे लम्बी हड्डियो की तरह ही होती है।

अध्याय 8

पेशी-तन्त्र

हृद-पेशी की क्रियाओ की तीसरे अध्याय मे हम पहले ही चर्चा कर चुके है और चिकनी पेशी के विभिन्न रूपो या अनैच्छिक सक्रियता का अध्ययन कर चुके है। चिकनी पेशी हृदय के अलावा अन्य आतरिक अंगो की गतियो से सम्बन्वित है। इसके विपरीत कंकाल-पेशिया या ऐच्छिक पेशिया ककाल की गतियो को, और कुछ मामलो मे त्वचा की गति को भी, सम्भव वनाती है।

चिकनी पेशी और कंकाल-पेशी

ककाल-पेशी का सम्वन्ध चूकि प्राथमिक रूप से देह को वाह्य वातावरण के अनुकूल वनानेवाली गतियो से है और चिकनी पेशी का कार्य आतरिक वातावरण के परिवर्तनो के अनुसार पेशीय गतिया करना है, इसलिए हम उनके शारीर तथा क्रियात्मक गुण-धर्मो मे भेद पाने की अपेक्षा कर और पा सकते है। उनके तत्रिका-सम्वन्धो मे भी अतर है। ककाल-पेशी की कोशिकाओ मे केवल एक तन्त्रिका-तन्तु होता है, जो उनका तन्त्रिका-भरण करता है जव कि चिकनी पेशी की कोशिकाए दो तत्रिका-तन्तुओ वाली होती है, जो उन्हे तत्रिकोत्तेजित करते है। ककाल-पेशी तन्त्रिका-सवेगो के आने पर कुचित होती है और उनकी अनुपस्थिति मे शिथिलित हो जाती है। चिकनी पेशी एक प्रकार के तत्रिका-तन्तुओ द्वारा सवेग पाकर कुचित होती है और दूसरी प्रकार के तन्त्रिका तन्तुओ द्वारा सवेग पाकर शिथिलित होती है। ककाल-पेशी अपनी नियत्रक तन्त्रिकाओ की अनुपस्थिति मे स्वाभाविक रूप से कार्य नही कर सकती, लेकिन कुछ चिकनी पेशिया यह कर सकती है, जैसे आत्रिक रोमाकुर और तालबद्ध उपखडन करनेवाली पेशिया।

अन्य प्रकार के ऊतको की तुलना मे चिकनी और ककाल-पेशियो, दोनो की, ही विशेष लाक्षणिकता उनकी कुचनशीलता है। दोनो ही अधिकाश ऊतको की अपेक्षा अधिक सवेदनशील है। ककाल-पेशी चिकनी पेशी की अपेक्षा विद्युत्-उद्दीपन के प्रति अधिक सवेदी है (इसे सक्रिय करने के लिए क्षीण धारा की ही आवश्यकता पड़ती है); इसके विपरीत चिकनी पेशी रासायनिक उद्दीपन के प्रति (मिसाल के लिए, चिकनी पेशी औषधो द्वारा अधिक सुगमतापूर्वक प्रभावित हो जाती है) सवेदी है।

ककाल-पेशी चिकनी पेशी की अपेक्षा अधिक शीघ्रता से कुचित और शिथिलित होती है, जबकि चिकनी पेशी ककाल-पेशी की अपेक्षा अधिक समय तक प्रकुचित अवस्था मे रह सकती है। वाह्य वातावरण मे आतरिक वातावरण की अपेक्षा अधिक शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन होते है और ऐसे परिवर्तनो के लिए प्राय:
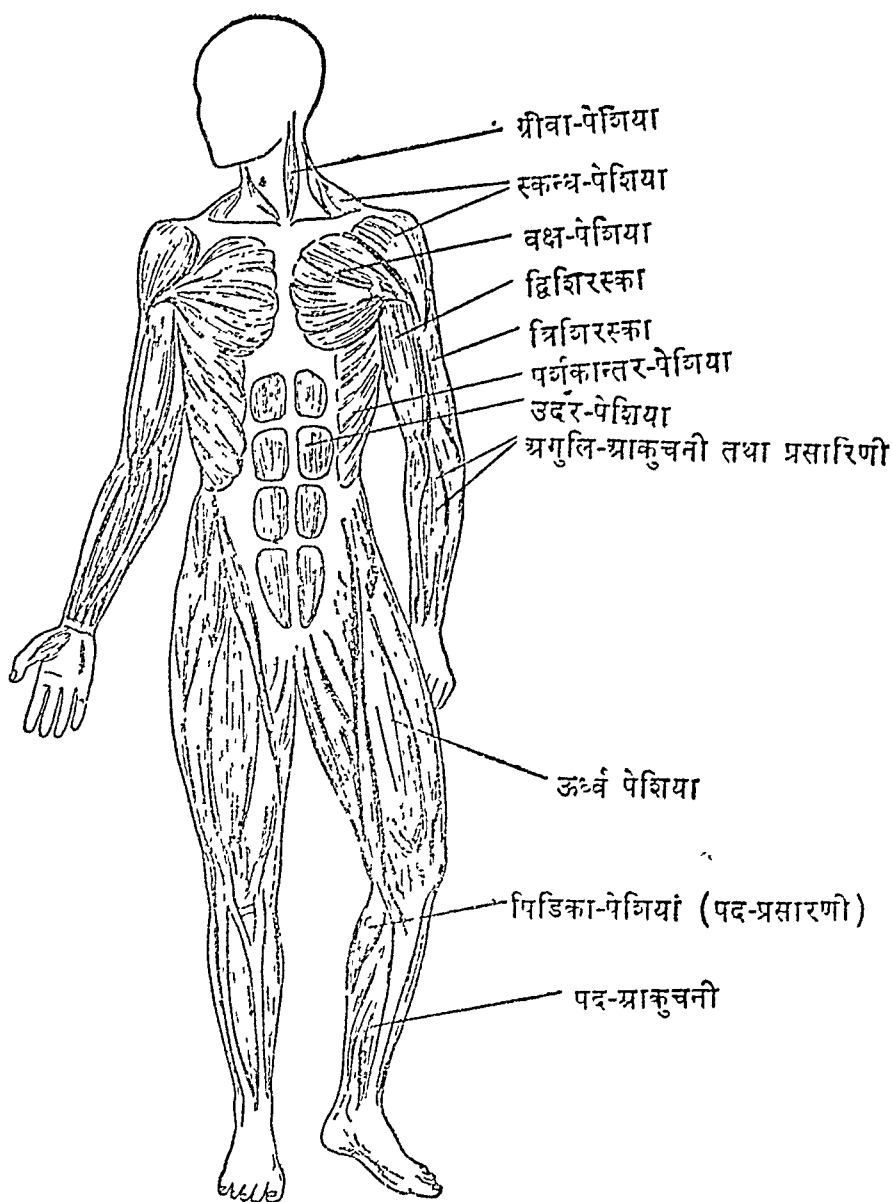
आकृति 22—पेशीतंत्र का रेखाचित्र

समंजन भी इतनी ही तेजी के साथ होते है। कंकाल-पेशिया कितनी शीघ्रता से अनुक्रिया करती है, इस पर जीवग-मरण निर्भर कर सकता है।

कंकाल पेशी के प्रक्रम तथा आचरण

चिकनी पेशी के कुंचन मे सन्निहित प्रक्रमो के बारे मे हम अपेक्षाकृत कम ही जानते है, इसलिए हम अपने को ककाल-पेशी की सक्रियता तक ही सीमित रखेगे।

ककाल पेशी-कोशिकाए पृथक्-पृथक् तत्रिका-तन्तुओं द्वारा नही तत्रिकोत्तेजित होती। प्रत्युक्त एक-एक तन्त्रिका-तन्तु कई-कई शाखाओ मे विभक्त हो जाता है और अनेक पेशी-कोशिकाओ का तत्रिकोत्तेजन करता है (अनुपात 1 3 से लेकर 1.165 तक रहता है)। प्रेरक तत्रिका-कोशिका तथा उसके द्वारा नियत्रित पेशी-कोशिकाओ को संयुक्त रूप से प्रेरक इकाई कहते है। चूकि पेशियो मे हजारो पेशी-कोशिकाए हो सकती है, इसलिए अनेक तत्रिका-तंतु अतर्ग्रस्त होते है और पेशी पर नियत्रण उतना ही अधिक सूक्ष्म होता है इस प्रकार उंगलियो की गति को नियत्रित करनेवाली पेशिया बाह या पैरो की पेशियो की अपेक्षा अधिक तत्रिका-ततुओ द्वारा तंत्रिकोत्तेजित होती है।

हर तत्रिका-तंतु के अंताग और उसकी पेशी-कोशिका के संगम पर पेशी-तात्रिक मेल नामका ऊतक का विशेपीकृत टुकडा दोनो को पृथक् करता है। यह दिखलाया जा चुका है कि प्रेरक तत्रिका के अताग पर पहुचकर तंत्रिका-सवेग ऐसीटिलकोलीन नामक द्रव्य की उन्मुक्ति करता है। यह द्रव्य पेशीतत्रिका-मेल मे एक वैद्युत परिवर्तन उत्पन्न कर देता है, जो मेल से पेशी-कोशिका पर फैल जाता है। वह 'पेशी-सवेग' उस ऊर्जा को उन्मुक्त कर देता है, जिससे पेशी कुचित हो जाती है।

यद्यपि पेशी सामान्यत' केवल तंत्रिका-सवेग द्वारा ही उत्तेजित होती है, तथापि यह दिखाया जा सकता है कि वह स्वत. उत्तेजनशील भी होती है। पेशी का सीधा उद्दीपन उसे कुचित कर देता है। लेकिन इस बातको सिद्ध करने के लिए हमें यह सुनिश्चित कर लेना होगा कि पेशी का कुचन पेशी मे उपस्थित तत्रिका-ततुओ के अतागो के उत्तेजन के कारण नही था। तत्रिका-प्रभाव दो प्रकार से दूर किया जा सकता है—तत्रिका को काटकर उसे अपकर्पित होने दिया जाये, या फिर प्रायोगिक जन्तु के रुधिर मे क्यूरेयर नामक औपधि इजेक्ट कर दी जाये। वह औपध पेशीतत्रिका-मेलो को निश्चेष्ट करके तंत्रिका से पेशी-कोशिकाओ को संवेगो का मार्ग बद कर देती है। इन दोनो मे से किसी भी प्रक्रिया के बाद पेशी का उद्दीपन उसे कुचित करवा सकता है। तब वह स्वय ही उत्तेजनशील होनी चाहिए।

हम यह भी देखते है कि पेशी सभी प्रकार के उद्दीपनो (पर्यावरण मे परिवर्तनो)— वैद्युत, यात्रिक (चुटकना), ऊष्मीय (उसे गरम सलाख से छूना), या रासायनिक (उस पर कोई लवण रखना) के प्रति सवेदी है और उनकी अनुक्रिया करती है।

तथापि हम पाते है कि हर कोई उद्दीपन ऊतक को—खासकर पेशियो और तत्रिकाओं जैसे अत्यधिक उत्तेजनशील ऊतको को—सक्रिय नही करता। पर्याप्त होने के लिए उद्दीपन को कुछेक शर्तें पूरी करनी होगी। सबसे पहली यह कि उसे एक अल्पिष्ठ तीव्रता का होना चाहिए। उदाहरण के लिए, अत्यन्त क्षीण विद्युत-धारा प्रभावी नही होगी। फिर, उद्दीपन को एक अल्पिष्ठ अवधि तक बने रहना

चाहिए। अत्यन्त अल्पकालिक विद्युत-आघात उत्तेजित नही करेगा। और आखिरी शर्त यह है कि तीव्रता के परिवर्तन की एक अल्पिष्ठ गति होनी चाहिए, अर्थात् प्रभावी होने के लिए तीव्रता को शीघ्रतापूर्वक पर्याप्त शक्ति उत्पन्न कर लेनी चाहिए।

पेशी क्रिया-विज्ञान के बारे में हमारा अधिकांश ज्ञान विच्छिन्न पेशियो पर किए प्रयोगो से प्राप्त किया गया है। जब किसी विच्छिन्न पेशी को पर्याप्त उद्दीपित कर दिया जाता है, तो उसमे जो पहला परिवर्तन दिखाई देता है, वह यह है कि उद्दीपन-बिन्दु से लेकर संपूर्ण पेशी पर एक विद्युत-धारा फैल जाती है। यह वैद्युत परिवर्तन पेशी के उस कुचन या सिकुडने की प्रतिक्रिया को प्रारम्भ कर देता है, जिसके दौरान पेशी-आयतन मे परिवर्तन आये बिना ही छोटी और मोटी हो जाती है।

यदि ऐसी पेशी को एक ही उद्दीपन दिया जाता है, तो पेशी एक बार कुचित होकर फिर तुरन्त शिथिलित होकर उसकी अनुक्रिया करती है। इस साधारण सिकुडन की अवधि बहुत ही अल्प—लगभग 1/10 सैकण्ड—होती है किन्तु यदि पेशी लगातार और तीव्र उद्दीपन प्राप्त करती रहे, तो इसकी अनुक्रिया यह होती है कि वह इतने लम्बे समय तक कुचित रहती है कि जब तक उद्दीपन न रोक दिया जाए, या क्लाति न आ जाए। इस प्रकार की अनुक्रिया-पेशी तनाव कहलाती है और यह कई सिकुडनो के मिलने से होती है। फलतः पेशीतनाव-कुचन न केवल साधारण कुचन से अधिक शक्तिशाली ही हो सकता है, वरन उसका उतार-चढाव भी अधिक सीधा होता है। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नही कि पेशीतनाव-कुचन ही देह मे पेशीय गतिविधि का आधार है। यह इस कारण है कि दैहिक सक्रियाओ के समय तन्त्रिकाओं द्वारा पेशियो को इक्के-दुक्के संवेगो के बजाय विशिष्टरूपेण सवेगों के रेले भेजे जाते है।

पेशीय कुचन के लिए ऊर्जा उन ईंधन-पदार्थों के खडन से आती है, जिन्हें रुधिर पेशियो तक लाता है। तथापि इस प्रकार से मुक्त हुई समस्त ऊर्जा का अधिक-से-अधिक लगभग केवल चौथाई भाग ही वास्तविक कार्य मे उपयुक्त होता है, शेष ऊष्मा में परिवर्तित हो जाता है। चूकि शरीर का एक बड़ा भाग कंकाल-पेशियो का ही बना है, इसलिए वे शरीर के ताप को कायम रखने के लिए आवश्यक ऊष्मा का सर्वप्रमुख स्रोत है।

अध्याय 9

तंत्रिका-तंत्र

जिन अधिक योग्यताओ के कारण मनुष्य का अन्य सभी जन्तुओ से विभेद किया जा सकता है, वे सब तन्त्रिका-तन्त्र—विशेषकर मस्तिष्क के उच्चतर स्तरो—के कारण ही है। तथापि तन्त्रिका-कार्य केवल स्मृति, विवेक और ज्ञान तक ही सीमित नही है। यह वह निर्देशक बल है जो शरीर या अगो का, आतरिक या वाह्य वातावरण के परिवर्तनो के अनुसार द्रुत समजन सम्भव बनाता है। केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र, मस्तिष्क और मेरु-रज्जु—समस्त ज्ञानेन्द्रियो से प्राप्त सूचना का वितरण-केन्द्र होने के साथ-साथ अगो को योजित उन सदेशो का उद्गम-स्थल भी है, जो समंजन को सम्भव बनाते है।

तन्त्रिका-तन्त्र की संरचक इकाई एक विशेषीकृत कोशिका—तन्त्रिका-कोशिका या न्यूरॉन है, जो आवेगो का सचलन बडी खूबी के साथ कर सकती है। कोशिका की काय से निकले हुए प्रवर्ध होते है (आकृति 24), जो काफी लम्बे भी हो सकते है। इन प्रवर्धो पर होकर तन्त्रिका-आवेग केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र मे जाते है या फिर न्यूरॉन से न्यूरॉन मे, या केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र से पेशियो और ग्रथियो को। हर न्यूरॉन का 'अक्षतन्तु' या 'एक्सन' नामक केवल एक प्रवर्ध होता है, जो आवेगो को कोशिका-काय से सवहन करके ले जाता है। कोशिका के 'अभिवाही प्रवर्ध' या 'डेड्राइट' नामक एक या अधिक और प्रवर्ध भी होते है, जो आवेगो को कोशिका-काय तक संवहित करते है। एक्सन तथा डेड्राइट 'तन्त्रिका-तन्तु' भी कहलाते है (अपनी अत्यन्त बारीक बनावट के कारण)। देह के सभी भागो को जानेवाले ऐसे तन्तुओ के समूहो को 'तन्त्रिकाए' कहते है।

तन्त्रिका-प्रक्रम और आचरण

तन्त्रिका-तन्तु पेशी से अधिक उत्तेजनशील होते है और इसलिए कम तीव्रता-वाले उद्दीपनों की अनुक्रिया करते है। ये तन्तु पेशी से अधिक सवाहक होते है।

इसलिए तन्त्रिका-तन्तु मे उत्पन्न की उत्तेजक अवस्था पेशी की अपेक्षा अधिक तेजी से सचारित होती है। उत्तेजक अवस्था (तन्त्रिका-आवेग) का सवहन ही तन्त्रिका-तन्तु का एकमात्र कार्य है। वस्तुत: सवहन की प्रक्रिया एक निष्क्रिय प्रक्रिया ही नही है—एक बार अपने भीतर आवेग उत्पन्न कर दिया जाने पर तन्त्रिका-तन्तु अपने पूरे विस्तार मे आवेग को संचारित करने मे सक्रिय भाग लेता है। एक मोटे उदाहरण से तन्त्रिका-तन्तु की इस क्रिया को अधिक स्पष्ट किया जा सकता है। कल्पना कीजिए कि कुछ आलपिनो को एक कतार मे इस तरह खड़ा कर दिया गया है कि एक पिन दूसरी के ठीक पीछे लगी हुई
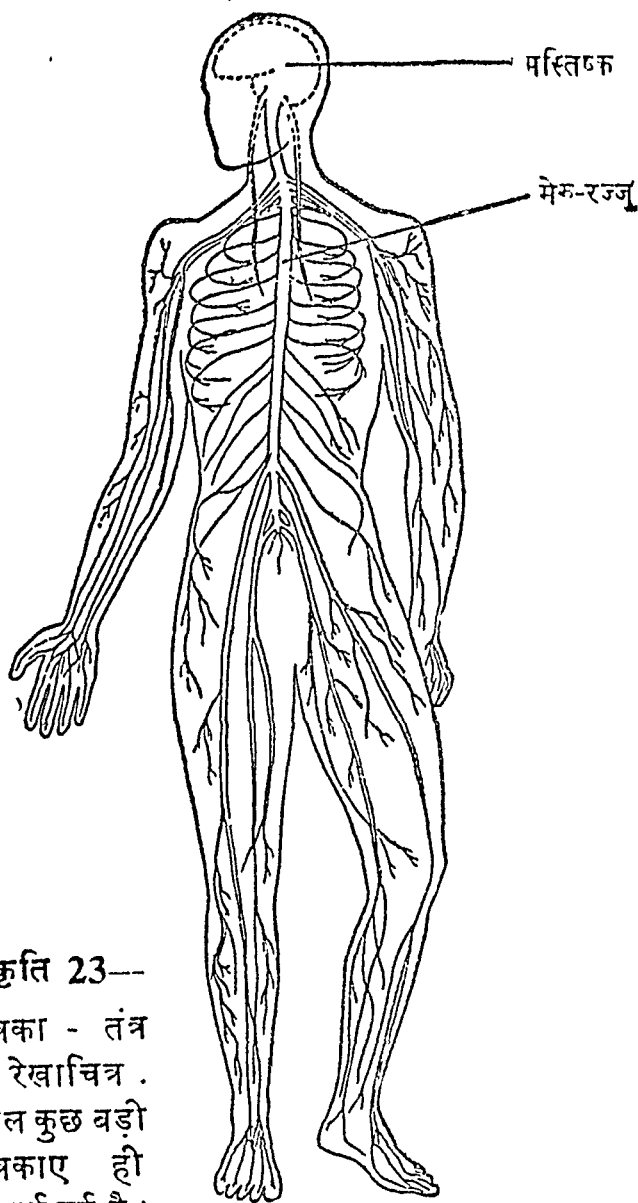
आकृति 23—तंत्रिका - तंत्र का रेखाचित्र . केवल कुछ बड़ी तत्रिकाए ही दिखाई गई है ।

है । मान लीजिए कि ये पिनें एक तन्त्रिका-तन्तु के क्रमिक विन्दुओ के अनुरूप है । अब पहली पिन पर एक गेद फेकी जाती है और उसका आघात (उद्दीपन) इस पिन को गिरा देता है । गिरते-गिरते पहली पिन दूसरी पिन को गिरा देती है, दूसरी तीसरी को और इस प्रकार अत तक सभी पिने गिरती चली जाती है । पिनो के एक शृखला मे गिरने से उत्पन्न गति की यह अविरल तरग तन्त्रिका-आवेग के अनुरूप (वस्तुत. विद्युत-धारा के समान अधिक) होगी । इसमे तरग के संचरण के लिए अपनी-अपनी वारी मे हर पिन आवश्यक है ।

तन्त्रिका को उत्तेजित कर सकने के लिए पर्याप्त उद्दीपन को पेशी के संवध मे वर्णित शर्तों को पूरा करना चाहिए । उसे एक न्यूनतम शक्ति का, समुचित

अवधि तक चलनेवाला और शीघ्रतापूर्वक न्यूनतम तीव्रता पर पहुंच सकनेवाला होना चाहिए। यदि उसमे ये विशेषताए न हुई, तो तन्त्रिका उसकी अनुक्रिया नही करेगी।

देह मे तन्त्रिका-आवेग सामान्यत तन्त्रिका-तन्तु के एक छोर पर उत्पन्न होते हैं। मिसाल के तौर पर, न्यूरॉन का एक्सन कोशिका-काय से अपने निकास के विन्दु पर एक तन्त्रिका-आवेग ग्रहण करता है। इसके वाद यह आवेग केवल
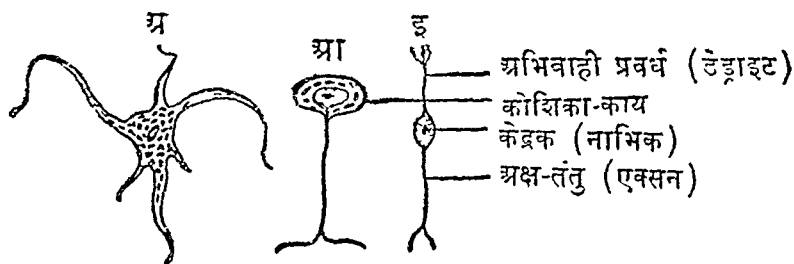
आकृति 24—न्यूरॉनों के प्रकार (अ) कई प्रवर्ध वाला, (आ) एक प्रवर्ध वाला, (इ) दो प्रवर्ध वाला

एक दिशा मे ही जाता है। किन्तु यदि तन्त्रिका खुली हो, या किसी प्रयोगगत जन्तु की तन्त्रिका का एक लम्बा खंड निकाल लिया गया हो, तो उसे किसी भी विन्दु पर सप्रभाव उद्दीपित किया जा सकता है। इस प्रकार उत्पन्न तन्त्रिका-आवेग तन्त्रिका-तन्तुओ के सहारे दोनो दिशाओ मे चले जायेगे।

तत्रिका इन वातो मे पेशी की तरह होती है कि वह भी विद्युत, यात्रिक, ऊष्मीय तथा रासायनिक उद्दीपनो की अनुक्रिया करती है। अधिकाश मामलो मे विद्युत-उद्दीपन ही सबसे अधिक महत्त्व के होते है। कभी-कभी अन्य प्रकार के उद्दीपन भी तत्रिका-आवेग उत्पन्न कर देते है। उदाहरण के लिए, कुहनी पर की 'कौतुकी अस्थि' (फनी वोन) पर आघात होने से जो अजीव-सी अनुभूति होती है, वह दाव द्वारा वाह मे की एक तत्रिका के उद्दीपन के कारण उत्पन्न होती है। देह मे सामान्य तत्रिका-आवेग सम्भवत विद्युतीय प्रकृति के वाता-वरणीय परिवर्तनो से उत्पन्न होते है। इसलिए प्रयोगात्मक कार्यो के लिए कृत्रिम विद्युत-उद्दीपन प्राकृतिक उद्दीपनो के निकटतम रहते है। इसके अलावा विद्युत-उद्दीपन ऊतको को कम हानि भी पहुचाते है और अधिक सरलता तथा यथार्थतापूर्वक नियत्रित किए तथा मापे जा सकते है।

तत्रिका का अध्ययन करने के लिए उसकी क्रियाशीलता का अभिलेखन आवश्यक है। पेशी की क्रियाशीलता के अभिलेखन की अपेक्षा यह कार्य अधिक कठिन है, क्योकि सक्रिय तत्रिका मे चलती कोई चीज नही देखी जा सकती। कभी-कभी तत्रिका-उद्दीपन से जनित पेशीय कुचनो के अभिलेखन द्वारा हम तत्रिका के वारे मे सूचना प्राप्त कर सकते है। तथापि एक कही ज्यादा अच्छा

तरीका निकाला गया है, जिसमे बड़े सुग्राही तथा जटिल विद्युत-उपकरण का उपयोग होता है। यह उपकरण तंत्रिकाओ मे होनेवाली अतीव सूक्ष्म घट-बढ को प्रवर्धित कर देता है, जिससे उन्हे अभिलिखित किया तथा मापा जा सकता है। इस प्रकार के उपकरण के संशोधित स्परूपो की सहायता से वस्तुतः यह तक संभव हो जाता है कि तन्त्रिका-आवेग को देखा और फिर उसे 'फोटोग्राफित' भी किया जा सकता है।

तन्त्रिका-आवेग मूलत. एक तन्त्रिका-कोशिका तथा उसके भागो मे उत्पन्न और उनके द्वारा संवहित एक विद्युत-तरग है। आवेगो के संचरण मे तंत्रिका-तन्तु सक्रिय भाग लेता है। इसके साथ ही यह अपनी विश्राम की मूल अवस्था मे लौट जाने मे भी सक्रिय भाग लेता है, ताकि यह अन्य उद्दीपनो के प्रति भी सग्रहणशील रह सके। पूर्वावस्था-प्राप्ति की यह प्रक्रिया इतनी तेजी के साथ चलती है कि कुछ तन्त्रिका-तन्तु (दीर्घतम) 2000 प्रति-सैकंड आवृत्ति तक के आवेगो का सचरण कर सकते है।

भिन्न-भिन्न आकार के तन्त्रिका-तंतु आवेगो को भिन्न-भिन्न अनुपातो मे और विभिन्न सवहन-गतियो से संवहित करते है। तन्तु जितना वडा होगा, वह उतने ही अधिक आवेगो का सवहन कर सकता है और समय की एक दी हुई इकाई मे वह उन्हे उतनी ही ज्यादा तेजी के साथ सवहित करेगा। मानव-देह मे आवेगो का सवहन सौ से दो सौ मील प्रति-घंटा तक की गतियो से होता है।

प्रतिवर्ती क्रिया और मेरु-रज्जु

देह के अन्य तत्रो मे होनेवाली सक्रियताओ के नियंत्रण की चर्चा करते हुए हम प्रतिवर्ती क्रिया के अनेक उदाहरण देख चुके है। अव हम प्रतिवर्ती क्रियाओ के शारीरीय आधार तथा प्रतिवर्तो के प्रकार तथा गुणधर्मो की अधिक सूक्ष्मता के साथ जाच कर सकते है।

मेरु-रज्जु की सरचना—मेरु-रज्जु अस्थिमय कशेरुको मे अच्छी तरह से वन्द है। पूछवाले केशरुकदडियो (कुत्ता, विल्ली इत्यादि) मे मेरु-रज्जु संपूर्ण मेरुदड मे फैली रहती है, लेकिन बिना पूछवालो (मेढक, मनुष्य, बन्दर आदि) मे यह कुछ छोटी होती है। मनुष्य मे यह दूसरे कटि-कशेरुक के निकट समाप्त होती है (यह कशेरुक वक्षीय प्रदेश के नीचे दूसरा कशेरुक है)। ऊपरी सिरे पर मेरु-रज्जु मस्तिष्क मे विलीन हो जाती है।

देह से निकाल देने पर या उघाडने पर मेरु-रज्जु एक लंबे सफेद 'सिलिंडर' या 'वेलन'-जैसी नजर आती है (आकृति 25), जो अनुप्रस्थ काट मे अंडाकार है। इसके आदिमखडीय विन्यास का प्रमाण इसके दोनो तरफ निकलनेवाली तन्त्रिकाए है। मेरु-तन्त्रिकाओ के 31 जोडे होते है, हर जोडा एक मेरु 'खड' से निकलता है। लेकिन रज्जु के 'खडो' मे आतरिक रूप से विभेद नही किया जा सकता। मेरु-रज्जु के नीचे कई तन्त्रिकाए उतरती दिखाई देती है : वे घोड़े की
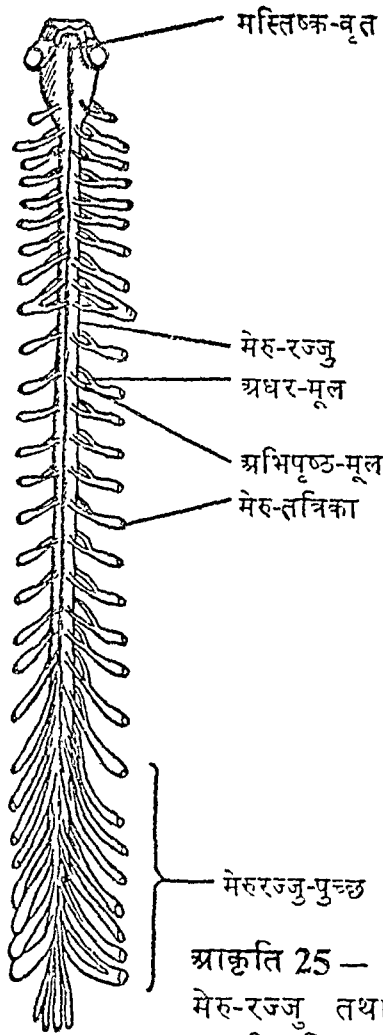
आकृति 25 — मेरु-रज्जु तथा उसकी तन्त्रिकाए

पूछ से मिलती-जुलती है, इसीलिए इस क्षेत्र को 'मेरु-रज्जु-पुच्छ' नाम दिया गया है।

अधिक सूक्ष्म निरीक्षण से यह देखा जा सकता है कि मेरु-रज्जु से हर मेरु-तन्त्रिका दो समूहो मे निकलती है—पीठ की ओर के अभिपृष्ठ-मूल और उदर की ओर के अधर-मूल। सौ साल से अधिक समय से यह ज्ञात है कि अभिपृष्ठ-मूलो मे अभिवाही या सवेदी तन्त्रिका-ततु होते है (केन्द्रीय तन्त्रिका-तत्र मे प्रवेश करनेवाले) और अधर-मूलो मे अपवाही या प्रेरक तन्त्रिका-ततु होते है (केन्द्रीय तन्त्रिका-तत्र से निकलनेवाले)। इस प्रकार प्रत्येक मेरु-तंत्रिका मे सवेदी और प्रेरक ततुओ का मिश्रण होता है। फिलहाल हमे यह ध्यान मे रख लेना चाहिए कि प्रत्येक अभिपृष्ठ-मूल मे एक उत्फुल्लन या उभार होता है, जिसे 'अभिपृष्ठ' या 'मेरु-रज्जु-गुच्छिका' कहते है।

मेरु-रज्जु के आरपार काटने पर अनुप्रस्थ काट मे एक बाह्य श्वेत द्रव्य और आंतरिक धूसर-द्रव्य दिखलाई देता है (आकृति 26)। धूसर-द्रव्य मे न्यूरॉनो तथा अमाइलिनित तन्त्रिका-ततुओ की कोशिका-काय होती है। श्वेत द्रव्य में केवल तन्त्रिका-ततु होते हैं। श्वेत रग दूधिया-सफेद रंग के एक वसीय पदार्थ की उपस्थिति के कारण होता है, जो इस प्रदेश के अनेक ततुओं को ढाके रखता है।
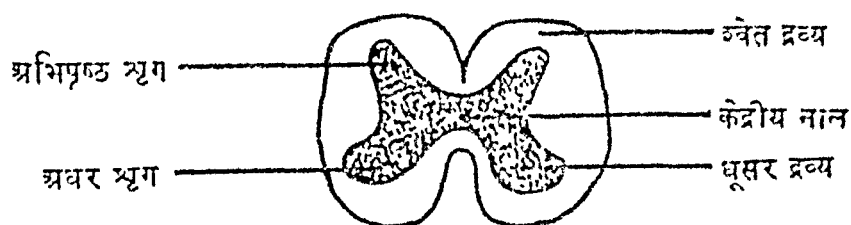
आकृति 26—मेरुरज्जु की अनुप्रस्थ काट

धूसर द्रव्य मोटे तौर पर अंग्रेजी वर्णमाला के 'एच' (H) अक्षर के आकार का होता है। 'एच' के ऊपरी सिरे अभिपृष्ठ शृंग और नीचे के अधर शृंग कहलाते है। रज्जु के मध्य केन्द्रीय नाल है, जो केन्द्रीय तंत्रिका-तंत्र की गुहा का एक छोटा-सा अवशेप है।
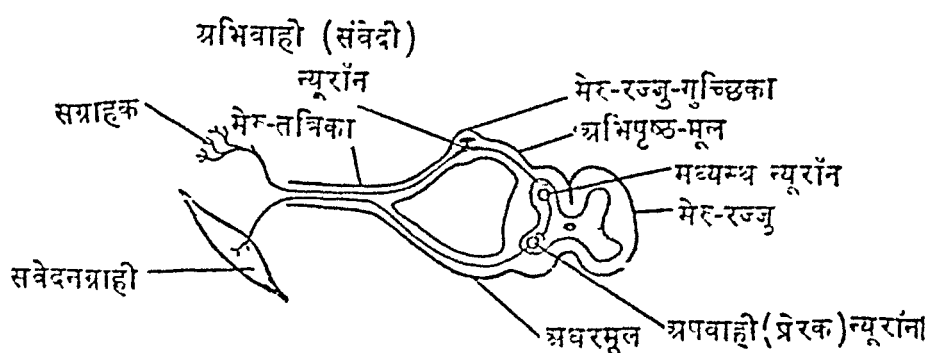
आकृति 27—एक सामान्य मेरु-प्रतिवर्त चाप

प्रतिवर्त चाप—प्रतिवर्ती कार्य अनेक तन्त्रिका-क्रियाओं के आधार है। प्रतिवर्तो को सभव बनानेवाली शारीरीय इकाई प्रतिवर्त चाप है (आकृति 27)। इसके पाच मुख्य भाग है—ग्रहीता या सग्राहक, अभिवाही न्यूरॉन, मध्यस्थ न्यूरॉन, अपवाही न्यूरॉन और संवेदनग्राही। कोई भी ज्ञानेन्द्रिय संग्राहक हो सकती है। सुगमता की दृष्टि से हम गरम अगीठी के स्पर्श से उगली के प्रतिवर्ती सकुचन को उदाहरणस्वरूप ले सकते है। इसमे सवद्ध सग्राहक त्वचा मे स्थित ऊष्मा-संग्राहक होगे। ऊष्मा द्वारा उद्दीपित होने पर सग्राहक अभिवाही तन्त्रिका-ततु द्वारा तन्त्रिका-आवेगो को प्रेपित करता है। इस ततु की कोशिका-काय एक अभिपृष्ठ-गुच्छिका मे स्थित होती है। ये आवेग कोशिका-काय तक जाते है और फिर इसके अकेले

प्रवर्ध की दूसरी शाखा द्वारा निकल जाते है। वे मेरु-रज्जु मे अधर-मूल द्वारा प्रवेश करते है। गुच्छिका-कोशिका का प्रवर्ध फिर धूसर द्रव्य के अभिपृष्ठ-शृग मे के मध्यस्थ-न्यूरॉन के अभिवाही प्रवर्धो से सपर्क स्थापित करता है। आवेग इन दोनो न्यूरॉनो के बीच का आवकाश भर देते है और मध्यस्थ न्यूरॉन को सक्रिय करते है और इस न्यूरॉनो के डेड्राइट (अभिवाही प्रवर्ध), कोशिका-काय तथा अक्ष-ततु पर होकर आवेग चलने लगते है। ये आवेग अधर शृग मे एक अपवाही न्यूरॉन के अभिवाही प्रवर्ध को सक्रिय करते है और नये आवेग उत्पन्न करते है, जो अपवाही न्यूरॉन कोशिका-काय पर होकर जाते है और मेरु-रज्जु को इसके अक्ष-ततु या अपवाही तत्रिका-तंतु के मार्ग से छोड देते है। अपवाही तत्रिका-ततु अधर-मूल और मेरु-तत्रिका से होता हुआ पेशी तक जाता है। ये आवेग पेशी-तत्रिका मेलो को सक्रिय कर देते है (जैसा कि अध्याय 8 मे बताया गया है) और सवेदनग्राही (पेशी) की कोशिकाओ को कुचित कर देते है। इस प्रकार उगली खिच जाती है। एक सग्राहक के उद्दीपन का परिणाम किसी सवेदनग्राही अग की प्रतिवर्ती अनुक्रिया होता है और यह सारी क्रिया सामान्यत: इसके वर्णन मे लगनेवाले समय से कही तेजी से सपन्न हो जाती है।

हमने अभी तत्रिका-तत्र की एक नई लाक्षणिकता देखी। तत्रिका-कोशिकाए एक-दूसरी के साथ अविरल क्रम मे नही है। वरन् वे केवल सम्पर्क मे ही आती है। दो न्यूरॉनो के सपर्क का क्षेत्र 'अतर्ग्रथन' या 'सनेप्स' कहलाता है। अतर्ग्रथन के गुणधर्म भी लगभग वही है, जो पेशी-तत्रिका मेल के है।

ऊपर-वर्णित प्रतिवर्ती चाप एक सरल चाप है। अधिकाश प्रतिवर्तो मे अधिक जटिल चाप सन्निहित होते है, यह जटिलता अभिवाही और अपवाही न्यूरॉनो के वीच अधिक मध्यस्थ न्यूरॉनो के सम्मिलन से आती है। मेरु-रज्जु के एक ही खड के एक ही पार्श्व तक सीमित होने के बजाय तव प्रतिवर्ती चाप मे मेरु-रज्जु के दोनो पार्श्व सम्मिलित हो सकते है। और उनके एक से अधिक स्तर भी हो सकते है। फलत· प्रतिवर्ती अनुक्रिया मे कई पेशिया सम्मिलित हो सकती है और कुछ सग्राहको के उद्दीपन से पेशीय कुचनों का जटिल स्वरूप उत्पन्न हो सकता है।

प्रतिवर्तो के प्रकार—सभी प्रतिवर्ती क्रियाए उद्दीपनो की अचेतन अनुक्रियाए है। प्रतिवर्तो के सामान्य उदाहरण 'घुटने का झटका', 'आकुचन' 'प्रतिवर्त' और 'अवातरित-विस्तार' प्रतिवर्त है। जब एक टांग दूसरी पर आडी रखी जाती है और ऊपर की टाग के घुटने की टोपी या जानु-फलक की कडरा पर आघात किया जाता है, तो वह टाग ऊपर की ओर झटक जाती है। घुटने का यह झटका निचली टाग को आगे बढानेवाली पेशी की कडरा मे सग्राहको के खिचाव से उत्पन्न उद्दीपन के कारण पैदा होता है। आकुचन-प्रतिवर्त त्वचा के पीडादायी उद्दीपन से उत्पन्न प्रतिवर्त है। उदाहरण के लिए, कील पर पैर पड जाने की आपकी अनुक्रिया होगी आपकी टाग का मुड़ना और उस पीडा देनेवाले उद्दीपन

से उसे हटा लेना। इस प्रतिवर्त का सामान्यतः एक सहगामी प्रतिवर्त अपरपार्श्विक-विस्तार प्रतिवर्त है। एक पैर के पीडादायी उद्दीपन से वह टांग सिकुड़ जाती है और इस अनुक्रिया के साथ-साथ, दूसरी टांग आगे आ जाती है। इन परिस्थितियों में अपने संतुलन बनाये रखने में यह प्रतिवर्त एक प्रकट सहायता है।

प्रतिवर्तों का कई प्रकार से वर्गीकरण किया जा सकता है। अपने उद्गम के अनुसार वे या तो वंशागत हैं या अनुभव द्वारा उपार्जित हैं। ऊपर दिये सभी प्रतिवर्त वंशागत प्रतिवर्तों के उदाहरण हैं। गर्भ-विकास के दौरान इनके पथ स्थापित-निर्धारित हुए हैं। प्रयोगगत जन्तु में मस्तिष्क के नष्ट कर दिये जाने के बाद भी इन सब प्रतिवर्तों को दर्शाया जा सकता है। 'उपार्जित' या 'अनुकूलित' अथवा 'औपाधिक' प्रतिवर्त वे हैं, जो हम किसी कार्य के दोहराये जाने पर सीखते हैं। बाजा बजाने या टाइप करते समय उंगलियों की गति इत्यादि इसके उदाहरण हैं। चूंकि ये प्रतिवर्त मस्तिष्क के उच्चतम स्तरों के अधीन हैं, इसलिए हम इनकी चर्चा आगे करेंगे।

वर्गीकरण का दूसरा ढंग जटिलता के अनुसार वर्गीकरण करना है। 'सरल प्रतिवर्त' वे हैं, जिनमें एक अकेली पेशी एक अकेले उद्दीपन की अनुक्रिया करती है। घुटने का झटका इसका एक उदाहरण है। तथापि अधिकांश प्रतिवर्तों में एक से अधिक पेशियां सम्मिलित होती हैं, इसलिए वे 'समन्वित प्रतिवर्त' कहलाते हैं। उदाहरण के लिए टांग के आकुंचन प्रतिवर्त में एक टांग की पेशी का कुंचन (जो टांग को घुटने पर मोड़ देता है) और उसी के साथ दूसरी टांग की पेशी का शिथिलन (जो टांग को घुटने से सीधा करता है) दोनों सम्मिलित हैं। 'प्रतिवर्त शृंखला' समन्वित प्रतिवर्त ही हैं, पर वे और भी अधिक जटिल होते हैं—यह प्रतिवर्तों की एक शृंखला होती है, जिसमें एक प्रतिवर्त अगले प्रतिवर्त के लिए उद्दीपन का कार्य करता है। गतियों का लयबद्ध क्रम, जिनसे हम चलते-फिरते हैं, एक शृंखला-प्रतिवर्त है। बहुत से विस्तारित प्रवृत्तिजन्य वृत्तिक कार्य, जैसे पक्षियों और मधुमक्खियों की गृहपरता (घर लौटकर आने की प्रवृत्ति), इसी वर्ग में के प्रतिवर्त हैं।

यदि प्रतिवर्तों को जन्म देनेवाले संग्राहकों के प्रकारों पर विचार किया जाये तो तीन प्रकार के प्रतिवर्त दृष्टिगोचर होते हैं। बाह्य संग्राहकों का उद्दीपन (ये संग्राहक देह के सतही प्रदेशों में होते हैं) 'बाह्य ग्राही' या 'बाह्य संवेदी' प्रतिवर्तों को उत्पन्न करता है, जैसे पैर की त्वचा के पीडादायी उद्दीपन से उत्पन्न आकुंचन प्रतिवर्त। आंतरांगों के संग्राहक—'अंतःसंग्राहक', 'अंत:ग्राही' या 'अंत:संवेदी' प्रतिवर्त उत्पन्न करते हैं। परिवहन और श्वसन आदि प्रतिवर्त इस प्रकार के उदाहरण हैं। पेशियों, कंडराओं, संधियों और आभ्यंतर कर्ण के कुछ भागों में स्थित एक और वर्ग में संग्राहक 'मध्यग्राहक' 'ऊतक संवेदी' प्रतिवर्त उत्पन्न करते हैं। घुटने का झटका इसी प्रकार का प्रतिवर्त है।

प्रतिवर्त और मेरु-रज्जु—प्रतिवर्त चाप की संरचना और उसकी कार्य-प्रणाली के कारण-जनित एक प्रतिवर्ती पेशीय अनुक्रिया एक अपवाही तंत्रिका के

उद्दीपन से जनित पेशीय अनुक्रिया से वहुत अधिक भिन्न होती है । प्रतिवर्ती अनुक्रिया अधिक देर के वाद आरम्भ होती है और अधिक देर तक चलती है, फिर भी दूसरे प्रकार की अनुक्रिया की अपेक्षा यह अधिक आसानी से अमिश्रात हो सकती है । काफी अलग-अलग सग्राहको से भी प्राय: एक ही प्रतिवर्ती अनुक्रिया प्राप्त की जा सकती है ।

प्रतिवर्ती अनुक्रिया के विशिष्ट गुण प्रतिवर्त चाप में कोशिका-कायो और अतर्ग्रथनो की उपस्थिति के कारण ही होने चाहिए । उदाहरण के लिए, यदि हम किसी पेशी को जानेवाली तन्त्रिका को एक अकेले उद्दीपन से उद्दीपित करे, तो हमे एक अकेली अनुक्रिया ही प्राप्त होती है—पेशी की एक साधारण धड़क । यदि हम किसी सग्राहक को एक वार उद्दीपित करे, तो हम सामान्यत एक ऐसी प्रतिवर्ती पेशीय अनुक्रिया प्राप्त कर सकते है कि जिसकी प्रकृति पेशी को मरोडने की होगी । हुआ यह है कि प्रतिवर्त चाप की तत्रिका-भागो के विन्यास और कार्य की विशिष्टताओ के कारण एक अकेला प्रारंभिक उद्दीपन प्रेरक तन्त्रिका पर आवेगो के एक प्रवाह मे परिवर्तित हो गया है ।

इसके अलावा, न केवल प्रतिवर्ती उत्तेजन ही, वरन् प्रतिवर्ती अवरोधन भी हो सकता है । हम जानते है कि सामान्यत: जव कोई पेशी कुचित होती है तो उसकी विरोधी पेशी को शिथिलित होना ही पड़ता है । इस प्रकार जव हम वांह मोड़ते है, तो न केवल कुचनशील पेशिया ही कुचित होती है, वरन् विस्तारिक पेशिया भी शिथिलित होती है । इसमें निहित उत्तेजन-अनुक्रिया प्रेरक न्यूरॉनो से एक आवेग-शृंखला के विसर्जन द्वारा प्रतिवर्ती ढग से उत्पन्न होती है; अवरोधन अन्य प्रेरक न्यूरॉनो से आवेशो के विसर्जन के प्रतिवर्त द्वारा वद होने का फल होता है । हाल का प्रायोगिक कार्य यह इगित करता है कि पेशी-तंत्रिका मेलो की ही भाति, अतर्ग्रथनो पर भी रासायनिक द्रव्य मुक्त होकर अगली कोशिका पर प्रभाव डालते है । निस्सदेह सिरो पर मुक्त हुए वे रासायनिक द्रव्य, जो न्यूरॉनो पर उत्तेजक प्रभाव डालते है, सिरो पर मुक्त हुए उन रासायनिक द्रव्यो से भिन्न होते है, जो अवरोधन उत्पन्न करते है । इन पदार्थो की सही प्रकृति क्या है, यह अभी निश्चित नही हो सका है ।

केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के अत्यधिक सख्यक न्यूरॉन अनेक पृथक्-पृथक् तथा अनेक ही असम्बन्धित प्रतिवर्ती पथो मे भी समावेशित होते है और ये हमारे द्वारा किए प्रतिवर्ती कार्यो की जटिलता के कारण होते है । मेरु-रज्जु कई प्रतिवर्ती उत्तेजनो और अवरोधनो का केन्द्र है । (यह नही भूलना चाहिए कि मस्तिष्क मे भी कई प्रतिवर्ती केन्द्र है) ।

रज्जु का एक महत्त्वपूर्ण कार्य आगता संवेदी आवेगो का ‘निर्वचन’ करना, उन्हे समुचित प्रेरक न्यूरॉन पेशियो या प्रेरक न्यूरॉन ग्रथि-संयोगो को भेजना और इस प्रकार किन्ही उद्दीपनो के प्रति सहज समन्वित अनुक्रिया सुनिश्चित करना है । उपरोक्त को क्रियान्वित करना रज्जु के धूसर द्रव्य के न्यूरॉन का एक प्रमुख

कार्य है। दूसरा कार्य रज्जु के एक स्तर से दूसरे स्तर को, और मस्तिष्क से तथा मस्तिष्क को आवेगो को भेजना है। रज्जु के श्वेत द्रव्य मे समान गंतव्यो को जाते और समान कार्य करनेवाले आवेगो का सचार करते तंत्रिका-तन्तु गुच्छो या वंडलो मे गुच्छित होते हैं। इस प्रकार मेरु-रज्जु एक निष्क्रिय संवहन का काम भी करती है, लेकिन जिन अतस्संम्वन्धो को ये सयोग संभव वनाते है, वे अनेक दैहिक क्रियाओं के समन्वय के लिए आवश्यक है।

स्वायत्त तन्त्रिका-तन्त्र

शारीरीय दृष्टि से स्वायत्त तंत्रिका-तन्त्र परिधि-तन्त्रिका-तन्त्र का एक विशेप अंग है। आतरागो की सक्रियताओ के स्वतः नियंत्रण से सम्वन्धित इस तन्त्र की तुलना दैहिक अंगो (मूलतः कंकाल-पेशियो) को नियत्रित करनेवाले प्रतिवर्ती तन्त्र से की जा सकती है जिसका अभी ऊपर वर्णन किया गया है।

स्वायत्त तंत्रिका-तत्र की संरचना—संरचना और कार्य की दृष्टि से स्वायत्त तंत्रिका-तन्त्र एक दुहरा तन्त्र है। इसके दोनो उपविभाग 'अनुकंपी' तथा 'परानुकपी' या 'सहानुकंपी' तन्त्र कहलाते है। प्रत्येक तन्त्र प्रतिवर्तो के एक-एक तन्त्र पर आधारित है, जो दैहिक अंगो के कुछ भिन्न होता है।

अभिवाही न्यूरॉन वहुत-कुछ उन न्यूरॉनो-जैसे ही होते है, जिनकी हम पहले चर्चा कर चुके है। उनका प्रारम्भ विभिन्न आतराग क्षेत्रो मे संग्राहको मे होता है और उनकी कोशिका-काय एक मेरु-गुच्छिका में या मस्तिष्क के निकट-स्थित एक गुच्छिका मे रहती है। इसके वाद वे कपाल-तन्त्रिकाओं या अभिपृष्ठ-मूलो से होकर मस्तिष्क या मेरु-रज्जु मे चले जाते है। केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के भीतर अनेक स्वायत्त प्रतिवर्तो के यथार्थ पथ वहुत स्पप्ट नही है। अभिवाही न्यूरॉन या तो प्रत्यक्षत, या कुछ मध्यस्थ न्यूरॉनों द्वारा स्वायत्त अपवाही न्यूरॉनो से सम्पर्क वनाते है। हमने जिन अन्य प्रतिवर्तो का अध्ययन किया है, स्वायत्त प्रतिवर्त चाप मे उनसे भिन्न दो अपवाही न्यूरॉन होते हैं। इनमे से पहला केंद्रीय तन्त्रिका-तन्त्र मे पाया जाता है और यह अपना अक्ष-तन्तु (एक्सन) रज्जु या मस्तिष्क के वाहर स्थित एक गुच्छिका को भेजता है। इस कारण यह पुरोगुच्छिक न्यूरॉन कहलाता है। पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु गुच्छिका में एक न्यूरॉन के साथ अतर्ग्रथन करता है, जो अपना अक्ष-तन्तु संवेदनग्राही (इफेक्टर) अग—चिकनी या हृद्-पेशी या किसी ग्रंथि को भेजता है। यह दूसरा अपवाही न्यूरॉन पश्च-गुच्छिक न्यूरॉन है।

अनुकंपी तंत्र—अनुकंपी तन्त्र को कभी-कभी 'वक्ष-कटि विभाग' भी कहा जाता है, क्योकि इसके पुरोगुच्छिक न्यूरॉन मेरु-रज्जु के कटि और वक्ष-खडो के धूसर द्रव्य मे से निकलते हैं। पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु रज्जु के अधर-मूल पर निकलते है और फिर मूल मे अलग हो जाते है। अव वे तीन मे से किसी एक स्थान पर समाप्त हो सकते है।

मेरु-रज्जु के दोनो ओर गुच्छिकाओ की एक शृंखला है, जिसे अनुकपी शृखला कहते है (आकृति 28)। कुछ पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु कोशिकाओ के साथ इन गुच्छिकाओ मे अंतर्ग्रथन करते है। इन गुच्छिका-कोशिकाओं से पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु मेरु-तन्त्रिका से मिल जाते है और देह के सतही प्रदेशो की चिकनी पेशी व ग्रन्थियो मे बट जाते है, जैसे त्वचा। (कुछ पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु मेरु-तन्त्रिकाओ मे फिर नही मिलते, वरन् सिर तथा वक्ष-गुहा के अगो को चले जाते है)। अन्य पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु अनुकपी शृखला की गुच्छिकाओ से अतर्ग्रथित हुए बिना गुजर जाते है और उदर-गुहा मे स्थित मुक्त गुच्छिकाओं में जाकर समाप्त हो जाते है, जिन्हे 'समपार्श्वी' गुच्छिकाएं कहते है। इन गुच्छिकाओ से पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु उदरीय अगो की चिकनी पेशी और ग्रन्थियो मे चले जाते है। अन्य, किन्तु अपेक्षाकृत थोड़े, पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु 'अग्र-गुच्छिकाओ' में की
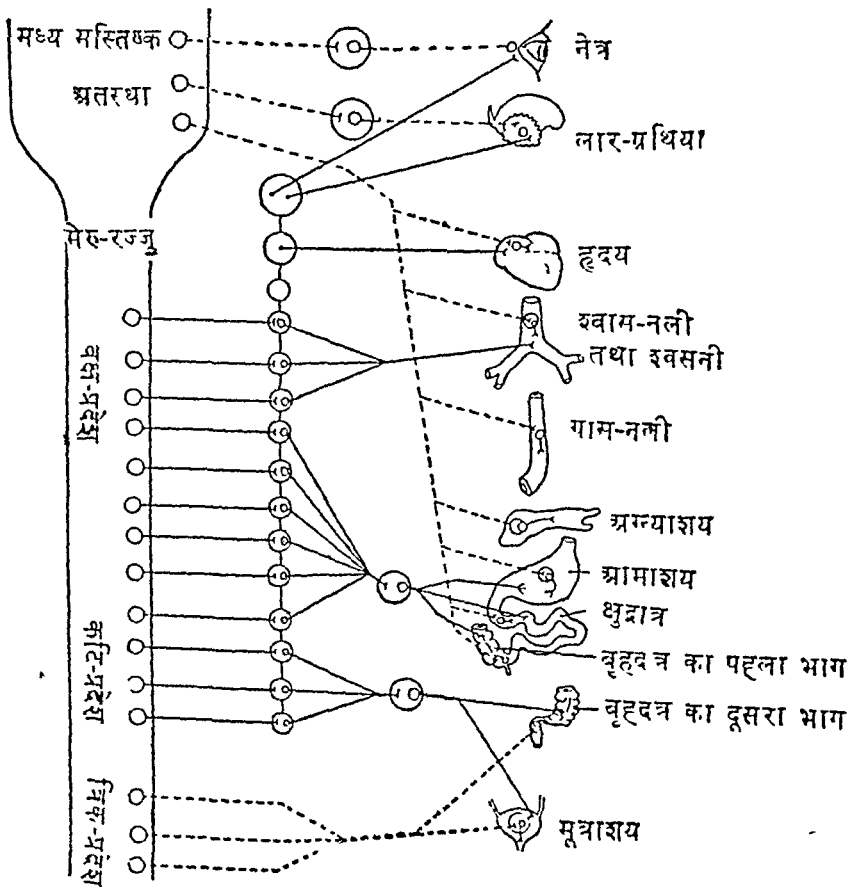
आकृति 28—स्वायत्त तन्त्रिका-तंत्र द्वारा तन्त्रिका-भरणित अग. परानुकपी (कपालत्रिक) ततु बिंदु-रेखाओ द्वारा और अनुकंपी (वक्ष-कटि) तंतु ठोस रेखाओ द्वारा दर्शाए गए है।

कोशिकाओं के साथ, जो तन्त्रिका-भरणित (तन्त्रिकोत्तेजित) अंगों की दीवारो मे स्थित होती है, अंतर्ग्रथित हो जाते है। इसके बाद पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु उस अंग के संवेदनग्राहियो को चले जाते है, जो बहुत ही निकट होते है।

परानुकंपी या सहानुकंपी तंत्र—परानुकंपी तन्त्र का दूसरा नाम 'कपाल-त्रिक विभाग' है, क्योकि इसकी पुरोगुच्छिक तन्त्रिका-कोशिकाएं मस्तिष्क और मेरु-रज्जु के त्रिक खंडो मे पाई जाती है। पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु फिर अग्र-गुच्छिकाओ को चले जाते है, जो तन्त्रिका-भरणित अंगो की दीवारो मे स्थित होती है। पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तुओ को अपने द्वारा नियंत्रित सवेदनग्राहियो तक पहुंचने के लिए थोडी दूरी पार करनी पडती है।

परानुकंपी तन्त्र मे गुच्छिकाओं का उतना ही वैभिन्न्य नही होता। यह भी ध्यान देने की बात है कि अनुकंपी तन्त्र मे पुरोगुच्छिक अक्ष-तन्तु अपेक्षाकृत छोटे होते है और पश्चगुच्छिक अक्ष-तन्तु लम्बे, जब कि परानुकंपी तन्त्र मे इसका उल्टा होता है।

स्वायत्त तंत्र के कार्य—आकृति 28 को देखने से पता चलेगा कि लगभग प्रत्येक आतराग को दुहरा तन्त्रिकाभरण प्राप्त होता है—अनुकंपी तथा परानुकंपी, दोनों ही तन्त्र इसे तन्त्रिका-तन्तु भेजते हे। साधारणतया हर तन्त्र से आनेवाले तन्तुओ की विभिन्न अंगो पर विरोधी क्रिया होती है।

अनुकपी आवेगो द्वारा हृदय की गति बढ जाती है और परानुकंपी (वेगस) आवेगों द्वारा धीमी पड जाती है। पाचक क्षेत्र की चरता और स्राव परानुकंपी आवेगों द्वारा बढ जाते है और अनुकंपी आवेगों द्वारा घट जाते है। आख का तारा परानुकंपी आवेगो से प्रकुचित हो जाता है और अनुकम्पी आवेगो से फैल जाता है। अनेकों आतरागों के साथ ऐसा ही होता है।

विभिन्न तन्त्रों के जिस तन्त्रिका-नियमन की हमने चर्चा की है, उसका अधिकांश स्वायत्त है। स्वायत्त तन्त्र, इस प्रकार, जीवन के गतिशील संतुलन को बनाए रखने के लिए एक आवश्यक संयोजक उपकरण है।

तन्त्रिका-तन्त्र के अन्य क्षेत्रों की भाति न्यूरॉनों के मध्य, तथा न्यूरॉनो और सवेदनग्राहियों के मध्य संचार-कारक स्वायत्त तन्त्र मे रासायनिक पदार्थ है। गुच्छिकाओ के सभी .अंतर्ग्रथन मेलों पर और परानुकम्पी पश्चगुच्छिक अंतागो पर अगली कोशिका को सक्रिय करनेवाला पदार्थ 'एसिटिकोलीन' है। अधिकाश अनुकम्पी पश्चगुच्छिक अंतागों पर कार्य करनेवाला पदार्थ 'नोरेड्रीनेलीन' है।

मस्तिष्क की संरचना

मस्तिष्क मेरु-रज्जु का ही सिलसिला है। इसका अधिक पुराना भाग—मस्तिष्क-वृन्त देखने मे रज्जु से मिलता-जुलता है। हा, इसका आकार बडा और इसकी रूपरेखा अधिक अनियमित अवश्य है। सामान्यरूप से इसकी भीतरी बनावट भी बाह्य श्वेत द्रव्य से घिरे आन्तरिक धूसर द्रव्य की है, लेकिन रज्जु

की अपेक्षा मस्तिप्क मे ये विभेद कम विश्वसनीय है। यहा धूसर द्रव्य और श्वेत द्रव्य का कुछ मिश्रण हो गया है, जिसके फलस्वरूप धूसर द्रव्य के कुछ अश उभर आते है। धूसर द्रव्य के ये झुड 'केद्र' या केन्द्रक' (तन्त्रिका कोशिका-कायो के समूह) कहलाते है।

परिवर्धन के साथ-साथ मस्तिष्क-वृन्त के तीन मुख्य विभाग हो जाते है—पश्चमस्तिप्क, मध्यमस्तिप्क और अग्रमस्तिप्क। ये विभाग अपने मूल, खडीय चरित्र के अस्पष्ट अवशेप कायम रखते है और कपाल-तन्त्रिकाओ के वारह जोडो को उत्पन्न करते है। मस्तिष्क के पूर्णत: निर्मित होते-होते दो वड़े प्रदेश जुड चुके होते है—अनुमस्तिप्क पश्चमस्तिष्क से, और प्रमस्तिप्क गोलार्ध अग्रमस्तिप्क से विकसित होते है।
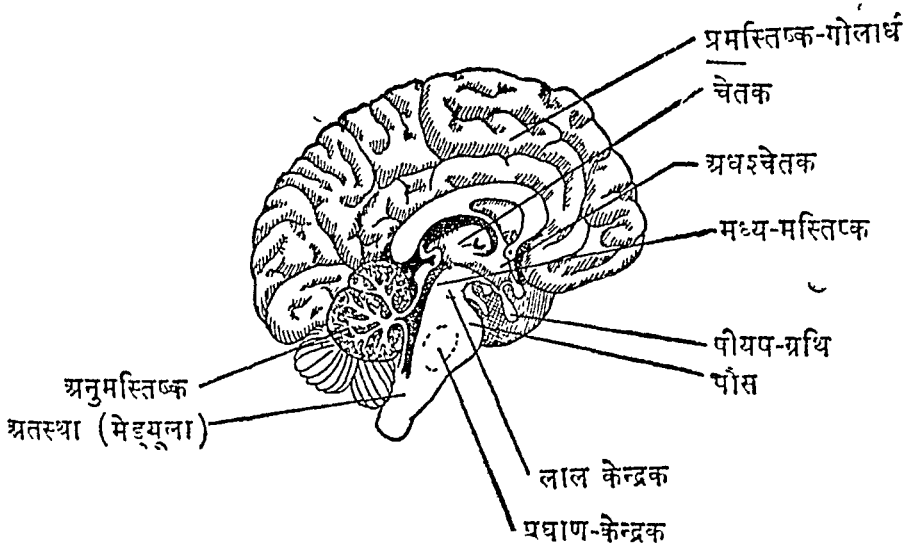
आकृति 29—मध्यरेखा पर कटे मस्तिप्क की भीतरी सतह का एक दृश्य

आकृति 29 मे अपनी मध्य रेखा पर आधे कटे हुए मस्तिष्क का आरेख है। पश्चमस्तिप्क का मस्तिप्क-वृन्तीय भाग मेड्यूला या अतस्था तथा पौस का वना है। पौस के अभिपृप्ठ अनुमस्तिप्क है। उसके वाद मध्यमस्तिप्क है। अग्रमस्तिप्क मे 'थैलेमस' या 'चेतक','हाइपोथैलेमस' या 'अधश्चेतक' तथा 'प्रमस्तिप्क-गोलार्ध' है। अधश्चेतक के नीचे एक डठल से लटकी हुई पिट्यूइटरी या पीयूप-ग्रथि है।

अनुमस्तिष्क तथा प्रमस्तिष्क-गोलार्ध—जैसा कि हम कह चुके है, ये निर्मितिया अधिक आदिम मस्तिप्क-वृन्त के उद्वर्ध (वाद मे वढे हुए अग) है और कशेरुकदडियो के विकास के साथ-साथ ये अधिक परिर्वधित होते गए है। इनमे एक सामान्य वात यह भी है कि उनका धूसर द्रव्य उनकी सतहो पर एक पतली परत मे, जिसे 'कॉर्टेक्स' या 'अन्तस्था' कहते है, जमा है और उनका श्वेत द्रव्य उनकी आरम्भिक राशि का सरचक है।

अनुमस्तिप्क एक अत्यधिक आदिम खड है (आकृति 30 के नीचे का विन्दी-

दार भाग) तथा अपेक्षाकृत बाद में उत्पन्न अग्र—तथा पश्च-पालियों और अनु-मस्तिष्क—गोलार्धों से मिलकर बना है।

विकास-क्रम की प्रगति के साथ-साथ प्रमस्तिष्क-गोलार्ध मस्तिष्क के सर्व-प्रमुख भाग बन जाते हैं। मेंढक में वे मस्तिष्क के अग्र प्रांत के छोटे भाग होते हैं; बिल्ली में वे पीछे की ओर इतने बढ़ चुके होते हैं कि मध्यमस्तिष्क को ढक लेते हैं, मनुष्य में वे इतने बढ़ चुके हैं कि पीछे की ओर से देखने पर मस्तिष्क के केवल ये ही भाग दृश्य रहते हैं।

प्रमस्तिष्क-गोलार्ध पर अनेक खाचे या परिखाएं हैं, परिखाओं के बीच के उभरे हुए क्षेत्र 'कर्णक' कहलाते हैं। सतही ऊतक पर सिकुड़नें पड़ने का कारण यह है कि गोलार्ध के अनराश की अपेक्षा यह ज्यादा तेज गति में बढ़ता है। कुछ कर्णक अपेक्षाकृत गहरी दरारें हैं, जिन्हें 'विदर' कहते हैं और ये प्रत्येक गोलार्ध को इन चार पालियों—'ललाट-पालि', 'पार्श्विका-पालि', 'अनुकपाल-पालि' तथा 'शंख-पालि'—में विभाजित करने में सीमा-चिह्नों का काम देते हैं।

प्रमस्तिष्क प्रांतस्था जटिलतम तन्त्रिका-क्रियाओं का स्थल है। गहन शारी-रीय अध्ययनों के बाद इसे दो सौ से अधिक क्षेत्रों में उपविभाजित किया गया है, जो एक-दूसरे से न्यूरॉनों के आकार और विन्यास में भिन्न-भिन्न हैं। अभी हमें इस बात को ध्यान में रख लेना चाहिए कि हर गोलार्ध में एक-एक प्रेरक और विभिन्न संवेदी क्षेत्र पृथक् किये जा सकते हैं (आकृति 31)।

कपाल-तन्त्रिकाएं—बारह कपाल-तन्त्रिकाएं सिर तथा देह के अन्य भागों में अनेक निर्मितियों का तन्त्रिकाभरण करती हैं। पहली कपाल-तन्त्रिका, घ्राण-तन्त्रिका कार्य की दृष्टि से पूर्णतः संवेदी है, इसके तन्तु नासिका में गन्ध-संग्राहकों से लेकर प्रमस्तिष्क-गोलार्धों तक जाते हैं। दूसरी कपाल-तन्त्रिका, दृष्टि-तन्त्रिका, भी पूर्णतः संवेदी तन्त्रिका है, यह नेत्र-गोलक में दृष्टि-संग्राहकों से लेकर चेतक तक जाती है।

तीसरी कपाल-तन्त्रिका, 'नेत्र-प्रेरक तन्त्रिका' पूर्णतः प्रेरक तन्त्रिका है। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, इसका सम्बन्ध नेत्रों की गतियों से है। यह नेत्र-गोलक की छः में से चार पेशियों को तन्तु भेजती है। यह उन पेशियों का भी तन्त्रिका-भरण करती है, जो आंख के तारे के आकार और लैंस की वक्रता को नियंत्रित करती है। तीसरी तन्त्रिका मध्यमस्तिष्क में उत्पन्न होती है। चौथी तथा छठी कपाल-तन्त्रिकाएं, 'चक्रक' तथा 'उद्विवर्तनी' तन्त्रिकाएं मध्यमस्तिष्क तथा पौंस में उत्पन्न होती हैं और नेत्र-गोलक की अन्य दो पेशियों का तन्त्रिकाभरण करती हैं।

पांचवीं, 'त्रिधारा तन्त्रिका' शिर-प्रदेश की मुख्य सामान्य संवेदी तन्त्रिका है। इसके संवेदी तन्तु सिर की त्वचा, दांतों तथा मुख की श्लैष्मिक ग्रंथियों से पौंस में आवेग लाते हैं। यह उन पेशियों की प्रेरक तन्त्रिका भी है, जो निचले जबड़े को चलाती हैं। सातवीं 'आनन-तन्त्रिका' मुख्यतः प्रेरक है, इसके तन्तु पौंस से चेहरे की पेशियों को और तीन में से दो बड़ी लार-ग्रंथियों को भी जाते हैं। जिह्वा

के सामने के दो-तिहाई भाग पर स्थिर स्वाद-संग्राहको से ग्रानेवाले कुछ सवेदी तन्तु भी इस तन्त्रिका मे पाये जाते है।

ग्राठवी 'श्रवण-तन्त्रिका' एकदम सवेदी है। इसमे श्रवण-संग्राहको से ग्रानेवाले और ग्रातरकर्ण मे साम्यावस्था के लिए स्थित संग्राहको से ग्रानेवाले तन्तु होते है। यह पौंस मे ग्रावेगो का संवहन करती है। नवी 'कपाल-तन्त्रिका' 'जिह्वाग्रसनी तन्त्रिका' ग्रन्तस्था से तीसरी बडी लार-ग्रथि को ग्रौर ग्रसनी की उन पेशियो को, जो निगलने की प्रक्रिया मे सम्मिलित रहती है, प्रेरक तन्तु भेजती है। संवेदी पक्ष मे यह जिह्वा के शेप स्वाद-सग्राहकों तथा ग्रसनी की श्लैष्मिक झिल्ली से ग्रावेगों को भीतर ले जाती है।

पिछले ग्रध्यायो मे हमारा दसवी 'वेगस-तन्त्रिका' से कई बार वास्ता पड़ चुका है। इसका नाम बडा ही उपयुक्त है, क्योकि 'वेगस' शब्द का ग्रर्थ ही 'घुमक्कड' होता है। इसके ग्रपवाही तन्तु ग्रन्तस्था से ग्रसिका, ग्रामाशय, ग्रत्र, हृदय तथा स्वरयत्र मे की पेशी ग्रौर ग्रामाशय, क्षुद्रात्र ग्रौर ग्रग्न्याशय की ग्रथियो तक जाते है। इसके ग्रभिवाही तन्तु फेफडो की वायु-कोष्ठिकाग्रो से, स्वरयत्र तथा ग्रामाशय की श्लैष्मिक झिल्ली ग्रौर ग्रन्य ग्रातरिक ग्रगो से ग्राते है।

ग्यारहवी 'मेरु-उपतन्त्रिका' तथा वारहवी 'ग्रधोजिह्वा-तन्त्रिका' विशुद्ध प्रेरक तन्त्रिकाए है। दोनो ही ग्रतस्था से निकलती है। प्रथमोक्त कधे की पेशियो का तन्त्रिकाभरण करती है ग्रौर ग्रन्तोक्त जिह्वा की पेशियो का।

वारीकी से कहे, तो 'विशुद्ध' प्रेरक तन्त्रिकाएं केवल प्रेरक ही नही होती। उनमे उन पेशियो से, जिन्हे वे तन्त्रिकोत्तेजित करती है, मस्तिप्क मे ऊतक-सवेदी सूचना लानेवाले ग्रभिवाही तन्तु भी होते है।

कपाल-तन्त्रिकाग्रो के ग्रपवाही तन्तु मस्तिप्क-वृन्त के भीतर न्यूरॉनों मे (कपाल-तन्त्रिकाग्रो के केन्द्रक मे) उत्पन्न होते है। ग्रभिवाही तन्तु सग्राहको मे उत्पन्न होते है ग्रौर दृष्टि तथा घ्राणतन्त्रिका तन्तुग्रो के सिवा उन सव की कोशिका-काय मस्तिप्क के वाहर, किन्तु निकट-स्थित गुच्छिकाग्रो मे रहती है। इन वातो मे कपालतन्त्रिकाए मेरुतन्त्रिकाग्रो से काफी मिलती-जुलती है।

निलय तथा प्रमस्तिष्क मेरु-द्रव—केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र का प्रारम्भ एक खोखली नली के रूप मे होता है ग्रौर परिपक्व मस्तिप्क तक मे एक गुहा वाकी रहती है, यद्यपि यह भ्रूण-मस्तिप्क की गुहा की ग्रपेक्षा कही छोटी होती है। मेरु-रज्जु मे इस गुहा का ग्रवशेप केन्द्रीय नाल है। इस नाल का पश्चमस्तिष्क मे जो सिलसिला है, वह चतुर्थ निलय कहलाता है। चतुर्थ निलय की एक पतली झिल्लीमय छत होती है, जो ग्रत्यन्त सवहनीय होती है। चतुर्थ निलय वहुत ही संकरी 'प्रमस्तिप्क-कुल्या' के रूप मे मध्यमस्तिप्क मे चला जाता है। चेतक प्रदेश मे तृतीय निलय की छत भी चतुर्थ निलय की छत-जैसी ही होती है। तृतीय निलय प्रथम ग्रौर द्वितीय निलयो से सचार वनाये रखता है जिनमे से प्रत्येक एक-एक प्रमस्तिप्क-गोलार्ध मे स्थित है।

इन गुहाओं मे प्रमस्तिष्क मेरु-द्रव भरा होता है, जो रुधिर से बनता है और प्लाज्मा की तरह ही होता है। प्रमस्तिष्क मेरु-द्रव कुछ तो तृतीय और चतुर्थ निलय की छतो मे रुधिर-वाहिकाओं के निस्यन्दन (छानने) से उत्पन्न होता है और कुछ इन झिल्लीमय निर्मितियों की कोशिकाओं की स्राव-क्रिया से।

मस्तिष्क और मेरु-रज्जु तीन संरक्षणात्मक झिल्लियों से घिरे होते है, जिन्हे 'मेनिंज' या 'तानिकाए' कहते है(इनके सूज जाने से 'मेनिंजाइटिस' या 'तानिका-शोथ' नामक रोग हो जाता है)। सबसे बाहरी झिल्ली सयोजी ऊतक की दृढ परत है। सबसे अन्दर की पतली झिल्ली की परत मस्तिष्क की सतह को बहुत ही सट कर ढाकती है। बीच की झिल्ली एक जाले-जैसी तन्तु-राशि है। प्रमस्तिष्कमेरु-द्रव इन तन्तुओं के बीच मे अवकाश मे भी पाया जाता है और अन्तस्था की छत मे की छोटी-छोटी दरारो से होते हुए उनके और निलय के बीच परिवहित होता है। अन्त में यह द्रव रुधिर-विवरों द्वारा, जो शिराओ मे रिक्त होते है, फिर से रुधिर-धारा मे प्रवेश करता है।

प्रमस्तिष्क मेरु-द्रव एक संरक्षात्मक कार्य करता है। यह केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र को आकस्मिक झटकों और आघातो से बचाता है, क्योंकि कोमल तथा नाजुक तन्त्रिका-ऊतको की अपेक्षा द्रव ऐसे आघात अधिक आसानी से सह सकता है।

प्रेरक सक्रियताएं

प्रेरक सक्रियताओ से हमारा आशय सभी प्रकार की पेशीय सक्रियताओ से —चाहे वे ऐच्छिक हो, या प्रतिवर्ती—और उन ग्रथीय सक्रियताओ से है, जो तन्त्रिका-नियन्त्रण मे रहती है।

ऐच्छिक गतिया—इस प्रकार की सभी गतिया प्रमस्तिष्क-प्रांतस्थाओं के प्रेरक क्षेत्रो (इनकी सख्या एक से अधिक होती है) मे न्यूरॉनो के विसर्जन द्वारा प्रारम्भ होती है। इन न्यूरॉनो से आवेग एक ऐसे पथ पर होकर जाते है, जो अधिकाश सम्बन्धित तन्त्रिका-तन्तुओ के लिए मस्तिष्क के दूसरे भाग की ओर चला जाता है। मस्तिष्क-वृन्त तथा मेरु-रज्जु के प्रेरक न्यूरॉनो के, जो ककाल पेशी-तन्तुओ को तन्त्रिकोत्तेजित करते है, सयोजन हो जाते है। देह के दाये भाग पर होनेवाली लगभग सभी गतिया बाईं प्रमस्तिष्क-प्रान्तस्था द्वारा प्रारम्भ की जाती है।

देह के सभी भाग प्रेरक क्षेत्रो मे उलटे ही ढग से प्रतिनिधित होते है। ऊपरी प्रदेशो का उद्दीपन टागो की गतिया उत्पन्न करता है; बीच के प्रदेशों का धड तथा बाहो की, और निचले प्रदेशो का गर्दन तथा सिर की गतियो का। यह प्रतिनिधित्व देह-प्रदेश के आकार की जटिलता के अनुसार होता है। उदाहरण के लिए, प्रेरक क्षेत्रो मे हाथ बाह से अधिक और अगूठा अगुलियो से अधिक स्थान घेरता है।

प्रेरक क्षेत्रो तथा अनुमस्तिप्क-गोलार्धो मे सयोजन होने के कारण प्रेरक क्षेत्रो मे आरम्भ होनेवाली गतिया सुसमन्वित होती है। प्रेरक क्षेत्रो से आनेवाले तन्त्रिका-तन्तुओ से शाखाए निकलती है, जो अनुमस्तिप्क-गोलार्धो को सक्रिय करती है। अनुमस्तिप्क आवेगो को विसर्जित करते है, जो प्रेरक क्षेत्रो को वापस भेज दिए जाते है। जब ऐसे आवेग प्रेरक क्षेत्रो को पहुंचते है, तो उनके न्यूरॉन इस प्रकार क्रमिक विसर्जन करते है कि जिसके फलस्वरूप विशेष गति के लिए आवश्यक पेशीय कुचन का उचित समय निर्धारण हो जाता है। यदि अनुमस्तिप्क-गोलार्ध क्षतिग्रस्त या नप्ट हो जाते है, तो मनुप्य की पेशीय क्रियाओ मे सहक्रियत्व नही रहता—शरीर का अत्यधिक झूमना, हिलना-डुलना, लडखड़ाना और कापती आवाज, इत्यादि। सूक्ष्म नियत्रण इस सीमा तक नप्ट हो सकता है कि हाथ मे पकड़ा काच का गिलास भी पकड के जोर से चूर-चूर हो सकता है। यह बात ध्यान मे रखने की है कि अनुमस्तिष्कीय क्षति से कोई वास्तविक पेशीय पक्षाघात नही होता, जब कि प्रमस्तिष्कीय क्षति के फलस्वरूप आमतौर पर ऐच्छिक गति-सम्बन्धी पक्षाघात हो जाता है। पेशियो की प्रतिवर्ती गतिया अब भी सभव होती है, क्योकि ये अन्य तन्त्रिका-पथो के कारण होती है।

शरीर की किसी स्थिति या आसन का बनाये रखना, जिसे पहले एक प्रतिवर्ती घटना माना जाता था, अब (कम-से-कम मनुष्यो मे) दो कारको का परिणाम समझा जाता है· (1) देह के विभिन्न भागो के भारो का ककाल के समुचित भागो द्वारा वहन, जिससे कि मानव-ककाल की रचना मे निहित उत्कृष्ट 'इजीनियरी' का आभास मिलता है,—और (2) किसी विशिष्ट स्थिति को कायम रखने के दौरान होनेवाले दैहिक स्थानातरणो का निराकरण करने के लिए सूक्ष्म ऐच्छिक पेशीय कुचन (ध्यान दीजिए कि एक ही स्थिति मे अधिक देर तक स्थिर बने रहना कितना कठिन है)।

प्रतिवर्त गतिया—इस वर्ग मे, दैहिक तथा आतराग, दोनो ही प्रकार की अनुक्रियाए सम्मिलित है। आइये, हम पहले दैहिक अनुक्रियाओ पर विचार करे।

हर बार जब सिर हिल रहा होता है या सामान्य सीधी स्थिति के अलावा और किसी स्थिति मे स्थिर होता है, तो संतुलन की ज्ञानेन्द्रियो के संग्राहक सक्रिय हो जाते है। परिणामस्वरूप अन्तस्था के प्रघाण-केन्द्रको (आकृति 29) मे आवेग जाते है और इन केन्द्रको से अन्य आवेग मेरु-रज्जु तथा मस्तिप्क-वृन्त मे स्थित प्रेरक न्यूरॉनो की ओर जाते है। ककाल-पेशियो के तज्जनित कुचन ऐसे होगे कि जो सिर की गतियो या स्थिति के अनुरूप देह के सन्तुलन को सबसे अच्छी तरह कायम रख सके। चूकि सिर कभी ही निश्चल रहता है, इसलिए दैहिक प्रेरक न्यूरॉनो पर एक परिवर्ती किन्तु अविरल आवेग-प्रवाह क्रिया करता रहेगा। इस तन्त्र का प्रभाव कुल मिलाकर उत्तेजक है और यह प्रेरक न्यूरॉनो को आवेग विसर्जित करने के लिए तैयार रखता है। वास्तव मे, जब इस प्रभाव को प्रति-

संतुलित करनेवाले दूसरे तन्त्र कार्य नही कर रहे होते, तो प्रायोगिक और चिकित्सकीय प्रमाणो से यही ज्ञात होता है कि अनेक कंकाल-पेशियां लगातार कुचन की अवस्था मे बनी रहती है; दूसरे शब्दो में अनन्यता या दृढता की स्थिति उत्पन्न हो जाती है।

दैहिक प्रतिवर्त समजन के नियमन मे, एक और महत्त्वपूर्ण युक्ति मे अनुमस्तिष्क सन्निहित है। जब भी ककाल-पेशियां अपनी सक्रियता बदलती है (वे लगभग निरंतर ही ऐसा करती रहती है), पेशियो या उनकी कंडराओ के भीतर के सग्राहक सक्रिय होकर सवेदी न्यूरॉनो द्वारा आवेग भेजने लगते है। ऐसे आवेग अनुमस्तिष्क की अग्र और पश्च-पालियो को प्रेपित कर दिये जाते है और उनसे लाल केंद्रक को (आकृति 29)। लाल केंद्रक से आवेग मस्तिष्क-वृन्त और रज्जु के प्रेरक न्यूरॉनों को भेजे जाते है, जहा एक सर्वव्यापी निरोधी प्रभाव प्रकट हो जाता है। यह तन्त्र दैहिक प्रतिवर्तो पर एक सुनियामक और समन्वयकारी प्रभाव डालता है।

पेशियो और कडराओ से समान आवेग प्रमस्तिष्क-प्रांतस्था को जा सकते है और प्रेरक क्षेत्रो को प्रेपित हो सकते है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि ऐच्छिक गतिया प्रांतस्था द्वारा प्रारम्भित की जाने पर भी शीघ्र ही तन्त्रिका-तन्त्र के अन्य भागों द्वारा प्रभावित हो जाती है और प्रतिवर्ती क्रिया द्वारा रूपांतरित होती है।
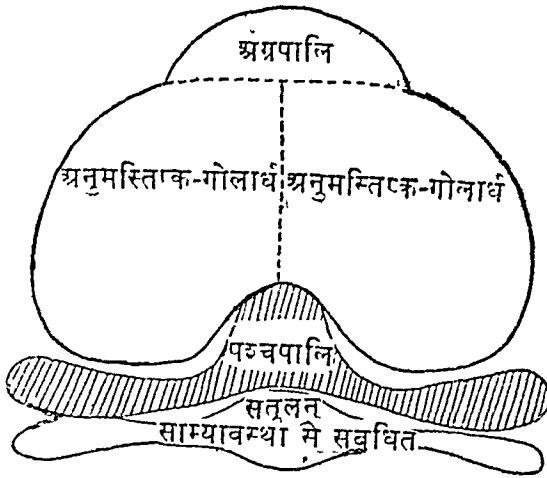
आकृति 30—अनुमस्तिष्क के भागों का आरेखीय निरूपण

प्रेरक क्षेत्र भी न्यूरॉनो पर एक निरोधी प्रभाव के स्रोत है, जो नीचे के उत्तेजक केंद्रो के प्रतिकरण का काम ही करते है। इस उच्चतर प्रभाव की वंचिति का लाक्षणिक परिणाम पेशीय स्तब्धता या अनम्यता है, जैसा कि 'प्रमस्तिष्क-संस्तभ' या 'प्रमस्तिष्क-पक्षाघात' के मामलो मे, या प्रमस्तिष्क या उसके घावो के मामलो मे देखा जाता है।

हमे यह ध्यान मे रखना चाहिए कि मध्यमस्तिष्क प्रदेश मे अन्य दैहिक प्रतिवर्ती केंद्र भी मौजूद है। ये केंद्र सुस्थितिकर 'प्रतिक्रियाओ' मे (उत्तान या चित स्थिति से सामान्य स्थिति मे आना, जो कुत्ते-बिल्लियो को पीठ के बल लेटा देने पर सबसे अच्छी तरह देखा जा सकता है) और दृष्टि तथा श्रवण-उद्दीपनो के प्रति 'चकित प्रतिक्रियाओ' मे प्रमुख भाग लेते है।

मस्तिष्क के विभिन्न स्तरो द्वारा आतरांगीय प्रतिवर्त गतिया भी नियत्रित होती है। यहा भी यह घटना देखी जा सकती है कि मस्तिष्क के उच्चतर स्तर निम्नतर स्तरो पर अभिभावी प्रभाव रखते है।

मस्तिष्क के निम्नतर स्तर—अतस्था—मे अनेक महत्त्वपूर्ण आतरांगीय प्रतिवर्त केंद्र स्थित है—प्रश्वास तथा उच्छ्वास, हृत्त्वरण, हृद्बाधक, वाहिका-सकोचक, वाहिका-विस्फारक, निगलना या निगरण, लार तथा वमन के केंद्र। हृद्-पेशी या चिकनी पेशी या ग्रथि-कोशिकाओ की सक्रियता की रफ्तार के नियमन द्वारा ये केंद्र अपने-अपने नाम द्वारा व्यक्त पृथक्-पृथक् सक्रियता का प्रतिवर्ती नियंत्रण करते है।

जहा इस स्तर पर केंद्रो मे कुछ परस्पर क्रिया के फलस्वरूप सन्निहित तन्त्रो मे कुछ समन्वय हो जाता है, अधिक समन्वयकारी प्रभाव मस्तिष्क के उच्चतर स्तरो—विशेषकर अधश्चेतक तथा मस्तिष्क-प्रातस्था—से ही उत्पन्न होते है। इस प्रकार जब अभिवाही आवेग अतस्था-केंद्रो मे पहुचते है, तो हृद्-गति, रुधिर-दाब या पाचक क्रिया मे अतर आ सकता है। लेकिन अभिवाही आवेग जब अधश्चेतक या प्रांतस्था-केंद्रो मे पहुंचते है, तो ऐसे आवेगो का प्रेषण हो सकता है जो देह के कई तन्त्रों को एक साथ प्रभावित करते है और ऐसा समावेशक प्रभाव उत्पन्न करते है जो उस व्यक्ति-विशेष के लिए उस समय लाभदायी रहता है।
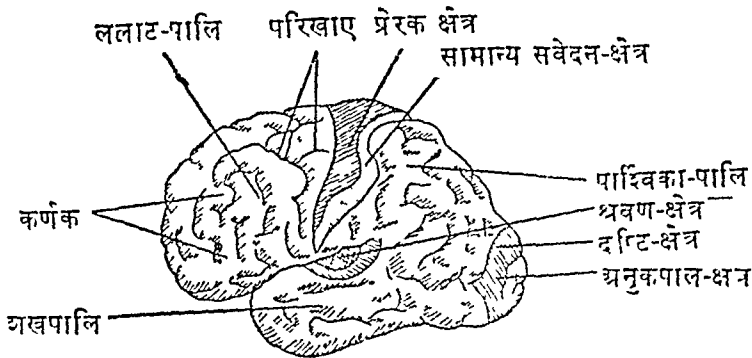
आकृति 31—प्रमस्तिष्क-गोलार्ध की बाहरी सतह

प्रेरक पक्ष के संगठन की एक अन्य विशेषता यह है कि वहा न केवल दैहिक तथा आतरागीय सक्रियताओ के नियत्रण-केन्द्रो के सूची-स्तम्भ ही स्थित है, वरन्

तन्त्रिका-तन्त्र के स्तर की उच्चता के अनुसार उनकी दोनों प्रकार की सक्रियताओं में बढ़ता हुआ समन्वय भी है। उच्चतर स्तरों पर आवेगों के विसर्जन से समकालिक दैहिक और आंतरांगीय प्रभाव उत्पन्न होते हैं।

संवेदन सामूहिक रूप में

मनुष्य कई प्रकार के उद्दीपन को ग्रहण करने के लिए 'संग्राहकों' से लैस है। ये बाह्य तथा आंतरिक दोनों वातावरणों में परिवर्तनों की अनुक्रिया करते हैं। सक्रिय किये जाने के लिए प्रत्येक संग्राहक का ऊर्जा की एक अलिप्ष्ठ मात्रा से उद्दीपित किया जाना आवश्यक है। प्रत्येक संग्राहक ऊर्जा के एक विशेष स्वरूप के प्रति विशेष संवेदी होता है और उसे वह किसी भी अन्य प्रकार की अपेक्षा अधिक सरलता से ग्रहण कर लेता है। सक्रिय हो जाने पर संग्राहक अपने में से निकलनेवाले अभिवाही तंत्रिका-तन्तु से तन्त्रिका-आवेगों का एक प्रवाह का प्रारंभ करके अनुक्रिया करता है।

संवेदनों या इंद्रियानुभूतियों के कई भेद हैं। मनुष्य के केवल 'छठा' संवेद ही नहीं होता, वरन् 'सातवां', 'आठवां' और ऐसे ही कितने ही और संवेद भी होते हैं। अलग-अलग संग्राहक अलग-अलग तरह के संवेदनों के प्रति संवेदी होते हैं—कोई प्रकाश, ध्वनि, गंध और घुले हुए रसायनों के प्रति; कोई वेदना, स्पर्श, गरमी-सरदी, दाब और गुदगुदी के प्रति; कोई घूर्णन और संतुलन में परिवर्तन के प्रति; तो कोई पेशियों, कंडराओं तथा सन्धियों में तनाव के प्रति। कुछ अन्य संवेदनों—जैसे क्षुधा, प्यास तथा कामजन्य संवेदनों—में निहित संग्राहकों और प्रत्यक्ष ज्ञान की विरचनाओं के बारे में हम अपेक्षाकृत कम जानते हैं।

संग्राहकों को हम बाह्य संग्राहकों, अन्तःसंग्राहकों तथा मध्यसंग्राहकों में वर्गीकृत कर ही चुके हैं। इन्हें अन्य तरीकों से भी वर्गीकृत किया जा सकता है। कुछ में उद्दीपनों को देह के साथ वास्तव में सम्पर्क करना पड़ता है—स्पर्श, गुदगुदी, कुछ प्रकार की वेदनाएं और दाब आदि। दूसरे प्रकार के संग्राहक दूरी से आनेवाले उद्दीपनों का भी संवेदन कर सकते हैं, जैसे दृष्टि तथा श्रवण-संग्राहक। कुछ और संग्राहक ऐसे भी हैं, जो विलीन रसायनों से ही सबसे अच्छी तरह उद्दीपित होते हैं, जैसे स्वाद-संग्राहक।

ज्ञानेन्द्रियां संरचना में सरल तन्त्रिका-छोरों से लेकर आंख या कान-जैसे खासे जटिल अंगों तक अनेक प्रकार की हो सकती हैं।

दृष्टि

दृष्टि वह संवेदन है, जिस पर मनुष्य सबसे अधिक निर्भर करता है। आंखें बड़ी जटिल ज्ञानेन्द्रियां हैं, जैसा कि अपने कृत्यों के सम्पादन के लिए उन्हें होना भी चाहिए। दृष्टि एक जटिल प्रक्रिया है, जिसमें प्रकाश-किरणों के प्रति संवेदिता और स्वरूप, रंग, गहनता तथा दूरी का प्रत्यक्ष ज्ञान (बोध) सन्निहित

है। नेत्रो के कृत्यो को समझने के लिए पहले हमे उनकी सरचना जाननी होगी।

नेत्र की सरचना—आख तीन ओर से खोपडी की निकली हुई हड्डियो से, और इसके अलावा पलको से तथा अश्रुओ के स्राव द्वारा भी अभिरक्षित है। कोई चीज अगर आख के अधिक पास आ जाती है या नेत्र-गोलक को सचमुच छूने लगती है, तो 'पलक-कुचन प्रतिवर्त' क्रियाशील हो जाता है। पलक झपकाने की क्रिया, जो सामान्यरूप से लगातार चलती रहती है, एक अच्छा काम यह भी करती है कि वह आखो की अत्यधिक थकान रोकती है। छपी हुई एक पक्ति को विना पलक झपकाये, गौर से देखने का प्रयास कीजिये। शीघ्र ही शब्द धुधले पड़ जायेगे। अब पलक झपकाइये, आप देखेगे कि इस अल्प विश्राम ने आपकी दृष्टि को प्रत्यक्षत. स्पष्ट कर दिया है। अश्रु-स्राव, जो अविरल होता रहता है, सवेदी नेत्र-गोलक के सामनेवाले भाग को आर्द्र रखता है और वाहरी कणो तथा उत्तेजको को बहा देता है। 'अश्रु-ग्रथि' नेत्र-गोलक के विलकुल ऊपर ही स्थित है और किसी बाहरी कण के नेत्र-गोलक के सम्पर्क मे आने पर अतिरिक्त अश्रु-स्राव के लिए इसका प्रतिवर्ती उद्दीपन किया जा सकता है। पलक झपकने से अश्रु नेत्र-गोलक की सतह पर फैल जाते है और एक वाहिका द्वारा नासा-गुहा मे चले जाते है।

गोलिकाकार नेत्र-गोलक की दीवार तीन-परती है (आकृति 32)। बाहरी स्कलीरा या श्वेत पटल सुदृढ और तन्तुमय है (यह 'आख की सफेदी' के रूप मे दिखाई देता है) और नेत्र-गोलक के सामने की ओर आकर पारदर्शक कॉर्निया मे रूपातरित हो जाता है। वीच का आवरण रजित और सवहनीय 'रजित पटल'
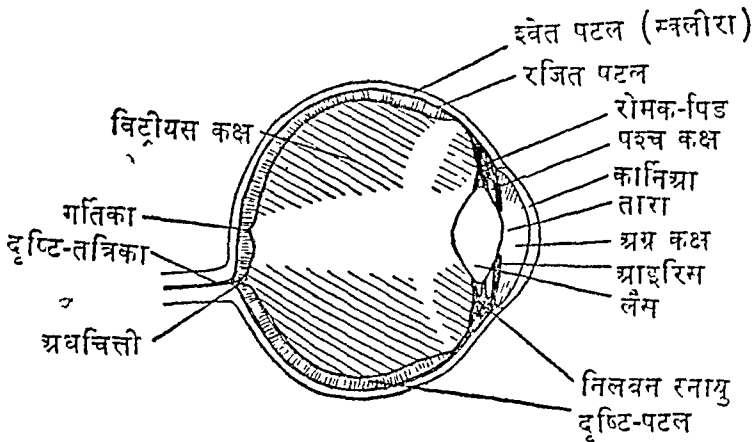
आकृति 32—नेत्र-गोलक की काट

का है, जो 'रोमक पिड' तथा रगीन ऊतक के वलय 'आइरिस' के रूप मे नेत्र-गोलक के सामने तक जारी रहता है। आइरिस के मध्य का बिन्दु तारा है; तारे की कालिमा का कारण यह है कि इसकी ओर देखनेवाला नेत्र-गोलक का भीतरी

अधियारा भाग देखता है। सबसे भीतरी परत 'रेटिना' या 'दृष्टिपटल' है, जिसमे दृष्टि के सग्राहक, शलाका तथा शंकु है, और जहा से दृष्टि-तन्त्रिका आरम्भ होती है।

कॉर्निया तथा आइरिस के बीच मे अग्र कक्ष और आइरिस तथा स्फटिक (क्रस्टलीय) लैस के बीच मे पश्च कक्ष है। दोनों ही कक्षो मे एक जलीय द्रव, 'नेत्रोद' या 'एकुअस ह्यूमर' रहता है। नेत्र-गोलक की सबसे बडी गुहा 'विट्रियस कक्ष' है, जिसमे एक श्यान (चिपचिपा) द्रव, 'विट्रयस ह्यूमर' रहता है।

रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान **(प्रकाश-किरणों का वर्तन)**—एक घनत्व के माध्यम से भिन्न घनत्व के दूसरे माध्यम मे प्रवेश करते समय प्रकाश-किरणे मुड़ (वर्तित हो) जाती है। इसी कारण एक सीधी छडी, जो आधी पानी में है और आधी हवा में, मुड़ी हुई दिखाई देती है। काच के लैस मे, जो एक नियत वक्रता तक घिसा हुआ काच का पारदर्शक टुकडा होता है, प्रकाश-किरणो का वर्तन करने का गुण होता है। तथापि प्रकाश की कोई ऐसी किरण वर्तित नही होगी जो लैस की सतह पर लम्ब आकर पडती है। लैस पर कोण बनाकर गिरनेवाली किरणे ही वर्तित होती है। कोण जितना बडा होगा, वर्तन भी उतना ही अधिक होगा। कॉन्वैक्स या उत्तल लैस प्रकाश की किरणो को अपने पीछे एक ही बिन्दु पर केन्द्रित या फोकस कर देगा। लैस के 'निर्नति-बिन्दु अर्थात् लैस के प्रकाशकीय केंद्र' जिससे होकर किरणे बिना वर्तित हुए निकल जाती है, और समानांतर किरणो के फोकस-बिन्दु के बीच की दूरी 'मुख्य फोकल दूरी' कहलाती है। इस दूरी का उपयोग लैस की फोकस-शक्ति के माप के रूप मे किया जाता है। लैस की सतह की वक्रता जितनी अधिक होगी, उसकी वर्तन-शक्ति उतनी ही अधिक होगी और उसकी मुख्य फोकल दूरी उतना ही कम होगी।

बिम्ब का निर्माण—लैस द्वारा किसी वस्तु का बिब (आकृति 33) में आरेखित तरीके से होता है। अ बिन्दु से आनेवाली सभी प्रकाश-किरणे इ पर फोकस
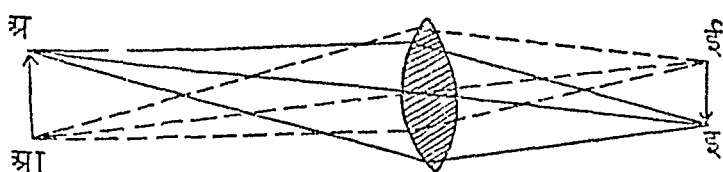
आकृति 33– उत्तल लेस द्वारा वस्तु के उल्टे और छोटे बिब का निर्माण

की जाती है और अ आ पर के अन्य सभी बिन्दुओ से आनेवाली किरणे लैस के पीछे के सगत बिन्दुओ पर। इस प्रकार वस्तु का एक उल्टा और छोटा बिब बन जाता है।

आंख मे भी बिम्ब-निर्माण का एक समान ही तरीका है। वस्तुत: आख मे

विम्ब-निर्माण की प्रक्रिया कही अधिक जटिल होती है, क्योकि नेत्र-गोलक मे अधिक वर्तक सतहे होती है, किन्तु इसमे निहित सिद्धात और अतिम परिणाम सरल लैस-प्रणाली-जैसे ही होते है। दृष्टि-क्षेत्र मे की वस्तु का दृष्टि-पटल पर एक छोटा उल्टा विम्ब बन जाता है। शिथिलित नेत्र की अधिकाश वर्तन-शक्ति कॉर्निया मे होती है, सामान्य नेत्र मे दूर (20 फुट या अधिक दूर) की वस्तुओ को देखने के लिए लैस आवश्यक नही होता। सभी व्यावहारिक प्रयोजनो के लिए ऐसी सभी वस्तुओ से आनेवाली प्रकाश-किरणे कॉर्निया के टकराते समय समानातर होती है।

लैंस का महत्व—यदि लैस दूरवर्ती वस्तुओ के विम्ब-निर्माण मे अपेक्षाकृत महत्त्वहीन है, तो इसका उपयोग क्या है ? दूर की वस्तुओ को साफ-साफ देखने के लिए नेत्र के वर्तन-तन्त्र का मुख्य फोक्स दृष्टि-पटल पर ही होना चाहिए। लेकिन जब दर्शित वस्तु बीस फुट से कम फासले पर होती है, तब क्या होता है ? उससे आनेवाली प्रकाश की किरणे दृष्टि-पटल से टकराते समय अपसारी होगी और दृष्टि-पटल के पीछे फोकस होगी। इन किरणो को दृष्टि-पटल पर फोकस करवाने के लिए नेत्र की वर्तन-शक्ति को बढाया जाना होगा।

अब लैस महत्त्वपूर्ण हो जाता है। आख का लैस एक प्रत्यास्थ (लचकीला) पिड है, जिसकी मोटाई बदली जा सकती है। यह जितना ज्यादा मोटा हो जाता है इसकी सतह उतनी ही अधिक वक्र, और वर्तन-शक्ति उतनी ही अधिक होती जाती है। देखी जानेवाली वस्तु जितनी निकट होती है, लैस को उतना ही अधिक फुलाया जाता है। इस प्रक्रिया को 'स्वत: समायोजन' कहते है। यह कार्य रोमक पिड की 'रोमक पेशियो' के कुचन द्वारा सपादित होता है। इन पेशियो का कुचन 'निलबन स्नायुओ' मे तनाव कम कर देता है, जो शिथिलित आख मे लैस को तना हुआ रखते है। तनाव कम होते ही अपने लचीलेपन के कारण लैस फूल जाता है।

स्वत. समायोजन एक सीमा तक ही हो सकता है, अर्थात् एक न्यूनतम अतर से निकट की वस्तु को स्पष्ट फोकस नही किया जा सकता। इसलिए हर नेत्र के लिए स्पष्ट दृष्टि का एक निकट-विदु होता है। सामान्य दृष्टिवाले बारह साल के बच्चे के लिए यह विंदु आख के सामने लगभग ढाई इच की दूरी पर होता है। उम्र के साथ-साथ लैस का लचीलापन कम होता जाता है और यह इतनी तेजी के साथ अपना स्वत. समायोजन नही कर पाता। यह दशा 'जरा-दूरदृष्टि' या 'प्रेसवायोपिया' कहलाती है। साठ साल की आयु मे चूकि यह निकट बिंदु सामान्यत हटकर आख से एक गज या उससे भी ज्यादा दूर हो जाता है, इसलिए बूढे लोगो को पास की वस्तुए देखने के लिए चश्मा लगाना पड़ सकता है।

वर्तन के दोष—सामान्य आखे प्रकाश की समानातर किरणो को दृष्टिपटल पर तीक्ष्णता के साथ फोकसित करती है, कितु कई आखो मे वर्तन के कुछ दोष होते है।

'दूरदृष्टिता' या 'हाइपरोपिया' ऐसे नेत्र-गोलक के कारण उत्पन्न होता है,
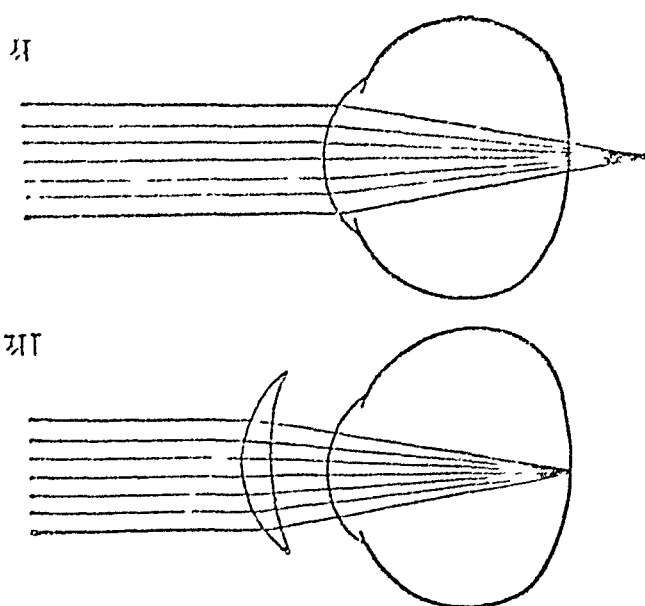
आकृति 34—समानातर प्रकाश-किरणे दूरदृष्टिता-ग्रस्त नेत्र मे दृष्टि-पटल के पीछे फोकस करेगी (अ), और इसीलिए बिंब धुधला होगा। उचित उत्तल लैंस इस दिशा को ठीक कर देगा (आ)।

जो अपनी वर्तन-शक्ति की तुलना मे बहुत छोटा होता है। प्रकाश की समानातर किरणे दृष्टि-पटल के पीछे फोकस होने लगती है और बिंब धुधला दिखाई देने लगता है (आकृति 34 अ)। स्वत समायोजन द्वारा दूरदृष्टिताग्रस्त लोग दूर की वस्तुओ को स्पष्ट फोकस कर सकते है। लेकिन यदि सुधारा न जाये, तो यह दशा आख पर काफी जोर डालती है। उत्तल लैंस के उपयोग द्वारा (यह लैंस छोरो की अपेक्षा बीच मे अधिक मोटा होता है) समानांतर प्रकाश-किरणो को कॉर्निया तक पहुचने से पहले इतना अभिविद्रुत कर लिया जाता है कि वे ठीक से फोकस की जा सके (आकृति 34 आ)। व्यक्ति जितना ही अधिक दूरदृष्टिताग्रस्त होगा लैंस उतना ही अधिक उत्तल होगा।

'निकटदृष्टिता' या 'मायोपिया' सामान्यत: अधिक लबे नेत्रगोलक के फलस्वरूप उत्पन्न होता है। प्रकाश की समानातर किरणे दृष्टि-पटल के सामने फोकस होती है और बिंब धुधला बनता है (आकृति 35 अ)। ऐसी किरणो के समायोजन द्वारा निकटदृष्टिताग्रस्त व्यक्ति इस दशा को बिगाड़ ही लेगा और आराम के लिए उसे अवतल (बीच की अपेक्षा किनारो पर अधिक मोटे) लैंस का उपयोग करना पड़ेगा। ऐसे लैंस प्रकाश-किरणो को कॉर्निया तक पहुचने से पहले अपविद्रुत कर देते (बाहर की ओर मोड देते) है और इस प्रकार उनको फोकस कर देते है (आकृति 35 आ)। सामान्य और दूरदर्शी आख के विपरीत, जिसका दृष्टि का कोई निश्चित दूर-बिंदु नही होता (उदाहरण के लिए करोड़ो मील दूर के तारे देखे जा
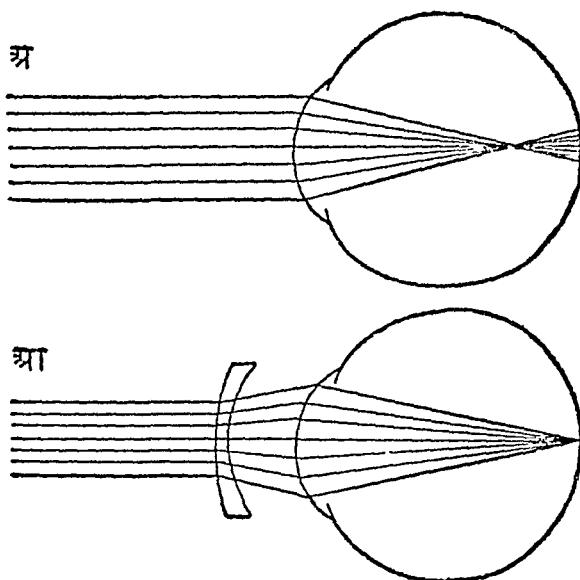
आकृति 35—निकटदृष्टिता-ग्रस्त नेत्र मे प्रकाश की समानान्तर किरण दृष्टि-पटल के सामने फोकस पर आएगी (अ); और इसलिए बिब धुधला होगा। उचित लैंस इस दिशा को ठीक कर देती है (आ)।

सकते है), निकटदर्शी आख का एक निश्चित दूर-बिंदु होता है जिसके आगे यह स्पष्टता से नही देख सकती।

एक कही अधिक सामान्य वर्तन-दोष दृष्टि-वैषम्य या एस्टिगमेटिज्म है। यह कॉर्निया की वक्रता मे एक या अधिक तलो मे असमानता होने के कारण उत्पन्न होता है। एक तल मे की प्रकाश-किरणे ठीक से फोकस हो जाती है, जब कि किसी दूसरे तल मे नही हो पाती। जिस दृष्टिवैषम्यग्रस्त व्यक्ति की दृष्टि मे ऊर्ध्वतल मे की किरणो के लिए दोष है, वह धन के निशान (+) को देखेगा, तो उसे उसकी खडी रेखाए धुधली दिखाई देगी। इस प्रकार के दोष को सुधारने के लिए सिलिंडराकार के लैंस लगाने की राय दी जाती है।

तारा प्रतिवर्त—आइरिस मे चिकनी पेशी की दो जोडी होती है। एक ने तारे को घेर रखा है और कुचन के साथ वह तारे को सकुचित कर देती है। दूसरी पेशी पहिये की तीलियो की तरह होती है, जो अपने कुचन से तारे को फैला देती है।

तेज प्रकाश मे तारे का प्रतिवर्ती सकुचन हो जाता है और धीमी रोशनी मे यह फैल जाता है। दृष्टि-पटल तक पहुचनेवाले प्रकाश की मात्रा इन प्रतिवर्तो को आरम्भ करती है और अपनी बारी मे ये प्रतिवर्त नेत्र मे घुसनेवाले प्रकाश की मात्रा को नियमित करते है। जब स्वत.समायोजन होता है, तब भी तारे का प्रतिवर्ती सकुचन होता है।

ये प्रतिवर्त एक दुहरा कार्य करते हैं। मद प्रकाश में या अधिक दूर की वस्तुए देखते समय तारे का प्रसार दृष्टिपटल पर अधिक प्रकाश का गिरना संभव बनाता है, जिससे दोनो मामलो मे वस्तुएं अच्छी दिखाई देती है। पास की चीजें देखते समय तारे का सकुंचन प्रकाश की किरणों का अधिक तीव्र फोकस करता है। आंख के लैंस सहित सभी लैंसो मे एक दोष होता है, जिसे गोलीय विपथन कहते है जिसमे लैंस के परिवीय क्षेत्र या परिमा से गुजरने वाली किरणे उसके केन्द्र से गुज़रनेवाली किरणों के सामने फोकस हो जाती है, फलस्वरूप बिम्ब अंशतः धुंधला बनता है। तारे का संकुचन किनारे की किरणो को खत्म कर देता है और इस प्रकार दृष्टि के पैनेपन में सहायता देता है।

शलाकाए और शंकु—दृष्टि-पटल के प्रकाश-संवेदी तत्त्व शलाकाएं तथा शंकु हैं। यो तो समस्त प्रोटोप्लाज्म ही प्रकाश के प्रति कुछ संवेदी प्रतीत होता हैं, लेकिन इन संग्राहको-जैसी विशेषीकृत कोशिकाएं कही अधिक सवेदी होती हैं।

दृष्टि-पटल के मध्य मे 'र्गातका' नामक एक छोटा-सा गढ़ा है (आकृति 32), जिसमे केवल शंकु होते है। र्गातका के किनारो पर र्गातका से दूरी बढने के साथ-साथ शंकुओ की संख्या कम होती और शलाकाओ की संख्या बढती जाती है। र्गातका के एक तरफ दृष्टि-तन्त्रिका के निर्गम का स्थान है। यह प्रदेश 'अन्ध बिन्दु' या 'अन्धचित्ती' कहलाता है, क्योकि इस पर पड़नेवाली प्रकाश-किरणो का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता। इस प्रकार प्रकाश-किरणें केवल तभी देखी जा सकती है कि जब वे शलाकाओं तथा शंकुओ पर पड़ें, न कि तब कि जब वे तन्त्रिका-तन्तुओ पर पड़ती है।

दृष्टि नीललोहित—शलाकाओं मे 'दृष्टि नीललोहित' नाम का एक रसायन होता है, जो प्रकाश की उपस्थिति मे विरंजित होकर पीले रंग का हो जाता है। अंधेरे मे यह अपनी नीललोहित अवस्था मे लौट आता है। विश्वास किया जाता है कि नीललोहित मे उत्प्रेरित रासायनिक परिवर्तन शलाकाओं मे उठनेवाले तन्त्रिका-आवेगो को प्रारम्भ करता है। शंकुओ मे भी इसी प्रकार की प्रकाश-रासायनिक प्रक्रिया के होने का विश्वास किया जाता है, लेकिन उसके बारे मे अभी अधिक ज्ञात नही है।

केन्द्रीय दृष्टि की परिमीय दृष्टि से तुलना—जब र्गातका मे उद्भूत दृष्टि, या केन्द्रीय दृष्टि की दृष्टि-पटल के छोरों पर उद्भूत दृष्टि या परिमीय दृष्टि से तुलना की जाती है, तो यह देखा जाता है कि केन्द्रीय दृष्टि बहुत प्रखर और रंगीन होती है; तेज़ प्रकाश मे यह सबसे अच्छी होती है और धुंधले प्रकाश के प्रति यह अपने को अच्छी तरह से अनुकूलित नही कर सकती; परिमीय दृष्टि कम प्रखर और रंगहीन होती है और यह धुधले प्रकाश मे ही सबसे अच्छी होती है और उसके साथ अपने को खूब अनुकूलित कर लेती है। र्गातका मे चूकि केवल शंकु ही होते हैं, इसलिए केन्द्रीय दृष्टि की लाक्षणिकताएं उन्ही के कारण होनी चाहिए और परिमीय दृष्टि-शलाकाओ द्वारा व्यवहित की जानी चाहिए।

शलाकाग्रों की अपने को धुधले प्रकाश के प्रति अनुकूलित करने की क्षमता उन्हे शकुग्रो की अपेक्षा निम्न तीव्रता के प्रकाश के प्रति अधिक सवेदी बना देती है। इसलिए धुधली रोशनी मे अच्छी तरह देखने का सबसे अच्छा तरीका यह है कि आप वाछित वस्तु पर दृष्टि को प्रत्यक्ष फोकस न करे, क्योकि ऐसा करने से उसकी प्रकाश-किरणे गर्तिका पर पड़ेगी। वस्तु की ओर केन्द्र से कुछ हटकर (तिरछा) देखना अधिक वाछनीय है, ताकि प्रकाश की किरणे वही गिरे जहा शलाकाग्रो की सघनता अधिकतम है। रात मे किसी धुधले तारे को पहले सीधे देखने की कोशिश कीजिए और फिर अपनी दृष्टि को तिरछा कर दीजिए—दृष्टि की स्पष्टता मे सुधार तुरन्त हो जाएगा।

रंग का प्रत्यक्ष बोध—रग-दर्शन के अधिकाश सिद्धान्त रग का प्रत्यक्ष बोध तीन भिन्न प्रकार के शकुग्रों के कारण मानते है, जिनमे से प्रत्येक तीन मे से एक-एक प्राथमिक वर्णक्रमीय रग के प्रति सवेदी है। दृश्य वर्णक्रम मे लाल, हरा तथा नीला—ये तीन रग है। इन तीनो का सयोग सफेद रग पैदा कर देता है—और तीनो प्रकार के शकुग्रों का समकालिक उद्दीपन सफेद रग के प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण माना जाता है उद्दीपनो के अन्य संयोग हमारे द्वारा देखे जानेवाले अन्य रग उत्पन्न करते है।

रग-दर्शन की समस्याएं जटिल है और, अभी तक, उनका वडा असमुचित उत्तर मिल पाया है। कोई एक सिद्धान्त सभी ज्ञात तथ्यो की व्याख्या नही कर पाया है। हमे इस अत्यत रुचिकर तथा जटिल प्रक्रिया के किसी समाधान की प्रतीक्षा करनी होगी।

गहराई तथा दूरी का प्रत्यक्ष ज्ञान—त्रिविमितीय विश्व का समुचित प्रत्यक्ष ज्ञान अधिकाशतः इसी कारण है कि मनुष्य के द्विनेत्री दृष्टि है—वह दो आंखो से देखता है। जो इतनी पृथक्-पृथक् है कि उसी वस्तु के जरा भिन्न-भिन्न दृश्य ग्रहण कर सकती है इसके बाद मस्तिष्कगामी दृष्टि-पथ की बनावट इन दो बिबो का हमारे मानस-नेत्र मे एक बिब मे सलगन सभव बना देती है।

दृष्टि-पथ—शलाकाएं तथा शकु दृष्टिपटल मे कुछ मध्यस्थ न्यूरॉनो के साथ अतर्ग्रथित होते है, जो स्वय अपनी बारी मे दृष्टितन्त्रिका-तन्तुग्रो को जन्म देते है। प्रत्येक दृष्टि-तन्त्रिका मस्तिष्क को जाती है, जहा प्रत्येक दृष्टि-पटल के आतरिक अर्धाश के तन्तु मस्तिष्क के दूसरे भाग की तरफ चले जाते है। अब प्रत्येक दृष्टि-पटल के दक्षिणार्ध के तन्त्रिका-तन्तु दृष्टि-मार्ग के रूप मे चेतक (थैलम) को जाते है। चेतक से प्रमस्तिष्क-प्रातस्था के दाहिने दृष्टि-क्षेत्र को नये तन्तु जाते है। प्रत्येक दृष्टि-पटल के वामार्ध से आनेवाले तन्तु इसी तरह के रास्ते से होकर बाये दृष्टि-क्षेत्र को जाते है।

संगत-बिन्दु दृष्टि—एक दृष्टि-पटल पर के प्रत्येक बिन्दु का दूसरे दृष्टि-पटल पर एक सगत बिन्दु होता है। दृष्टि-पथो के विन्यास के कारण सगत बिन्दुग्रो से आनेवाले तन्त्रिका-आवेग दृष्टि-क्षेत्र मे एक ही बिन्दु को भेजे जाते है, जिसके

फलस्वरूप दृष्टि-पटलों पर यद्यपि दो विम्व बनते है, तथापि होता केवल एक विम्व-संवेदन ही है।

वे सभी विम्व, जो संगत विन्दुओ पर नही पड़ते, दो विम्व-संवेदन उत्पन्न करेगे। वस्तुत. फोकस की जानेवाली वस्तु के अलावा दृष्टि-क्षेत्र की अन्य सभी वस्तुएं दोहरी दिखाई देती है। हम एक ही वस्तु पर अपनी एकाग्रता के कारण साधारणत. इन विम्वो का अनुभव नही करते। इन युगल विम्वों को देखने के लिए दो पेंसिलो को एक-दूसरे से कोई फुट-भर के फासले पर आगे-पीछे रखिये। जब आप इनमे से किसी एक पेंसिल पर अपनी दृष्टि फोकस करेंगे, तो आपको दूसरी पेंसिल दोहरी दिखाई देगी।

ये सामान्य घटनाए है। तथापि युग्म विम्व दृष्टि अपसामान्य भी हो सकती है। नेत्र-गोलक की गतियो को जो छ पेशियां नियन्त्रित करती है, उनमे से यदि एक भी कमजोर हो जाये, तो दोनो नेत्र तुल्यकालिक गति नही कर पायेंगे। चूंकि एक आंख ठीक से फोकस नही करेगी, इसलिए वस्तुओ से आनेवाली प्रकाश-किरणे असगत विन्दुओं पर पड़ेगी और दो विम्वो का प्रत्यक्ष बोध होगा। इस विकार से ग्रस्त व्यक्ति सामान्यत अनुभव द्वारा मिथ्या विम्ब की उपेक्षा करने लगता है। इससे अच्छी आंख को कार्याधिक्य और दवाव का शिकार होना पड़ सकता है। इसे विशेप प्रकार के चश्मे या पेशी की शल्य-चिकित्सा द्वारा ठीक किया जा सकता है।

दूरी का प्रत्यक्ष बोध—द्विनेत्री दृष्टिवाले जन्तुओ मे दृष्टि-क्षेत्र अशच्छादन करते, अर्थात् परस्परव्यापी होते है, और सगत-विन्दु दृष्टि के साथ-साथ यह विशेषता श्रेष्ठतर दूर-दृष्टि को संभव बनाती है। जिन जन्तुओं के नेत्र उनके सिरो के पार्श्व मे होते है, या जिन लोगो के एक ही आंख होती है, उन्हे केवल एकनेत्री दृष्टि ही प्राप्त होती है और उनका दूरी का प्रत्यक्ष बोध घटिया होता है। फिर भी वे वस्तु की स्पष्टता, उससे आनेवाले प्रकाश की तीव्रता, निकटतर वस्तुओ की पारस्परिक स्थिति या उसके रंग की शुद्धता आदि सकेतो से दूरी का किसी हद तक अदाज कर सकते है।

दो नेत्रोवाले व्यक्ति को दूर-दृष्टि के जो सकेत प्राप्त है, वे है: नेत्रो का 'अभिविन्दुता का अंश', 'स्वत·समायोजन का अंश' तथा 'विस्थापनाभास'। पहले दो संवंधित पेशियो के कुंचन की मात्रा द्वारा अपने अनुभव से यह सीखने पर निर्भर करते है कि कोई वस्तु कितनी दूर है। विस्थापनाभास किसी वस्तु का दो पृथक् विन्दुओ से देखे जाने पर प्रकट विस्थापन है। यह यहां इस कारण लागू होता है कि दोनो नेत्र इतने काफी पृथक् होते है कि उनमें से प्रत्येक वस्तु का उसकी पीछे की पृष्ठभूमि की सापेक्षता मे कुछ भिन्न दृश्य उपस्थित करता है। उदाहरण के लिए, एक उंगली उठाकर उसपर अपनी दृष्टि फोकस कीजिए और इसके वाद वारी-वारी से अपनी आखे वद कीजिए और पृष्ठभूमि की सापेक्षता मे उंगली की स्थिति मे प्रकट स्थान-परिवर्तन की ओर ध्यान दीजिये।

गहराई का प्रत्यक्ष ज्ञान—चूकि बाई आख किसी वस्तु के बाये भाग को अधिक, और दाहिनी आख उसके दाये भाग को अधिक देखती है और चूकि हम यह जानने लग जाते है कि किसी वस्तु का एक भाग उसके दूसरे भाग से अधिक दूर है, इसलिए दृष्टि-पटलो पर हम इन भेदो से युक्त बिम्बो को एक गहराई से युक्त वस्तु से आते भेदो के रूप मे निर्वचित करते है। त्रिविमितीय दृष्टि ससार को उस आकार से, जो हमे त्रिविमितदर्शी प्रभाव के बिना देखने से दिखाई देता, एक बहुत ही भिन्न आकार दे देती है।

प्रातस्था द्वारा निर्वचन—आप देखेगे कि दृष्टि के कई पहलू, जिन्हे हम स्वाभाविक ही मान बैठे है, अनुभव द्वारा सीखने के परिणाम है। दूरी तथा गहराई के प्रत्यक्ष-ज्ञान के सकेत इसी श्रेणी मे आते है। फिर प्रक्षेप की घटना भी है। हम दृष्टि-पटल के अर्धांश पर पडनेवाली किरणो को दृष्टि-क्षेत्र के विपरीत भाग मे स्थित वस्तुओ से सबद्ध करना सीख लेते है। इस प्रकार यदि हम पहले की भाति दो पेसिलो को आगे-पीछे खडा करे और दूरवाली पेसिल पर दृष्टि को फोकस करे, तो हम पास की पेसिल के दो बिम्ब देखेगे। अब दाहिनी आख को बन्द कर लीजिये और देखिये कि युगल बिम्ब का बाया बिम्ब गायब हो जाता है। किरणे चाहे दाहिनी आख को जानेवाली ही रोकी गई है, पर हम यही समझते है कि बाया बिम्ब गायब हो जाता है। ऐसा इसलिए होता है कि रोकी जानेवाली किरणे दाहिने दृष्टिपटल के बाह्यार्ध पर पडी थी और अनुभव द्वारा हमने ऐसी स्थिति मे, जब कि प्रकाश की किरणे दृष्टि-पटल के इस भाग का अतिक्रमण करती है, वस्तुओ को दृष्टि-क्षेत्र के बाये भाग को प्रक्षेपित करना सीख लिया है।

हम दृष्टि-पटल पर पडनेवाले उल्टे बिबो का सामान्य या साधारण सवेदनो की भाति निर्वचन करते है। यह बात, कि वास्तव मे हम इसे सीखते है, निम्नलिखित प्रयोग से सिद्ध होती है। एक वैज्ञानिक ने ऐसा चश्मा लगाया कि जिससे दृष्टिपटल पर बिम्ब सीधा खडा पडता था। कुछ दिन तक यही चश्मा लगाया रखकर उन्होने इस 'उल्टी दुनिया' का आदी होना सीख लिया। यह सीख लेने के बाद उन्होने चश्मा उतार दिया और अब उन्होने देखा कि उन्हे वस्तुओ की सामान्य स्थिति को निर्वचित करना फिर सीखना पड रहा है।

यह कहना अतिशयोक्ति नही कि नेत्र और दृष्टि-पथ मात्र कच्चा माल उपलब्ध करते है, जिससे हमारी प्रमस्तिष्क-प्रातस्था वास्तविक 'देखना' कर पाती है।

श्रवण

प्रकाश की किरणे जहा निर्वात से होकर गुजर सकती है, ध्वनि-तरगो को वहा पानी या हवा-जैसा कोई माध्यम चाहिए। श्रवण-सग्राहको तक पहुचने के पहले ध्वनि-तरगो का इन दोनो ही माध्यमो से होकर सचरण आवश्यक है।

श्रवण की प्रक्रिया को दो भागों में बांटा जा सकता है। पहला ध्वनि का भीतरी कान या आभ्यंतर कर्ण को संचरण है और दूसरा मस्तिष्क या कार्टेक्स द्वारा ध्वनि का संवेदन तथा निर्वचन है।

संरचना—कान या कर्ण के तीन भाग हैं—बाह्य, मध्य तथा आभ्यंतर (आकृति 36)। कर्णपल्लव या बाह्य कर्ण ध्वनि-तरंगों को श्रवण मार्ग या कर्ण-कुहर नामक नली में निर्देशित करता है। बाह्य कर्ण की कुछ-कुछ कीप जैसी आकृति ध्वनि को कान के भीतरी भाग में निर्देशित करने में सहायक होती है। इस बात की दृष्टि से बाह्य कर्ण मनुष्य की अपेक्षा पशुओं के अधिक काम के हैं, क्योंकि पशु उन्हें ध्वनि के स्रोत की दिशा की ओर मोड़ सकते हैं। हममें से भी कुछ लोग अपने कानों को 'नचा' सकते हैं, लेकिन अधिकतर हम ऐसी कोई कुशलता न रखते। फिर भी बाह्य कर्ण काफी उपयोगी हैं।

श्रवण-कुहर से होकर ध्वनि-तरंगें 'कर्णपटह' तक आती हैं। ये कर्णपटह में कंपन उत्पन्न कर देती हैं और इन कंपनों को तीन छोटी अस्थिकाओं (छोटी हड्डियों)—'मुद्गरक', 'स्थूणक' या 'निहाई' तथा 'वलयक' या 'रकाब' के एक पुल के द्वारा मध्यकर्ण में से होकर संचारित कर दिया जाता है।

आकृति 36—सिर की एक काट, जिसमें बाह्य, मध्य तथा आभ्यंतर कर्ण दर्शाए गए हैं।

मध्यकर्ण में वायु भरी होती है, जिसका उसी दाब पर, जितना कि कर्णपटह के दूसरी ओर होता है, रहना आवश्यक है: ताकि कर्णपटह को क्षति न पहुंचे। यदि आप पहाड़ों पर चढ़े हों (या तेज लिफ्ट पर सवार होकर किसी ऊंची इमारत में ऊपर भी गये हों), तो आपको अपने कानों में दाब का अनुभव हुआ होगा। इसके बाद अचानक 'चट' की आवाज, और दाब खत्म हो जाता है।

होता असल मे यह है—आपके ऊपर चढने के साथ-साथ वायुमडलीय दाव कम होता जाता है, जो कर्णपटह के दोनो ओर के दाव के सतुलन को भग कर देता है और अब मध्यकर्ण मे दाब अधिक हो जाता है। मध्यकर्ण ग्रसनी से एक नली द्वारा जुडा हुआ है, जिसे 'यूस्टेकिओ नली' कहते है। अधिकतर यह नली बद ही रहती है। जब आप निगलते है, तो यह खुल जाती है। ग्रसनी की अपेक्षा मध्य-कर्ण मे दाव अधिक रहने के कारण अब वायु मध्यकर्ण से यूस्टेकिओ नली द्वारा तब तक निकलती जाती है जब तक कि यह दाब समान नही हो जाता। 'चट्' की यह आवाज सभवत' भीतर दाव के अधिक होने के कारण बाहर की ओर उभरे हुए कर्णपटह के झटककर पीछे हटने से पैदा होती है।

मध्यकर्ण की अस्थिकाओ द्वारा ये कपन मध्यकर्ण को आभ्यतर कर्ण से पृथक् करनेवाली झिल्ली, अडाकार द्वार को संचारित कर दिये जाते है। इस वर्णन को आगे ले जाने के पहले हमे कर्णावर्त की सरचना जान लेनी चाहिए।

कर्णवर्त की सरचना—आभ्यतर कर्ण का कर्णावर्त खोपड़ी की शखास्थि मे स्थित एक सर्पिल कुडलित अंग है। अकुडलित किये जाने पर यह तीन नालो से बने शकु-जैसा नजर आता है। प्रघाण-नाल तथा कर्णपटह-नाल 'परिलसीका' नामक द्रव से भरी है और ये एक-दूसरे से कर्णावर्त के शीर्ष पर सयोजित होती है। दोनो के आधार पर क्रमश अडाकार तथा गोल द्वार है। केंद्रीय कर्णावर्त-नाल 'अंतर्लसीका' नामक द्रव से भरी है।
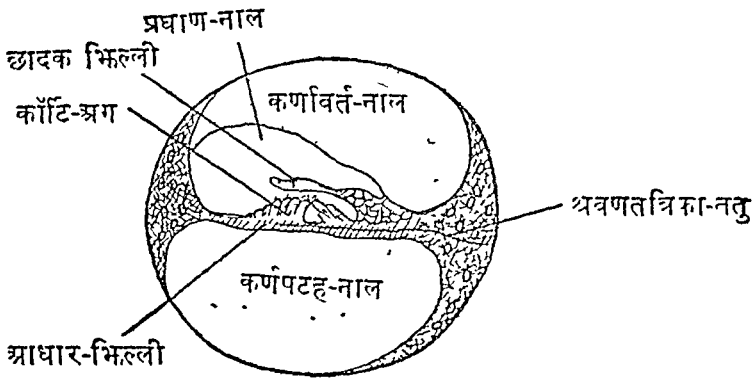
आकृति 37—कर्णावर्त की आरपार काट

कर्णपटह-नाल तथा कर्णावर्त-नाल को आधार-झिल्ली पृथक् करती है, जिस पर कॉर्टि-अंग स्थित है (आकृति 37)। कॉर्टि-अग मे 'लोम'-कोशिकाएं या 'रोमाभि' कोशिकाए होती है। ये 'लोम'-कोशिकाए ही श्रवण-सग्राहक है और श्रवणतन्त्रिका-तन्तु इन्ही से निकलते है। 'लोम'-कोशिकाओ के रोमक छादक झिल्ली के सपर्क मे है, जो कॉर्टि-अग पर प्रलबित है।

ध्वनि-तरगों का संग्रहण—स्थूणक (निहाई) की गतियो द्वारा जब अंडा-

कार द्वार कंपायमान हो जाता है, तो वह परिलसीका मे कंपन उत्पन्न कर देता है, जो कर्णावर्त के समस्त द्रव-तन्त्र मे संचारित हो जाते है। द्रव की गतिया आधार-झिल्ली को कंपायमान कर देती है, जिससे लोम-कोशिकाए उपर-नीचे उछलने लगती है। यह समझा जाता है कि उनके इस प्रकार उछलते समय रोमक छादक झिल्ली से लगकर मुड़ते है। रोमको का मुडना संभवत: श्रवण-तन्त्रिका-तन्तुओ मे तन्त्रिका-आवेग उत्पन्न करने के लिए पर्याप्त उद्दीपन है।

तारत्व का निर्धारण—श्रवण का अच्छा सिद्धान्त वही माना जायेगा जो विभिन्न तारत्वो या स्वरको मे विभेद कर सकने का कारण बता सके। श्रवण का अनुनाद-सिद्धान्त आधार-झिल्ली के महत्त्व पर जोर देता है। यह झिल्ली विभिन्न लम्बाइयो के तन्तुओ की बनी है और इनकी तरतीब किसी हद तक पियानो के तारो-जैसी है। कर्णावर्त अपने शीर्ष की अपेक्षा आधार पर अधिक चौड़ा है, पर आधार-झिल्ली कर्णावर्त के शीर्ष पर ज्यादा चौड़ी है और उसके आधार पर कम। इस प्रकार उसके लम्बे तन्तु कर्णावत के शीर्ष पर और छोटे तन्तु उसके आधार पर है।

पियानो के लम्बे तार निम्नतारत्व की ध्वनियां या मंद्र स्वर और छोटे तार उच्च स्वरक या तिपाती स्वर उत्पन्न करते है यह विश्वास किया जाता है निम्न-आकृति ध्वनिया या निम्नस्वरक कर्णावर्त के शीर्ष पर के आधार-झिल्ली के ततु को विशेषकर कपायमान कर देते है। इन तन्तुओ पर की लोम-कोशिकाओ के लोम मुड़ जाते है और सबद्ध तंत्रिकातन्तुओ द्वारा प्रमस्तिष्क-प्रातस्था को तत्रिका-आवेग भेज दिये जाते है, जहा निम्न या उच्चस्वरको के सवेदनो का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है।

इस सिद्धात की प्रयोगों द्वारा पुष्टि की जा चुकी है। कॉर्टि-अंग के शीर्ष का विनाश निम्नस्वरकों के प्रति वधिरता (बहरापन) उत्पन्न कर देता है। कार-खानो मे, जहा बडी तीव्रता की उच्च-तारत्व ध्वनियों की बहुलता होती है, काम करनेवालो मे इन ध्वनियो के प्रति वधिरता उत्पन्न हो जाती है, जिसे बायलर-मेकरो की वधिरता कहते है। मृत्यु के बाद उनके कर्णावर्तो की परीक्षा करने पर कर्णावर्त के आधार पर कॉर्टि-अंग का अपकर्ष पाया गया है।

प्रबलता का निर्धारण—यद्यपि यह निश्चितरूपेण सिद्ध तो नहीं किया जा सकता है, पर यह विश्वास किया जाता है कि किसी ध्वनि की तीव्रता जितनी ही अधिक होती है, आधार-झिल्ली उतने ही जोरो से कपन करती है। इससे प्रमस्तिष्क-प्रांतस्था को अधिक संख्या मे तन्त्रिका-आवेग जाते हैं, जो उनका प्रबल ध्वनियो के रूप मे निर्वचन करती है।

वधिरता या बहरापन—वधिरता के दो प्रकारो मे से आमतौर पर केवल संवहन-बधिरता का ही इलाज किया जा सकता है। यह कान मे मैल या ठेठ जमा हो जाने से पैदा होती है और मैल निकाल देने से ठीक की जा सकती है। सवहन-सम्बन्धी एक अधिक गम्भीर विकार वह है, जो मध्यकर्ण की हड्डियो के जड हो

जाने से, या कर्णपटहो में छेद हो जाने से पैदा होता है। यदि इनसे स्वाभाविक श्रवण को स्थायी क्षति पहुंच जाती है, तो इस तथ्य का लाभ उठाया जा सकता है कि खोपड़ी की हड्डिया ध्वनि-तरगों का संवहन कर सकती है। इसके लिए श्रवण-सहायको का उपयोग किया जाता है, जो ध्वनि-तरंगो को कंपनो मे परिवर्तित कर देती है, जो हड्डी के जरिये कर्णावर्त को संचारित कर दी जाती है। आप ध्वनि के अस्थि-संवहन को स्वय दर्शा सकते हैं। दोनो कानो को रूई की डाट से वन्द कर लीजिए और अपने दातो के बीच मे एक टिकटिक करती घडी रख लीजिये, घड़ी की टिकटिकाहट साफ सुनाई देगी।

अगर वहरापन श्रवण-तन्त्रिका या कॉर्टि-अग के किसी विकार के कारण है, तो वह असाध्य हो सकता है।

साम्यावस्था

आभ्यंतर कर्ण के कर्णावर्त के अलावा दृति या यूट्रिकिल, लघुकोशक या सैक्यूल और अर्धवृत्त नलिकाएं है (आकृति 36)। इन अगो मे साम्यावस्था के संग्राहक है।

स्थिति प्रतिवर्त—दृति तथा लघुकोशक अंतर्लसीका से भरे है। प्रत्येक दृति तथा लघुकोशक मे लोम-कोशिकाओ का एक समूह होता है, जिनके लोमो पर एक 'पत्थर' रहता है। पत्थरो पर गुरुत्व बल का खिचाव पडता है और यह विश्वास किया जाता है कि केशो का झुकना या न झुकना (सिर की स्थिति के अनुसार) श्रवण-तन्त्रिका की शाखा, प्रघाण-तन्त्रिका जो लोम-कोशिकाओ से निकलती है, के तन्तुओ को उद्दीपित करने का पर्याप्त कारण है।

सिर की स्थिति जब भी गुरुत्व की सापेक्षता में वदली जाती है, तो दृति मे विशेप रूप से तन्त्रिका-आवेग उत्पन्न होते है, जो प्रघाण-केन्द्रको के जरिये अपवाही न्यूरॉनो तथा पेशियो के भेज दिये जाते है। ये आवेग पेशी-स्फूर्ति का स्वरूप वदलने तथा देह की स्थिर साम्यावस्था कायम रखने का काम करते है।

लघुकोशको के कार्य अभी अज्ञातप्राय है। तथापि दृति-परिवर्त देह की स्थिति मे परिवर्तनो के वावजूद सिर की सामान्य स्थिति वनाये रखने मे बड़े महत्त्व के है। मनुष्य की अपेक्षा निम्न जन्तुओ मे ये अधिक सरलतापूर्वक दर्शाये जा सकते है, क्योंकि मनुष्य मे—यदि वह चाहे, तो—अस्वाभाविक स्थितिया भी ऐच्छिक क्रिया द्वारा कायम रखी जा सकती है।

सुस्थितिकर प्रतिवर्त—जब मेढक, पक्षी या विल्ली-जैसे किसी जन्तु को उसकी कमर के वल रख दिया जाता है, तो वह तुरन्त पलटकर अपनी सामान्य स्थिति मे आ जाता है। इसमे गतियो का पूरा क्रम सन्निहित होता है, जिन्हे आप बिल्ली को अधर उल्टा पकड़कर और फिर उसे छोड़कर स्वय देख सकते है। अगर आप उसका धरती पर पैरो के बल उतरने के लिए उसके अधर मुड़ने पर गौर करे, तो आप देखेंगे कि वह अपने को एक सर्पिल तरीके से सीधा करती है—
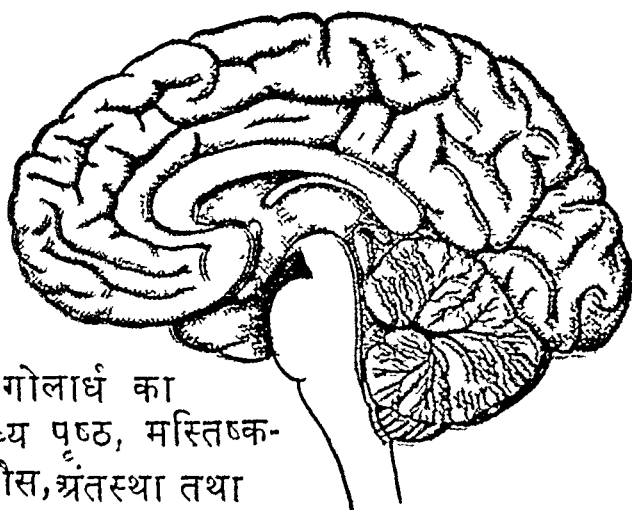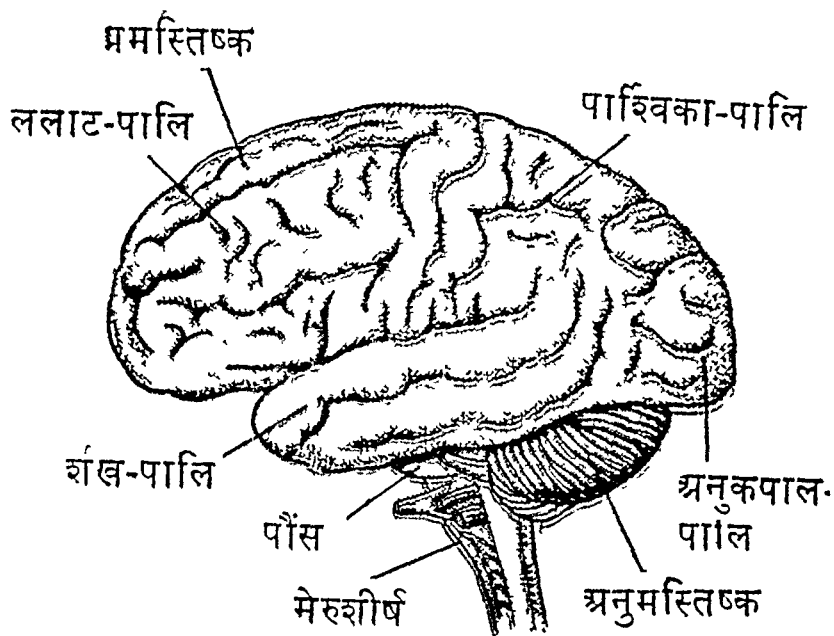
दक्षिण गोलार्ध का अभिमध्य पृष्ठ, मस्तिष्क-वृन्त, पौस, अंतस्था तथा अनुमस्तिष्क की काट के साथ

मस्तिष्क
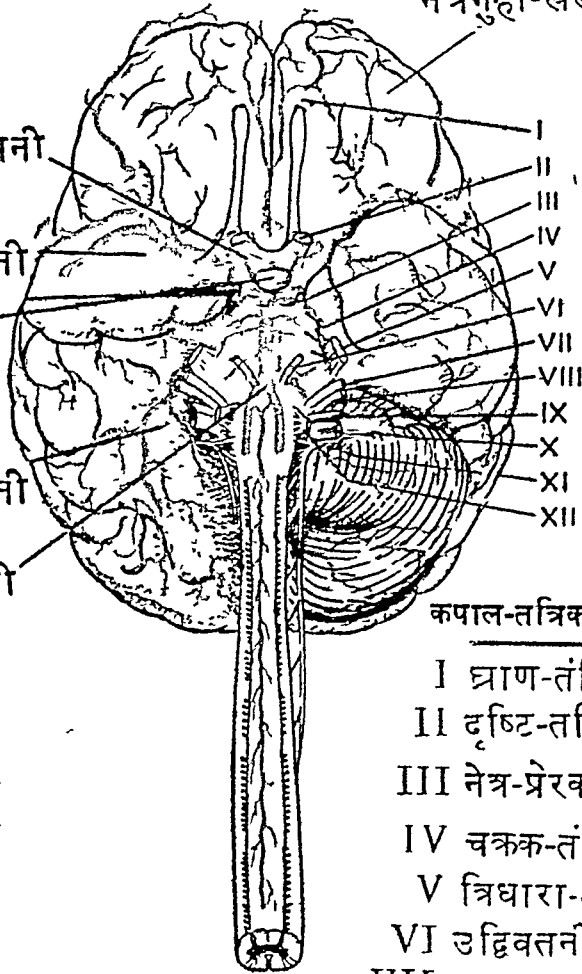
मस्तिष्क तथा मेरुरज्जु
(कपालतंत्रिकाओं सहित, ऊपर से देखने पर)
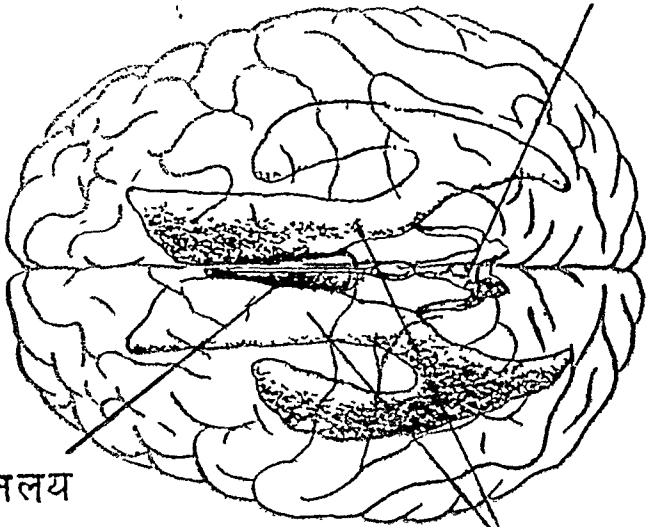
ऊपर से देखने पर
चतुर्थ निलय
तृतीय निलय
पार्श्व से देखने पर
पार्श्व-निलय
तृतीय निलय
चतुर्थ निलय
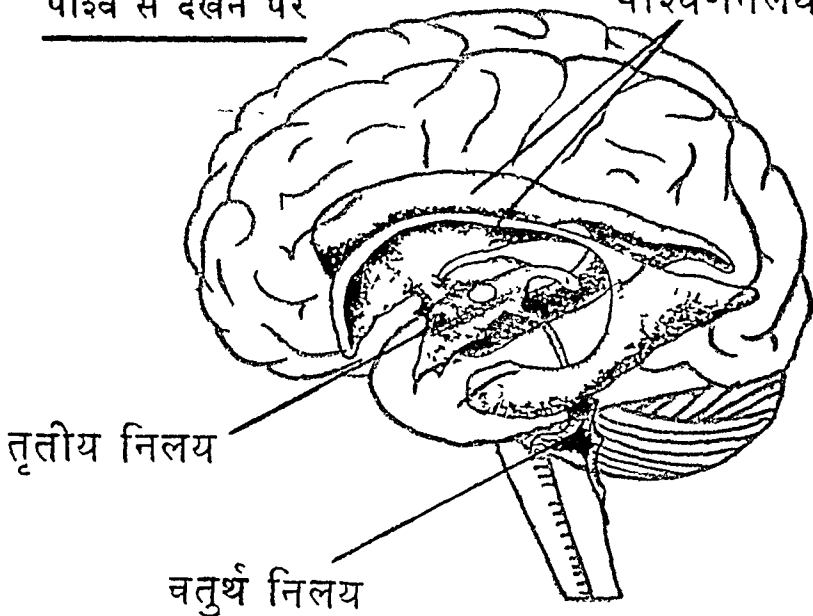
मस्तिष्क के निलय

ललाट-विवर
घ्राण-तंत्रिका-कंद
शुक्तिकाएं
जतूक-विवर
ऐडिनाइड
यूस्टेकिय़ो नली
का मुख
उत्सेध
(यूवुला)
टॉंसिल
कंठच्छद
(एपिग्लाटिस
स्वर-रज्जु
ग्रास-नल
स्वरयंत्र की भि

सिर की काट
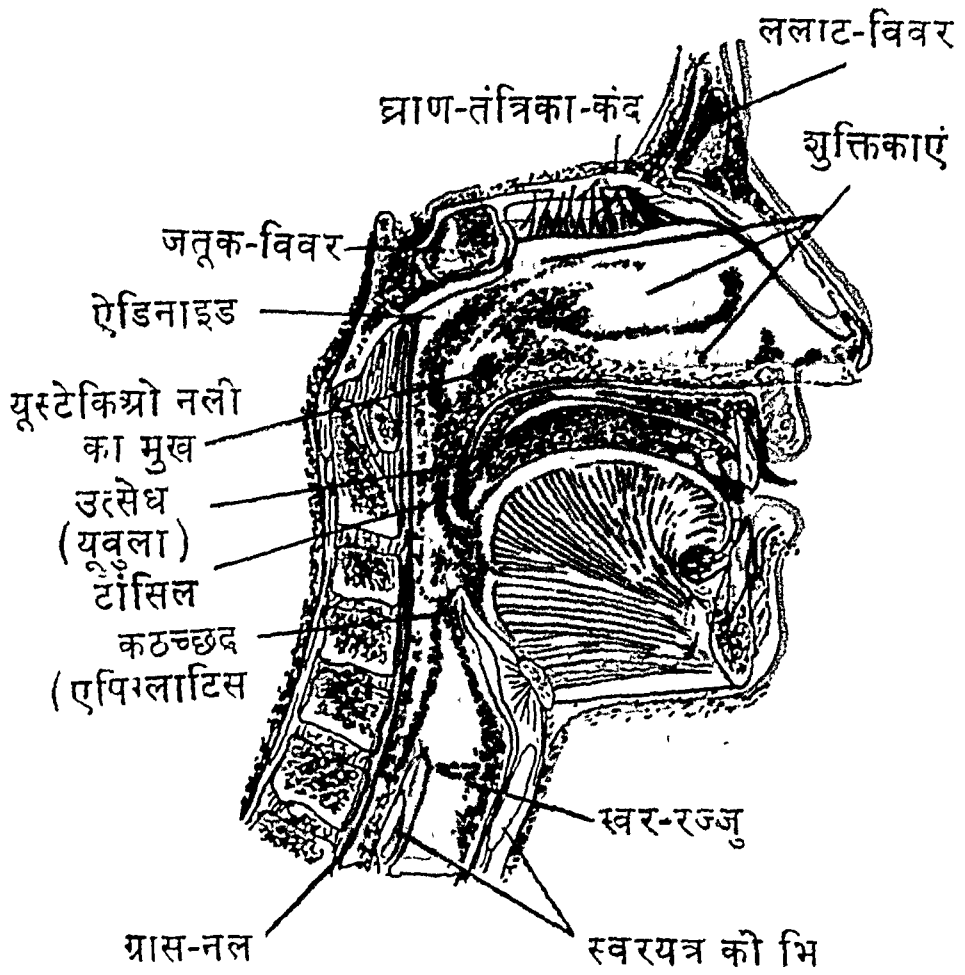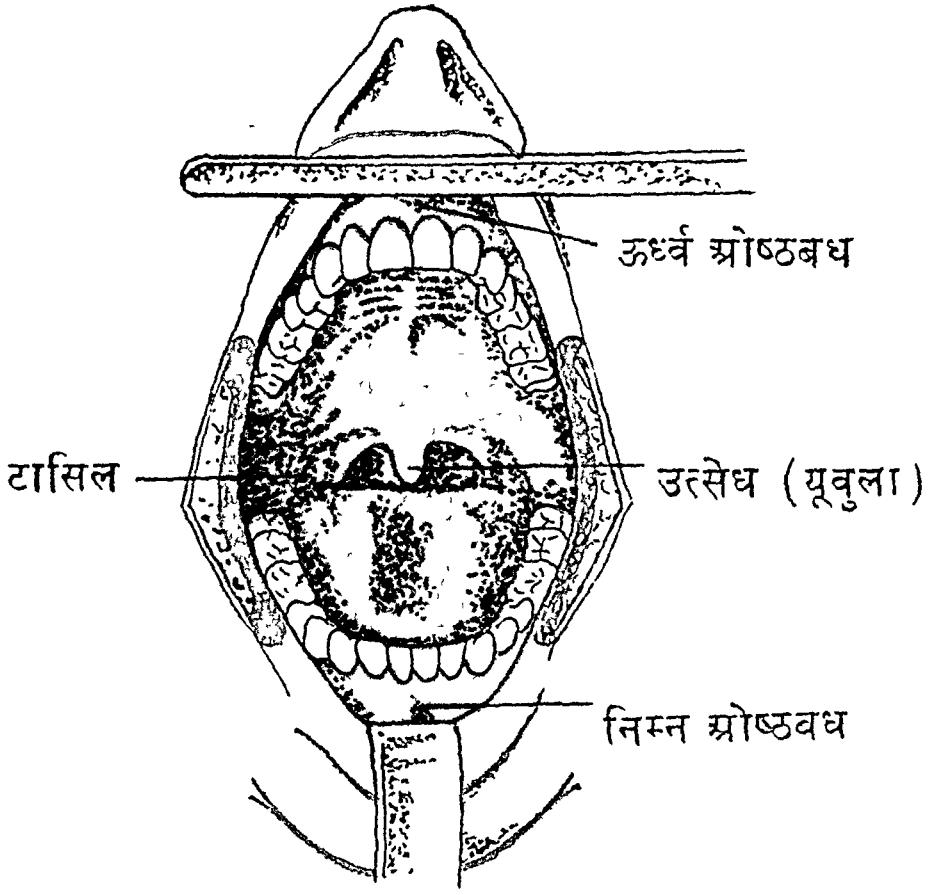
ऊर्ध्व ओष्ठबध
टांसिल
उत्सेध (यूवुला)
निम्न ओष्ठबध
छेदन दंत
एकदली दंत
द्विदली दंत
चर्वण दंत

मुख तथा दांत
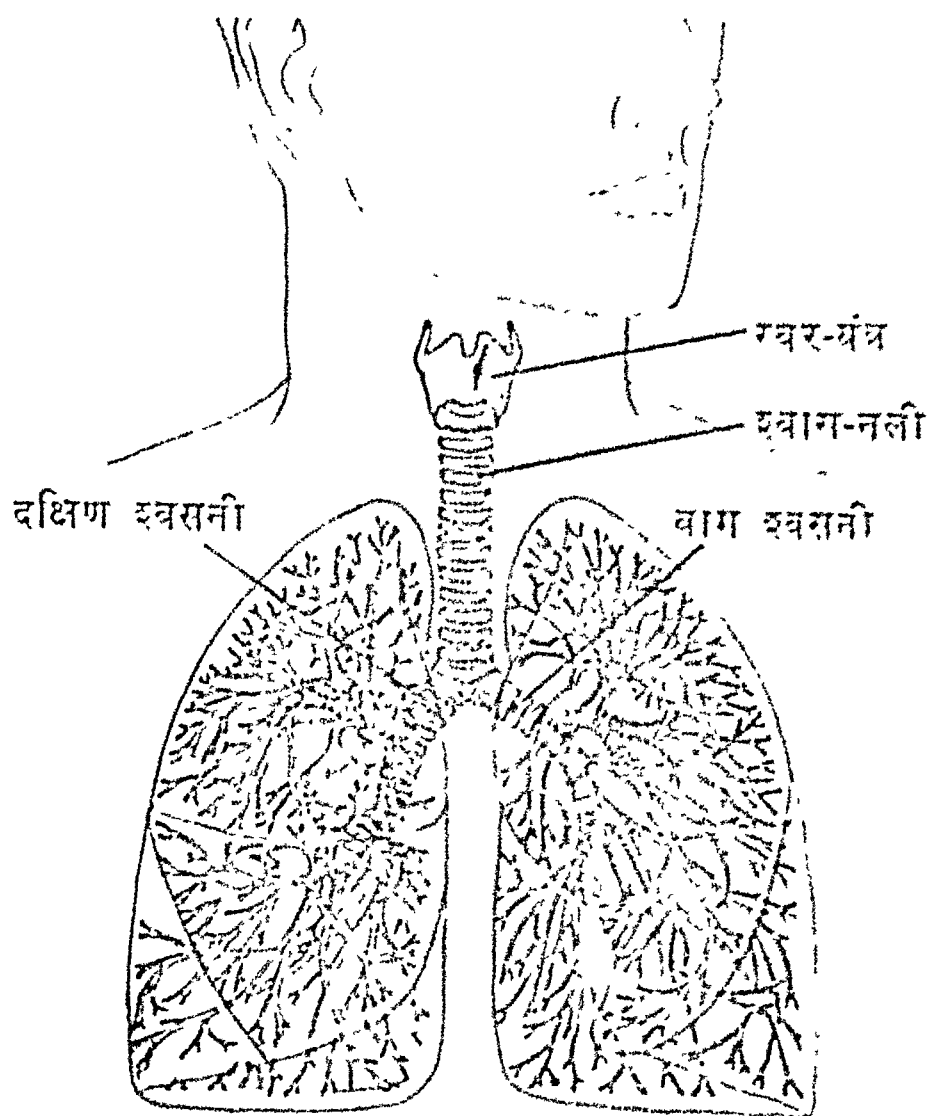
स्वर-यंत्र, श्वास-नली तथा श्वास-वृक्ष

दक्षिण अधिवृक्क-ग्रंथि
वाम अधिवृक्क-ग्रंथि
प्लीहा
महाधमनी
यकृत
आमाशय
उत्तल महाशिरा
ग्रास-नली
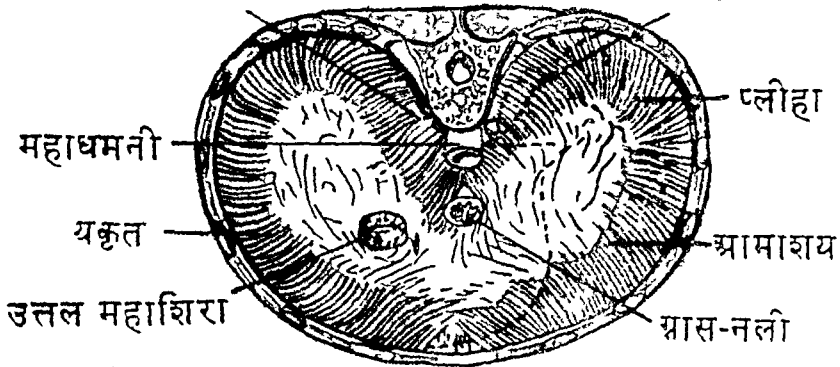
बिंदुरेखाओ द्वारा मध्यच्छद के ऊपर से देखे जाने पर उदरीय अगो की स्थिति दर्शाई गई है
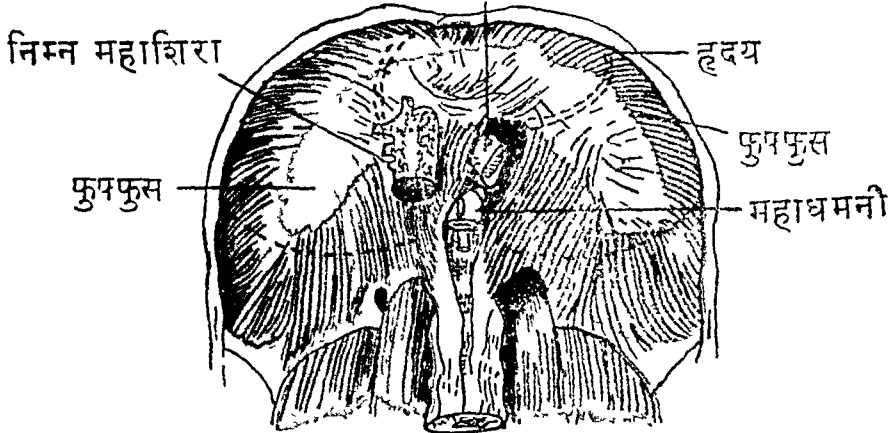
बिंदुरेखाओ द्वारा मध्यच्छद के नीचे से देखे जाने पर वक्षीय अगों की स्थिति दर्शाई गई है

मध्यच्छद मे से दिखाई देनेवाला दृश्य
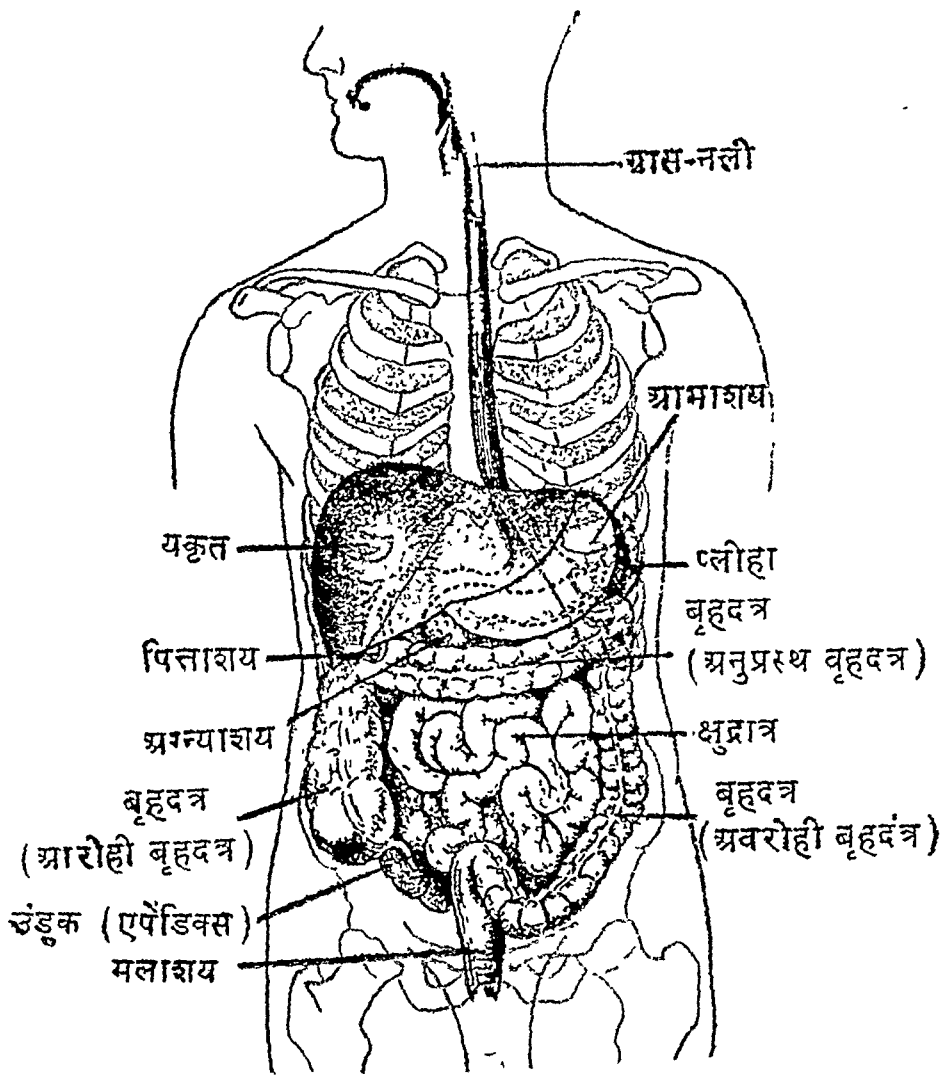
पाचक नाल तथा उदरीय आंतरांग
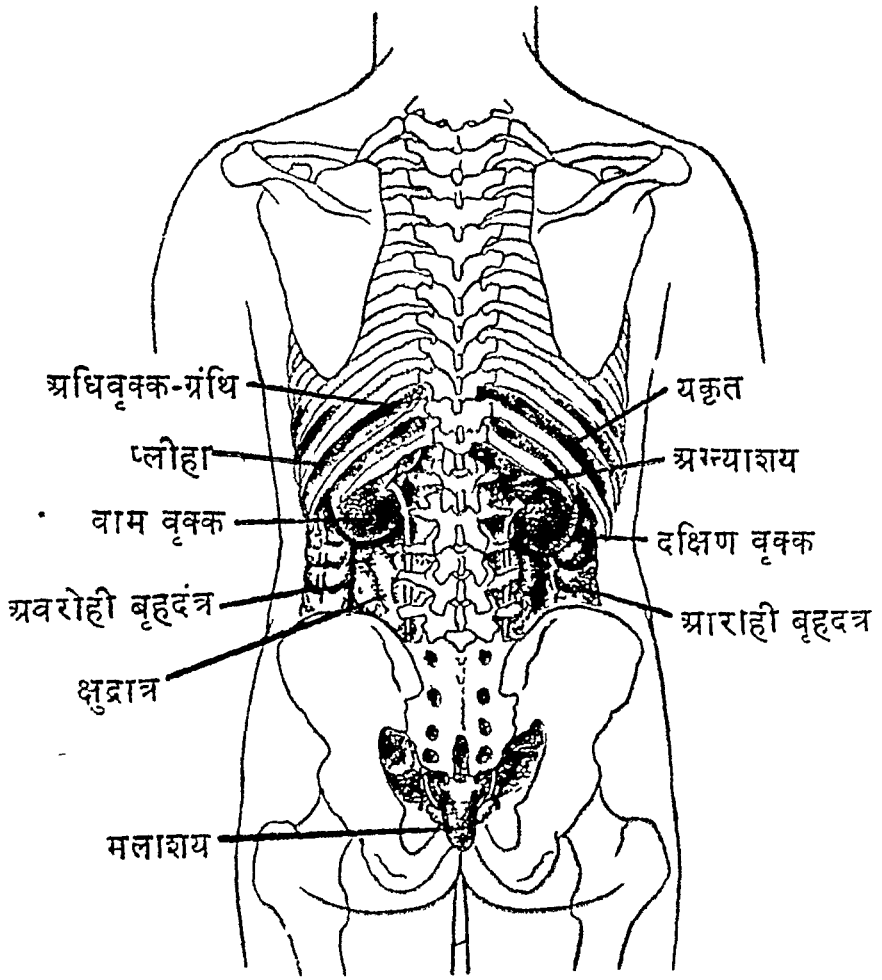
देह का पीछे की ओर से दृश्य, जिसमें आसपास की संरचनाओं की सापेक्षता में वृक्क दर्शाए गए है

पुरुष जनन-तंत्र
श्रोणि-प्रदेश के अन्य अंगों की सापेक्षता में
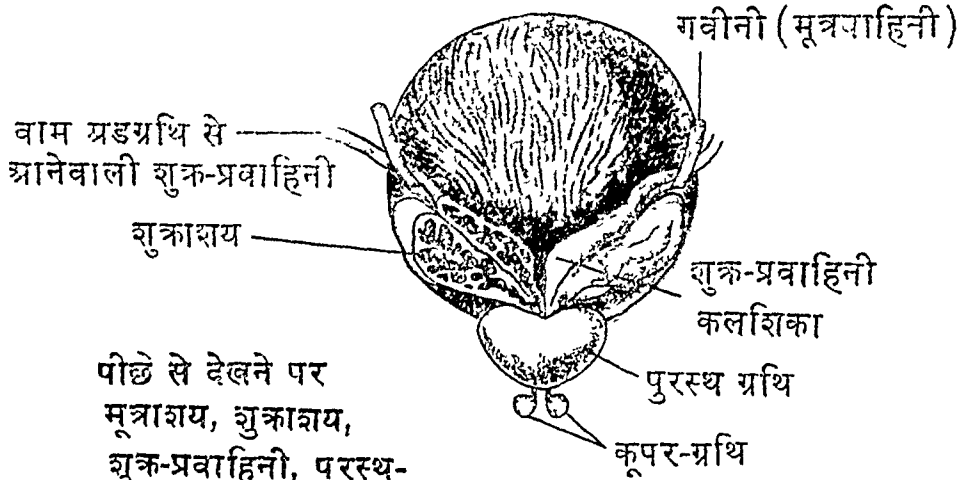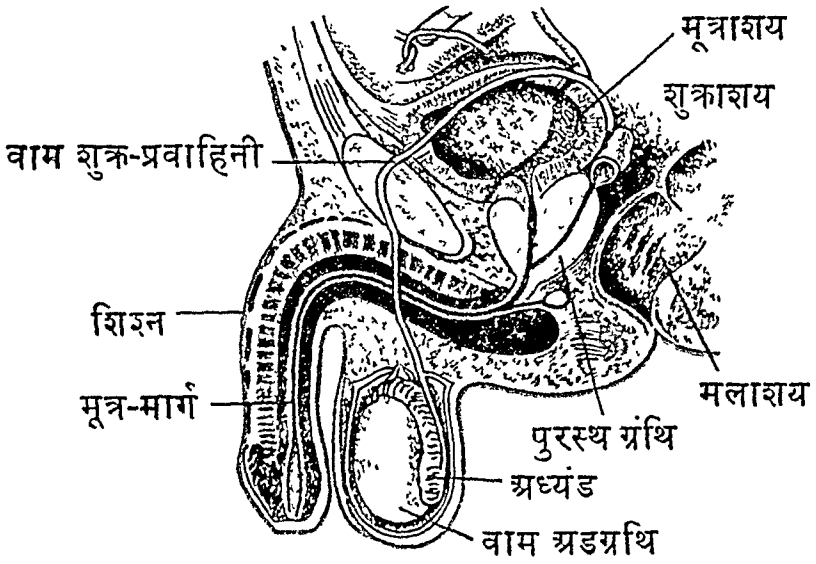
पीछे से देखने पर
मूत्राशय, शुक्राशय,
शुक्र-प्रवाहिनी, पुरस्थ-
ग्रंथि तथा कूपर-ग्रंथि की स्थिति

स्त्रीजनन तंत्र
अन्य श्रोणि-अंगों की सापेक्षता में

पीयूष-ग्रंथि
अवटु-ग्रंथि के
पश्च पृष्ठ पर चार
परावटु-ग्रंथियां
अवटु-ग्रंथि
बाल्य
(थाइमस) ग्रंथि
अधिवृक्क-ग्रंथियां
अग्न्याशय में
लांगेरहांस-द्वीपिका
मादा जनन-ग्रंथियां
(स्त्रियों में)
नर जनन-ग्रंथियां
(पुरुषों में)

अंतःस्रावी ग्रंथियां

नेत्र

नेत्र-गोलक का अग्रकक्ष
आइरिस
कॉर्निआ
रोमक पिंड
लेंस
दृष्टि-पटल का रोमक भाग
श्वेत पटल(स्क्लीरा)
दृष्टि-पटल(रेटिना)
रंजित पटल
श्वेत पटल
विट्रियस (काचाभ) पिंड
विट्रियस पिंड की खुली सतह
दृष्टि-तंत्रिका

वाम दृष्टि-तंत्रिका
दक्षिण दृष्टि-तंत्रिका
वाम दृष्टि-पथ
दक्षिण दृष्टि-पथ
अक्षि-स्वस्तिक
(दृष्टि-किएज्मा)

वाह्य श्रवण-कुहर

अर्धवृत्त-नलिकाए

मुग्दरक

कर्णावर्त तथा

कर्णावर्त-तंत्रिका

मध्यकर्ण-गुहा

(कर्णपटह-गुहा)

यूस्टेकिओ नली

कर्णपटह-

झिल्ली

वहिष्कर्ण

श्रवण-अस्थिका

मुग्दरक

(हथौड़ा)

स्थूणक

वलयक (रकाव)
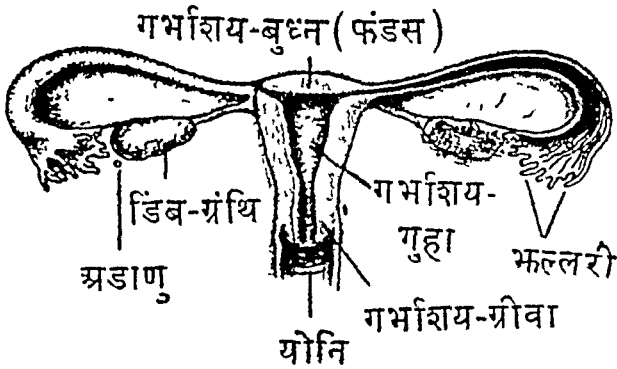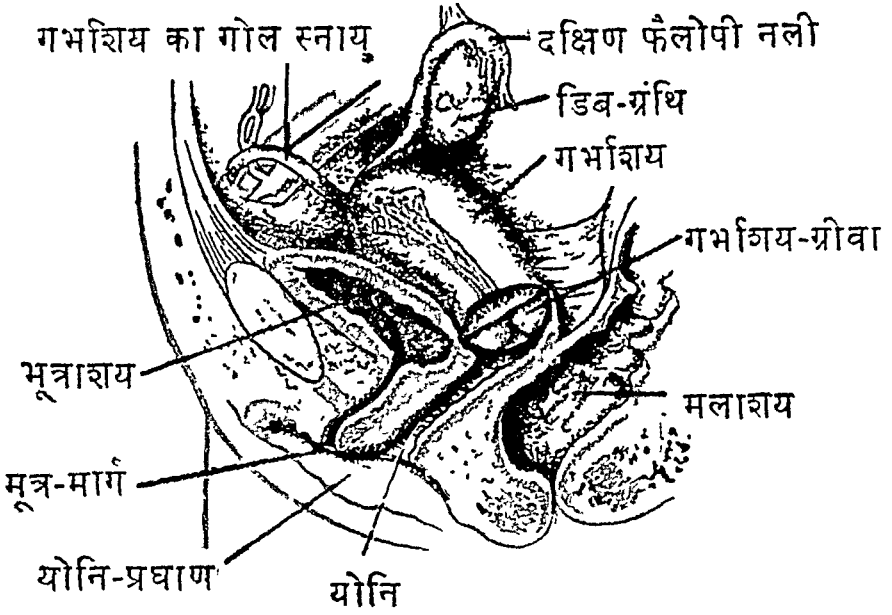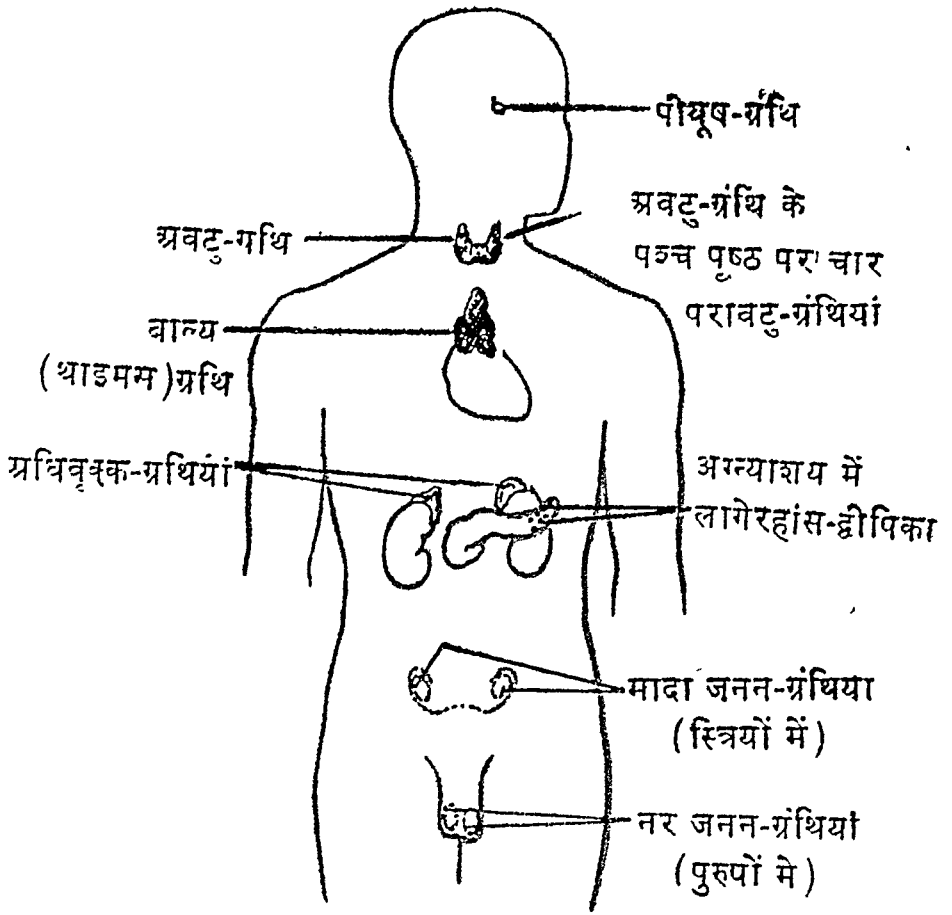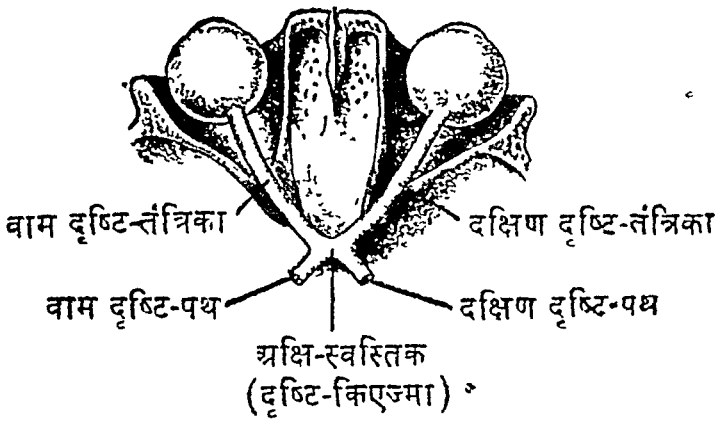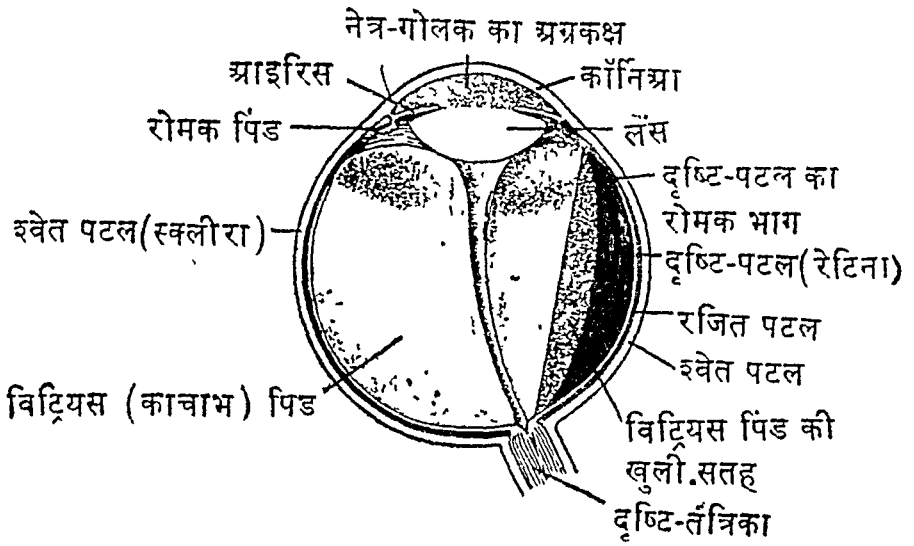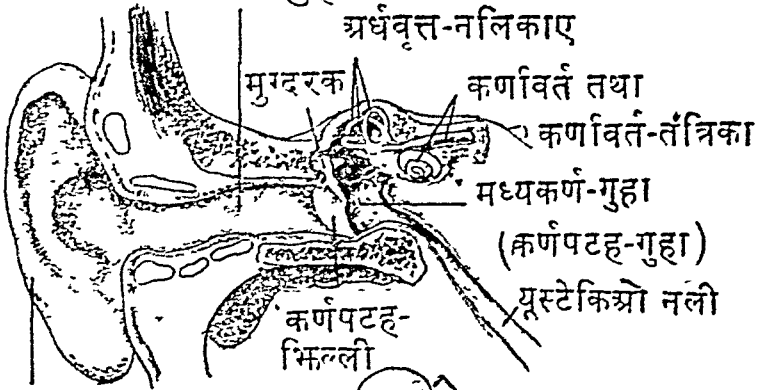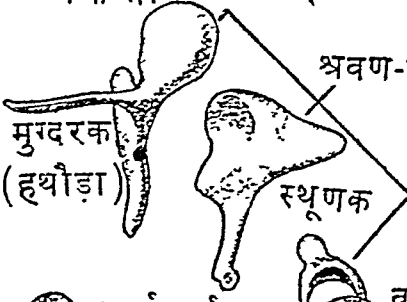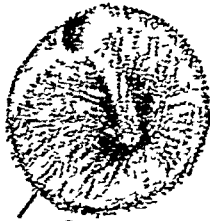
दक्षिण कर्णपटह-झिल्ली

(कर्णपटह)

ऊर्ध्व अर्धवृत्त-

वाहिनी

दृति लघुकोशक
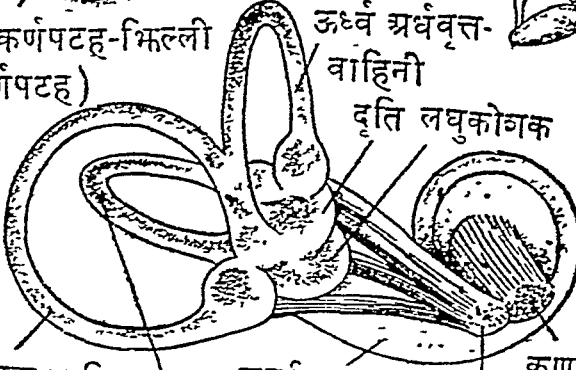
पश्च अर्धवृत्त-वाहिका

कर्णावत

कर्णावर्त-तंत्रिका

प्रघाण-तंत्रिका

पार्श्व अर्धवृत्त-वाहिका
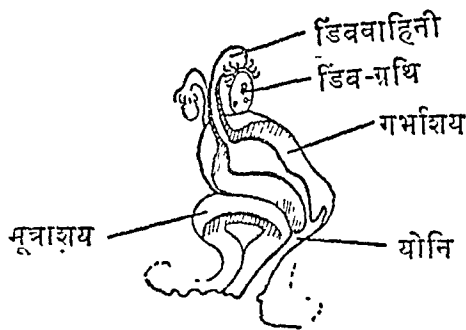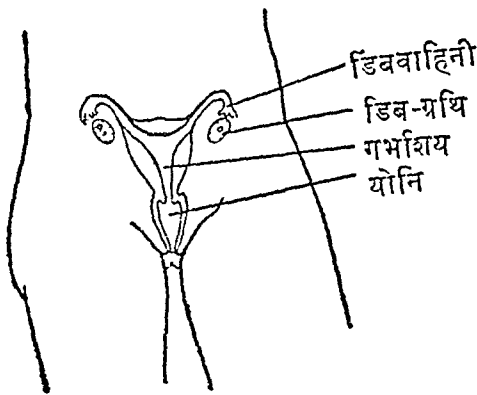
आकृति 41— स्त्रीजनन-तत्र

स्त्रीजनन-तन्त्र की सामान्य सक्रियताएं—स्त्री की जनन-ग्रथियां—डिब-ग्रथिया—परिपक्व अड-कोशिकाए तथा स्त्रीलिंग-हारमोन उत्पन्न करती है। ये हारमोन स्त्री के देहीय लक्षणो तथा सहायक लिगेन्द्रियो के सपोषण का कार्य करते है। जैसा कि हम देखेगे, अडाशयी हारमोन आर्तव-चक्र मे समाविष्ट परिवर्तनो के क्रम के नियमन मे एक महत्त्वपूर्ण भाग लेते है। आर्तव-स्राव, जिससे इस चक्र का आरंभ माना जाता है, वस्तुतः इस चक्र की समाप्ति का द्योतक है।

अंडाशयी परिवर्तन—जन्म से लेकर यौवनारभ तक डिबग्रथि मे अनेक परिपक्व अडे रहते है। हर अंडा अनेक लघुतर 'स्तरक कोशिकाओ' या 'पुटक कोशिकाओ' से घिरा रहता है। प्रथम आर्तव-चक्र के प्रारभ मे, तथा उसके बाद के प्रत्येक चक्र मे, कुछ पुटक परिपक्व होने लगते है। साधारणतया एक चक्र मे एक ही पुटक परिपक्व होता है, दूसरे अपकर्षित हो जाते है। पुटक की परिपक्वता मे इसका आकार तेजी से बढता है और इसके विवर मे तरल भर जाता है। इस अवस्था मे परिपक्व पुटक आकृति 42 मे दर्शाए-जैसा लगता है।

परिपक्व पुटक अब अडाशय की सतह के बाहर उभर रहा होता है। अपने परिवर्धन का प्रारभ होने के दस दिन बाद (या आर्तव-स्राव के दस दिन बाद) पुटक फट जाता है और डिब या अडाणु देहीय गुहा मे नि स्रवित हो जाता है।
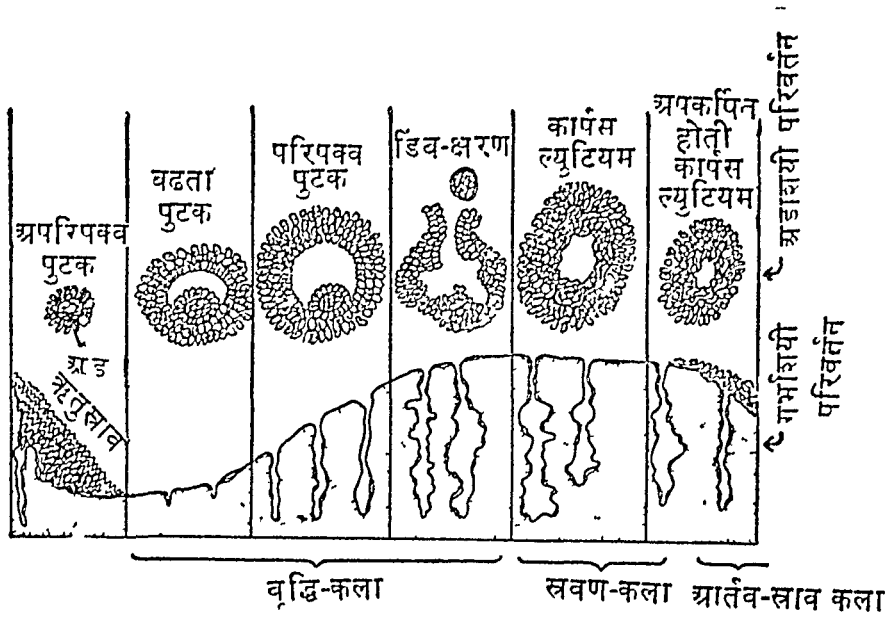
आकृति 42—आर्तव-चक्र के दौरान अंडाशयी तथा गर्भाशयी परिवर्तन : संपूर्ण विवरण के लिए मूल पाठ देखें।

यह प्रक्रिया 'अंडमोचन' या 'डिंब-क्षरण' कहलाती है (डिंब-क्षरण की अवधि व्यक्ति-व्यक्ति मे और एक व्यक्ति मे भी चक्र-चक्र मे एकदम भिन्न होती है)। भजित पुटक की कोशिकाएं अब रूपांतरित होती है और कोशिकाओ की एक ठोस पीली राशि का निर्माण करती है, जिसे 'कार्पस ल्युटियम' या 'पीत वस्तु' कहते है।

यदि इस समय अड का संसेचन नही होता, तो 'कार्पस ल्युटियम' अगले 12-14 दिनो तक बढती रहती है, लेकिन फिर अपकर्षित हो जाती है। यदि शुक्राणु-कोशिकाए डिंब-क्षरण की अवधि के आसपास योनि मे प्रविष्ट हो जाती है, तो वे अपनी 'पूछो' की कोडे-जैसी गति द्वारा गर्भाशय से होते हुए फैलोपी नलियों मे चली जाती है। संसेचन का सामान्यत. यही स्थान है। संसेचित हुआ अंडा धीरे-धीरे डिंब-वाहिनी से गर्भाशय मे आ जाता है और अपने को गर्भाशय की दीवार मे स्थापित कर लेता है। एक बार संसेचन हो जाने के बाद कार्पस ल्युटियम बनी रहती है और सगर्भावस्था की लगभग पूर्ण अवधि भर बढती रहती है।

गर्भाशयी परिवर्तन—आर्तव-चक्र के समय अंडाशयी परिवर्तनो के साथ-साथ गर्भाशय के अस्तर या गर्भाशय के अत:स्तर मे भी चक्रीय परिवर्तन होते है। पुटक की परिपक्वता की अवधि के दौरान गर्भाशय की कोशिकाओ के गुणन के कारण उसका अस्तर मोटा होता जाता है। इस अवस्था को वृद्धि-कला कहते है। इसमे गर्भाशय के अस्तर की श्लैष्मिक ग्रथिया भी बड़ी हो जाती है और इसमे अधिक रुधिर-वाहिकाए पैदा हो जाती है।

डिंब-क्षरण के बाद इन परिवर्तनो मे तेज़ी आ जाती है। अस्तर और भी

मोटा हो जाता है, ग्रंथिया तथा रुधिर-वाहिकाएं और भी अधिक प्रचुरोद्भवित होती जाती हैं। इसके अलावा ग्रंथिया अब एक श्यान (चिपचिपा) श्लैष्मिक स्राव करने लगती है। इस अवस्था को स्रवरग-कला कहते है। यदि इस बीच में संसेचन हो गया है, तो गर्भाशयी अस्तर सगर्भावस्था की पूरी अवधि मे इसी स्थिति मे बना रहता है। यदि ससेचन नही हुआ है, तो गर्भाशय के अंत:स्तर की सबसे ऊपर की तहे अपकर्षित हो जाती है और बहिर्गमित कर दी जाती है। इसमे कुछ रुधिर-स्राव होता है। इस अवस्था को आर्तवस्राव-कला कहते है। यह विघटन-प्रक्रिया 'रज:स्राव', 'रजोधर्म', 'ऋतुस्राव', 'आर्तव' या 'मासिक धर्म' कहलाती है। कोशिकाए और रुधिर बाहर चले जाते है और सारी प्रक्रिया मे चार-पांच दिन लग जाते है। इस अवधि के अत मे गर्भाशयी अस्तर आरभिक दशा मे आ जाता है और इस चक्र को दुहरा सकता है।

योनि-परिवर्तन—कुछ निम्न स्तनधारियो (जैसे मूषक या चूहा) मे आर्तव-चक्र के समय योनि के अन्तर मे कोशिक परिवर्तन होते है। कुछ सतही कोशिकाओ का लेप बनाकर और सूक्ष्मदर्शी के नीचे उसकी परीक्षा करने से यह बताना सभव हो जाता है कि जतु चक्र के किस दौर मे है। स्त्री की योनि भी परिवर्तन प्रदर्शित करती है, लेकिन अभी तक ऐसा कोई विश्वसनीय तरीका नही मिला है जिससे कि इस चक्र की कला का निर्धारण किया जा सके।

हमे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि आर्तव-चक्र की विभिन्न कलाओ की अवधियां—वृद्धि-कला के दस दिन, स्रवरग-कला के चौदह दिन, आर्तव-स्राव-कला के चार दिन,—बहुत सारी स्त्रियो मे इस चक्र के प्रेक्षरगों से प्राप्त औसत ही है। इसका यह अर्थ नही कि हर स्त्री के चक्र इन्ही अनुपातो मे होते है। या उसका चक्र अट्ठाईस दिन मे ही पूरा होता है। वास्तव मे व्यक्ति-व्यक्ति मे और एक ही स्त्री के क्रमिक चक्रों मे भी बहुत अधिक वैभिन्न्य होता है।

डिब-ग्रथियों के निष्कासन के प्रभाव—अडाशय-अपनयन या डिबग्रथि-उच्छेदन, अर्थात् अडाशय को अलग कर देने से पुरुष के अडोच्छेदन-जैसे ही प्रभाव पडते है। यदि डिबग्रथि-उच्छेदन लैंगिक परिपक्वता प्राप्त करने के पहले किया जाता है, तो इसके फलस्वरूप गौरग लिंग-निर्मितिया परिपक्व नही हो पाती है और गौरग लैंगिक लक्षरग (उच्चतारत्व की पतली आवाज, केशो तथा वसानिक्षेप का स्त्रियोचित वितररग) पुरुष-लक्षरगो मे बदलने लगते है।

यौवनारंभ के बाद डिबग्रथि-निष्कासन से आर्तव-चक्र बन्द हो जाता है, गौरग लिंग-निर्मितियो का अपकर्ष हो जाता है, और वसीयता मे वृद्धि हो जाती है। कभी भी डिबग्रथि-उच्छेदन करने से बध्यता या अनुर्वरता तो हो ही जाती है।

अंडाशयी हारमोन—डिबग्रथि-उच्छेदन के अत.स्रावी प्रभावो को अडाशय-सत्त्वो के इजेक्शन द्वारा निराकररिगत या उलटा किया जा सकता है। इस प्रकार के सत्त्वो को देकर डिबग्रथि-उच्छेदित स्त्री मे लैंगिक चक्र को पुन.स्थापित किया जा सकता है।

इस दृष्टि से डिवग्रंथियों को भी एक अंत:स्रावी अंग ही होना चाहिए। इस विचार की पुष्टि अंडाशयी सत्त्वों में से दो हारमोनों के पृथक्करण से हुई। ये हारमोन मणिभीकृत और संश्लेपित तक कर लिये गए है।

पुटक हारमोन—डिवग्रंथि के बढते पुटक द्वारा स्रवित हारमोन को 'ऐस्ट्राडिओल' नाम दिया गया है। डिवग्रंथि-उच्छेदित स्त्री को दिया जाने पर यह हारमोन गर्भाशय के अस्तर की वृद्धि, रुधिर-सवहनीकरण तथा ग्रथि-निर्माण प्रेरित कर सकता है। इसके न देने पर ऋतुस्राव हो जाता है। पुटक हारमोन रुधिर द्वारा गर्भाशय में पहुंचता है और वहा यह अपने प्रभावों का संवर्धन करता है।

रासायनिक संरचना में ऐस्ट्राडिओल से मिलते-जुलते कई अन्य रासायनिक यौगिक, ऐस्ट्रोजेनिक सक्रियता से युक्त पाए गए है। लेकिन वे ऐस्ट्राडिओल-जैसे प्रभावी नही हैं।

ल्युटिअल हारमोन—कार्पस ल्युटियम द्वारा स्रवित हारमोन, प्रोजेस्टेरोन गर्भाशयी ग्रन्थियो की स्राव-क्रिया तथा सगर्भ-गर्भाशय के संपोपण का कार्य करता है। जिस डिवग्रंथि-उच्छेदित स्त्री को केवल ऐस्ट्रोजन दिया गया है, उसमे लैंगिक चक्र की वृद्धि-कला तो प्रकट हो जाएगी, किन्तु वह स्रवण-कला तव तक प्रदर्शित नही करेगी कि जव तक उसे ऐस्ट्रोजेन के वाद प्रोजेस्टेरोन नही दिया जाता। तथापि ऐस्ट्रोजन पहले ही दिया जाना चाहिए, क्योंकि यह गर्भाशयी अस्तर को प्रोजेस्टेरोन के लिए सम्भवत: प्रतिसंवेदित कर देता है। प्रोजेस्टेरोन का देना वन्द कर देने से आर्तव-स्राव ऐस्ट्रोजेन-उपचार रोकने की अपेक्षा ज्यादा तेजी से होने लगता है। वहुत सम्भव है कि स्रवण-कला के अन्त में प्रोजेस्टेरोन-स्तर के गिर जाने के कारण ही सामान्यत. आर्तव-कला का आरम्भ होता है।

पीयूपिका-डिवग्रंथि-अंत:सम्वन्ध—पीयूपिका की अग्र पालि के जनन-ग्रंथिप्रेरक हारमोनो का डिवग्रन्थि और उसके हारमोनो पर निश्चित नियत्रण है। अग्र पालि के निष्कासन के फलस्वरूप डिवग्रथि और गौण लैंगिक निर्मितियो का अपकर्प होता है और कामेच्छा जाती रहती है। जननग्रंथि-प्रेरक हारमोनों का देना इन परिवर्तनों को रोक या उलट सकता है।

पुरुपों मे शुक्राणु-जनन को वढानेवाले हारमोन के समान जो हारमोन है, वह 'पुटकोत्तेजक हारमोन' या एफ० एस० एच० कहलाता है; और जो हारमोन पुरुप मे टेस्टोस्टिरॉन-स्राव को उद्दीपित करनेवाले हारमोन के समान है, वह स्त्री मे 'ल्युटिनीकारी हारमोन' या एल० एच० कहलाता है। ऐसे मादा-जंतु मे, पीयूपिका की अग्र पालि निकाल दी गई है, पुटकोत्तेजक हारमोन का इंजेक्शन उसकी डिव-ग्रंथियो के अपकर्प को रोकता है और ऐस्ट्राडिओल के स्राव तथा पुटकों की वृद्धि को वढाता है, ल्युटिनीकारी हारमोन का इंजेक्शन डिव-क्षरण करनेवाला माना जाता है और यह कार्पस-ल्युटियम द्वारा प्रोजेस्टरोन के स्राव को उत्तेजित करता है।

इसके विपरीत ऐस्ट्रोडिओल और प्रोजेस्टेरोन पीयूपिका द्वारा जनन-ग्रन्थि-

प्रेरक हारमोनो का स्राव अवरुद्ध कर सकते है। ऐस्ट्रोडिओल इंजेक्शन से पुटकोत्तेजक हारमोन का, और प्रोजेस्टेरोन के इंजेक्शन से ल्युटिनीकारी हारमोन का स्राव विशेषकर अवरुद्ध होता लगता है।

सगर्भावस्था—सगर्भावस्था या गर्भिणीता के पूर्वार्ध मे कार्पस ल्युटियम आवश्यक है। यह गर्भाशयी अस्तर को उसकी स्रवण-कला मे बनाए रखती है और गर्भाशय की दीवार मे ससेचित अड को नीडित करने के लिए आवश्यक है। यह आर्तव-स्राव भी रोकती है। यदि इस समय कार्पस ल्युटियम निष्कासित कर दी जाये, तो गर्भस्राव या गर्भपात हो जाता है—गर्भाशयी अस्तर उचट जाता है और भ्रूण गर्भाशय से प्रस्रवित हो जाता है। सगर्भावस्था के प्रथमार्ध के बाद कार्पस ल्युटियम आवश्यक नही है, वस्तुत सगर्भावस्था के अन्तिम मासो मे इसका अपकर्ष हो जाता है।

यह सुझाया गया है कि सगर्भावस्था के उत्तरार्ध मे गर्भनाल ऐस्ट्रोजेन तथा प्रोजेस्टेरोन उत्पन्न करती है। (गर्भनाल गर्भाशय और भ्रूणीय ऊतक के सयोग से उत्पन्न निर्मिति है, जिसके द्वारा भ्रूण का पोषण होता है)। यह सम्भव है कि गर्भनाल सगर्भावस्था के उत्तरार्ध मे इन हारमोनो को स्रवित करती हो और इस प्रकार सगर्भावस्था के संपोषण मे योग देती हो। (यह भी ध्यान मे रखना चाहिए कि सगर्भावस्था के प्रारम्भ मे भ्रूण को घेरनेवाली एक झिल्ली एक जननग्रंथि-प्रेरक हारमोन का स्राव करती है, जो पीयूषिका से स्रवित हारमोन की अनुपूर्त्ति करता है। भ्रूण से आया हारमोन मादा के मूत्र मे देखा जा सकता है और सगर्भावस्था-परीक्षा का आधार प्रस्तुत करता है—प्रारम्भिक सगर्भावस्था की स्त्री का मूत्र अक्षत-योनि खरगोश को दिया जाने पर जननग्रंथि-प्रेरक हारमोन की उपस्थिति के कारण परीक्षातर्गत जन्तु मे अडाशयी परिवर्तन उत्पन्न कर देगा।

दुग्ध-स्रवण—यौवनारम्भ के समय स्तनो की वृद्धि रुधिर मे ऐस्ट्राडिओल की उन्मुक्ति के कारण होती है। इसके बाद आर्तव-पूर्व अवधियो मे, तथा विशेषरूप से सगर्भावस्था के समय, उनका वर्धित विकास प्रोजेस्टेरोन की सहायक क्रिया के कारण होता है। दुग्ध का वास्तविक स्राव अडाशयी हारमोनो द्वारा प्रोत्साहित किए जाने के बजाय अवरुद्ध किया जाता है।

प्रसव के बाद पीयूषिका की अग्र पालि एक दुग्धजनक हारमोन स्रवित करती है, जो तब दुग्ध-ग्रन्थियो द्वारा दुग्ध की उत्पत्ति को उत्तेजित करता है।

रजोनिवृत्ति तथा आर्तव-विकार—42 और 52 वर्ष की अवस्था के बीच किसी समय स्त्रीलिंग-चक्र समाप्त हो जाता है। डिंबग्रन्थियो का अपक्षय आरम्भ हो जाता है और इसके बाद गर्भाशय, योनि तथा स्तनो आदि मे अपकर्षी परिवर्तन होने लगते है। इसके बाद अनुर्वरता आरम्भ हो जाती है। आमतौर पर हारमोन-सतुलन मे परिवर्तन के बाह्य चिह्न दृष्टिगोचर होते है—त्वचा का लाल व गरम हो जाना, पसीना आना और अन्य मनोवैज्ञानिक लक्षण। कुछ

स्त्रियो मे 'जीवन-परिवर्तन' की यह अवधि वडी कठिन होती है। अंडाशयी हारमोन देकर इन परिवर्तनो की गति को अधिक धीमा तथा क्रमिक करने के प्रयास कुछ मामलों मे सफल हुए है, लेकिन कई असफलताओं की भी सूचनाएं मिली है।

अपेक्षाकृत कम आयु की स्त्रियो मे ऋतुस्रावीय विकारो की चिकित्सा मे भी लगभग इतनी ही सफलता मिली है। अल्प पीड़ायुक्त, अत्यधिक या अनुपस्थित आर्तव-स्राव कोई असाधारण वात नही है। उपचार में सम्भवत: इसलिए कठिनाई होती है कि हारमोनों के देने से हारमोन-स्तरो मे वे चक्रीय परिवर्तन आरंभ नही होते, जो सामान्यत. होते है।

स्त्रीलिग-चक्र में घटना-क्रम—यौवनारंभ के आगमन के समय पीयूपिका का पुटकोत्तेजक हारमोन अडाशयी पुटको की वृद्धि तथा ऐस्ट्राडिओल के स्राव को उद्दीपित करता है। अपनी वारी में ऐस्ट्राडिओल गौरण लैगिक निर्मितियों तथा लक्षणो के विकास को वढावा देता है। यह गर्भाशयी अस्तर की वृद्धि-कला भी उत्पन्न करता है। प्रत्येक आर्तव-चक्र मे, रुधिर मे ऐस्ट्राडिओल-सांद्रण के काफी ऊंचे स्तर पर आ जाने पर पुटकोत्तेजक हारमोन अवरुद्ध हो जाता है और ल्यूटिनीकारी हारमोन स्रवित करने के लिए पीयूपिका उद्दीपित कर दी जाती है। यह प्रक्रिया डिंव-क्षरण के आरम्भ, कार्पस ल्युटियम की वृद्धि तथा प्रोजेस्टेरोन-स्राव को जन्म देती है। प्रतिसंवेदित गर्भाशयात.स्तर को प्रोजेस्टेरोन श्लेष्मा स्रवित करनेवाले ऊतक के रूप मे परिवर्तित कर देता है।

जव प्रोजेस्टेरोन का स्तर एक विशेष स्तर पर पहुँच जाता है, तो ल्युटिनीकारी हारमोन का स्राव रुक जाता है। यदि कोई अडा ससेचित नही हुआ है, तो कार्पस ल्युटियम अपकर्पित हो जाता है और ऐस्ट्राडिओल और प्रोजेस्टेरोन के सांद्रण तेजी से गिर जाते है। इससे ऋतुस्राव उत्पन्न हो जाता है। यदि कोई अडा संसेचित हो जाता है, तो कार्पस ल्युटियम सगर्भावस्था के अधिकाश समय तक रहती है और सामान्य आर्तव-चक्रो को रोक देती है। इसमे कभी-कभी अपवाद भी होता रहता है। सगर्भावस्था के वाद की अवस्थाओ मे कार्पस ल्युटियम का अपकर्प आरम्भ हो जाने के वाद गर्भनाल ऐस्ट्रोजेन और प्रोजस्टेरोन स्रवित करती है। इस वीच मे ऐस्ट्रोजेन और प्रोजेस्टेरोन दुग्ध-ग्रन्थियो के विकास को उद्दीपित करते रहते है।

सगर्भावस्था अपनी पूर्ण अवधि पर आ जाती है, तो ऐस्ट्रोजन और प्रोजेस्टेरोन के स्तर तेजी से गिरते है और प्रसूति आरम्भ हो जाती है। प्रसव के वाद, पीयूपिका का दुग्धजनक हारमोन दुग्ध-उत्पादन को उद्दीपित करता है।

यह भी सम्भव है कि रजोनिवृत्ति ऐस्ट्रोजेन और प्रोजेस्टेरोन के स्तर मे एक और तीव्र अवघात के कारण होती है।

अध्याय 12

आहार-पुष्टि

पोषको के हर महत्त्वपूर्ण समूह को उसका उचित स्थान और अनुपात प्रदान करना अच्छे आहार की रचना का एक सतोषजनक आधार है। हम पोषको के छ: महत्त्वपूर्ण वर्गो को मान्यता देते है—शर्करावर्गीय या कार्बोहाइड्रेट, वसाए या चर्बिया, प्रोटीन, जल, खनिज और विटामिन। ध्यान मे रखने की बात यह भी है कि आहार कितनी कैलोरी ऊर्जा प्रदान करेगा।

शर्करावर्गीय या कार्बोहाइड्रेट—माड या स्टार्च तथा शर्कराए कार्बोहाइड्रेटो के अच्छे उदाहरण है। हमारे आहार का अधिकाश इन्ही का होता है और ऐसा होना चाहिए भी। कार्बोहाइड्रेट वसाओ या प्रोटीनो की अपेक्षा ज्यादा आसानी और जल्दी से पच जाते है और ये ऊर्जा के हमारे मुख्य स्रोत है। भार के समय सबसे पहले देह की उपलभ्य कार्बोहाइड्रेट राशि (जो कदाचित् ही अधिक होती है) ही काम मे आती है और कम हो जाती है। यद्यपि स्वास्थ्य की दृष्टि से विचार करते समय हमारे सामने पहले दूसरी बाते ही आती है, तथापि इस बात की उपेक्षा नही करनी चाहिए कि कार्बोहाइड्रेट-प्रचुर भोज्य पदार्थ सामान्यत: प्रोटीन या वसा-प्रचुर भोज्य पदार्थो से सस्ते होते है। इसलिए अन्य पोषको की अपेक्षा अधिक कार्बोहाइड्रेट खाना कई दृष्टियो से अच्छा है।

अनाज (मक्का, गेहूं, चावल आदि) और उनसे प्राप्त वस्तुए (रोटी आदि) तथा आलू-जैसे शाक और केला-जैसे फल भी मड के अच्छे स्रोत है। शर्कराए विशेषकर फलो, बेरियो, चुकंदर तथा कुछ अन्य शाको मे, स्वयं इक्षुशर्करा (गन्ने की चीनी) तथा मिठाइयो मे प्राप्त होती है।

वसाएं—कार्बोहाइड्रेटो की अपेक्षा वसाए ऊर्जा की उत्तमतर स्रोत है (समान भार की वसा कार्बोहाइड्रेट से दो गुनी ऊर्जा उपलब्ध करती है), लेकिन अन्य खाद्य पदार्थो के मुकाबले ये अधिक धीरे और मुश्किल से पचती है। भोजन मे वसा की अत्यधिकता अन्य खाद्य पदार्थो पर आलेपित होकर उनके पाचन को धीमा कर सकती है। इसके अलावा वसा जठरीय चरता तथा स्राव को तो विशिष्ट रूप से अवरुद्ध कर देती है।

लेकिन ऊर्जा के गौण स्रोतो के रूप मे वसाए अत्यावश्यक है और भावी उपयोग के लिए देह के कई प्रदेशो मे संग्रहीत की जा सकती है। किसी हद तक वसाएं या सबंधित पदार्थ कोशिक्य तथा दैहिक ढाचे के अंगो के रूप मे भी आवश्यक है। कुछेक विटामिनो (वसा-विलेय समूह) की वाहक होने के नाते वसाए महत्त्वपूर्ण है।

डेरी-उत्पाद (मक्खन, दूध आदि) वसा-प्रचुर होते है। वसा की कुछ मात्रा

शाको तथा जातव खाद्यो (मास, पोल्ट्री या कुक्कुट, मछली, चर्बी आदि) से
हो सकती है। गिरीदार फल या काष्ठफल भी वसा के अच्छे स्रोत है।

प्रोटीन—ईंधन-पदार्थों के रूप मे सामान्यतः आवश्यक न होने
प्रोटीन—उपचित या आक्सीकृत किये जाने पर—कार्वोहाइड्रेटों जितनी ह
विमुक्त करते है। जीवद्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) का निर्माण करनेवाले द्रव्य
ऊतको की वृद्धि तथा मरम्मत के लिए ये आधारभूत महत्त्व के है।

इस दृष्टि से खाद्यो मे मौजूद सभी प्रोटीन देह के लिए समान मूल्य
समान विशेषता के नही होते। प्रोटीनों मे मूल्य का अन्तर उन ऐमीनो अम्ल
निर्भर करता है, जिनसे मिलकर वे बनते है। यद्यपि ऐमीनो अम्लो की
केवल बीस के ही लगभग है, किन्तु उनसे अनगिनत प्रकार के प्रोटीन बन
है। कुछ प्रोटीनों के निर्माण मे सभी ज्ञात ऐमीनो अम्ल सम्मिलित है, त
मे सब नही भी है किन्तु समान प्रकार के ही ऐमीनो अम्लो से बने दो प्रोटी
अपने मे समाविष्ट हर ऐमीनो अम्ल की मात्रा और ऐमीनो अम्ल-समू
विन्यास के कारण एक-दूसरे से बहुत-बहुत भिन्न हो सकते है।

पोषण की दृष्टि से भोजन मे किसी प्रोटीन का मूल्य इससे निर्धारित
जाता है कि उसमे विभिन्न ऐमीनो अम्लो की सख्या कितनी है और विशे
कौन से ऐमीनो अम्ल उसमे है। प्रयोगो से ज्ञात हुआ है कि ऊतक की वृद्धि
मरम्मत के लिए भोजन मे नौ या दस ऐमीनो अम्लो का होना आवश्यक है
तात्त्विक ऐमीनो अम्ल कहलाते है, जो देह मे संश्लेषित नही हो सकते।
सभी ऐमीनो अम्ल देह की कोशिकाओ द्वारा बनाये जा सकते है।

आहारीय प्रयोजनो के लिए प्रोटीनो का वर्गीकरण उनके तात्त्विक ऐमी
अम्ल के अंश के अनुसार किया जाता है। जिन प्रोटीनों मे तात्त्विक ऐमीनो अ
मौजूद होते है, वे सपूर्ण प्रोटीन कहलाते है, और जिनमे वे नही होते, वे अपू
प्रोटीन कहलाते है। इस वर्गीकरण को अपनी कसौटी मानते हुए वैज्ञानिक
दिखा सके है कि दूध तथा अडे प्रोटीनो के सर्वोत्तम स्रोत है। इससे हमे तुरन्त
यह समझ लेना चाहिए कि आहार की दृष्टि ये दोनो सबसे ज्यादा ठीक रहें
क्योकि अडो का भोज्य-द्रव्य इनके फूटने के समय तक भ्रूणो के पोषण
स्रोत रहता है और दूध का भोज्य-द्रव्य स्तनधारियो के शिशुओ के जन्म के बा
उनका तात्कालिक आहार है।

जिगर, गोश्त तथा मछली जैसे अन्य जातव प्रोटीन इसके बाद सबसे मूल्य
वान् प्रोटीन है और इनके बाद वनस्पति-प्रोटीन आते है। यद्यपि वनस्पति-प्रोटीनो
का उल्लेख अन्त मे किया गया है, तथापि शाको को प्रोटीनो का कोई सामान्य
स्रोत नही समझना चाहिए। शाकाहारी भोजन द्वारा भी यथेष्ट प्रोटीन प्राप्त
किये जा सकते है, लेकिन तब तात्त्विक ऐमीनो अम्लो की आवश्यक मात्रा प्रदान
करने के लिए इन प्रोटीनों को अधिक मात्रा और प्रकारो मे खाया जाना चाहिए।

ऊतक-निर्माताओ के रूप मे मूल्यवान् होने के अलावा प्रोटीन इसलिए भी

महत्त्वपूर्ण है कि अनेक प्रकिण्व तथा हारमोन सपूर्णत: या अशत: इन्ही से बने है।

जल—देहीय अर्थतन्त्र मे जल के महत्त्व पर जोर देना अनावश्यक है। यह केवल इसी दृष्टि से देह का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण रासायनिक संरचक नही है कि देह मे इसकी कितनी मात्रा उपस्थित है, वरन् यह उन सक्रियताओ की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है, जिनमे कि यह भाग लेता है और जो इसके कारण होती है।

अन्य आहार-सचरको का अंतर्ग्रहण न बना रहने पर भी तरल-अन्तर्ग्रहण बनाये रखना चाहिए, क्योकि देह भोजन के अभाव को झेलने की अपेक्षा निर्जलीकरण को बहुत कम झेल सकती है।

खनिज—अच्छे स्वास्थ्य के लिए कई खनिज उपयोगी तथा आवश्यक है। उनमे से अधिकाश बहुत कम मात्राओ मे ही आवश्यक है और औसत दैनिक आहार से प्रचुरता मे मिल जाते है। लेकिन उनमे से कुछ की ओर अधिक ध्यान दिया जाना जरूरी है।

जैसा कि हम जानते है, सोडियम, पोटासियम तथा कैल्सियम सामान्यरूप से देहीय कोशिकाओ के लिए उपयुक्त पर्यावरण बनाये रखने के लिए उचित अनुपातो मे आवश्यक है और पेशियो तथा तन्त्रिकाओ की उत्तेजनशीलता बनाये रखने के लिए विशेप रूप से महत्त्वपूर्ण है।

'क्लोरीन' वह खनिज है जिसका रुधिर तथा देहीय तरलो के लिए आवश्यक लवण बनाने के लिए सोडियम, पोटासियम तथा कैल्सियम के साथ सर्वाधिक सयोग कराया जाता है। यह जठरीय रस मे के हाइड्रोक्लोरिक अम्ल का भी एक सरचक है।

'कैल्सियम' के कुछ अपने विशेप कार्य है, जो इसे और भी महत्त्वपूर्ण बना देते है। यह हड्डी का आवश्यक तत्त्व है। और इस तरह उसकी वृद्धि के लिए अत्यन्त आवश्यक है। यह रुधिर के आतचन के लिए, रैनिन द्वारा दूध के आतंचन के लिए और हृदय की धड़कन के लिए भी आवश्यक है। चूकि अधिकतर भोजनो मे यह थोड़ी मात्रा मे ही होता है, इसलिए आहार मे इसकी न्यूनतम दैनिक मात्रा लेने का ध्यान रखना चाहिए। बढते हुए बच्चों के लिए यह विशेष रूप से आवश्यक है, लेकिन यह हम सभी के लिए ध्यान देने की बात है। दूध कैल्सियस का सभवत. सबसे अच्छा स्रोत है। पनीर तथा अनेक प्रकार के हरे शाक तथा सब्जिया इसके अन्य अच्छे स्रोत है।

'लोहा' एक और बहुत महत्त्वपूर्ण खनिज है, जिसकी ओर हमारा विशेप ध्यान जाना चाहिए। लोहे की उचित मात्रा न होने पर हीमोग्लोबिन तथा कई प्रकिण्व नही बन पायेगे। जिगर, शुक्ति या कस्तूरा, हरी सब्जिया, गुर्दे, अडे, आलू और मास लोहे के अच्छे स्रोत है।

'फास्फोरस' हड्डी का महत्त्वपूर्ण सरचक है। उपापचयन के कई पहलुओ के लिए फास्फेट आवश्यक है। गेहू, दूध, मास, फलियाँ तथा गिरीदार फलों-जैसे खाद्य फास्फोरस-प्रचुर है।

'गंधक' कुछ ऐमीनो अम्लों तथा प्रकिण्वो का महत्त्वपूर्ण सरचक है। यह प्राय: प्रोटीनों द्वारा अन्तर्ग्रहीत होता है, जिसका यह एक अंग है। आयोडीन अवटु हारमोन की उत्पत्ति के लिए आवश्यक है। जिन प्रदेशो की मिट्टी और जल मे आयोडीन की पर्याप्त मात्रा होती है, वहा यह सामान्य आहार मे ही यथेष्ट मात्रा मे मिल जायेगा। अन्यथा आयोडीकृत नमक का उपयोग करना चाहिए। तावा की हीमोग्लोविन के निर्माण मे वहुत ही थोड़ी मात्रा में आवश्यकता होती है। इसकी आहारीय उपलब्धि लगभग सदा ही पर्याप्त रहती है। मैग्नीशियम, मैगनीज और मोलीब्डीनम तथा कोवाल्ट भी आहार मे होने चाहिएं, लेकिन लेशमात्र ही।

विटामिन—सन् 1890 से हम विटामिनों के नाम से विख्यात सहायक आहार-पदार्थो के वारे में ज्ञान संचित करते रहे है। एक से आरंभ करके हम अव कई विटामिनो से परिचित हो चुके है। आहार मे लंवी अवधि तक विटामिनो की अनुपस्थिति या अत्यधिक कमी त्रुटिजन्य रोग उत्पन्न कर सकती है। 'वेरी-वेरी', 'स्कर्वी' और 'पैलाग्रा'-जैसे इनमे से कई रोगो के वारे मे मनुष्य को विटामिनो की खोज के पहले ही पता था।

कई दृष्टातों मे हम विटामिनो के क्रिया-प्रक्रमो का ज्ञान प्राप्त कर रहे है। कम-से-कम कुछ विटामिन देह के भीतर तात्त्विक प्रकिण्व-तन्त्रों के भागो की तरह कार्य करते प्रतीत होते है। विटामिनो की रासायनिक संरचना तथा क्रियाकलाप के वारे मे हम काफी-कुछ जान चुके है और उनमे से कई को मणिभीकृत तथा संश्लेपित भी कर चुके है, जिससे वे अव शुद्ध पदार्थो के रूप मे उपलव्व है।

यह तथ्य कि विटामिनों की अत्यत अल्प मात्राओ मे ही आवश्यकता पड़ती है, सभवत: इस वात का आभासात्मक प्रमाण है कि वे देह मे उत्प्रेरको का काम करते है। अधिकाश विटामिन खाद्यो मे खासी प्रचुरता में वर्त्तमान हैं और संतुलित आहार से उनकी पर्याप्त मात्रा की प्रदाय सुनिश्चित हो जाती है। (यह सच है कि 'अच्छी' खुराक मे भी 'वी' विटामिनो की न्यूनता हो सकती है)। आहार मे आज सवसे वड़ी आवश्यकता इस वात को ध्यान मे रखने की है कि प्रत्येक व्यक्ति को पर्याप्त और संतुलित भोजन मिले। यदि—आर्थिक कारणो या शिक्षा की कमी के कारण अच्छा भोजन नही मिलता, तो त्रुटिजन्य रोग पैदा हो जाते है।

वसा-विलेय विटामिन

विटामिन 'ए'—पीली सब्जिया (गाजर, शकरकंद, आदि), कुछ हरी सब्जिया, मक्खन, पनीर तथा क्रीम विटामिन 'ए' के वढिया स्रोत है। इस विटा-मिन का अभाव रतौंधी, सक्रमणो के प्रति अत्यधिक वर्धित ग्रहणशीलता, वजन न वढना, उपकला-सतहो के मोटा हो जाने से अश्रु तथा त्वचा-ग्रंथियो के स्रोतो का सूख जाना तथा, संभवत', तंत्रिका-तन्त्र मे अपकर्षी परिवर्तन उत्पन्न कर सकता है।

दृष्टिपटल की शलाकाओं का दृष्टि-नीललोहित प्रकाश द्वारा विरंजित होकर दृष्टिपीत नामक एक अन्य पदार्थ मे परिवर्तित हो जाता है। विटामिन 'ए' दृष्टि-पीत का एक अभिन्न अग है। इस विटामिन की न्यूनता दृष्टि-नीललोहित के पुनर्नियोजन मे, और फलत. धीमे प्रकाश मे देखने की क्षमता मे, बाधक होगी। विटामिन 'ए' के अभाव से उत्पन्न संक्रमण अधिकतर आखो तक ही सीमित रहते है, और यदि उपचार न किया गया, तो अन्धता उत्पन्न कर सकते है।

विटामिन 'डी'—विटामिन 'डी' की अनुपस्थिति या अत्यधिक न्यूनता से सूखा रोग तथा दंत-क्षय हो जाता है। विटामिन 'डी' हड्डी के उचित कैल्सीकरण के लिए आवश्यक है। इसकी अनुपस्थिति मे हड्डियां नरम, कमजोर और विरूपित हो जाती है। उदाहरणार्थ, सूखा रोग मे हड्डिया देह का भार समुचित रूप से वहन करने मे असमर्थ हो जाती है और मुड़ने लगती है।

अधिकतर अन्य विटामिनो के विपरीत विटामिन 'डी' का वितरण बहुत व्यापक नही है। इसके सबसे अच्छे स्रोत मछली के जिगर के तेल विशेष रूप से हेलिबिट मछली और कॉड मछली के जिगर के तेल, कुछ मछलिया, मास तथा अडे हैं। तथापि यह विटामिन त्वचा मे एक वसा-जैसे द्रव्य की पराबैंगनी किरणो द्वारा किरणीयन से निर्मित होता है। इसलिए देह का सूर्य की किरणो को अपा-वरण करने से विटामिन 'डी' का निर्माण और आवश्यकता पड़ने पर उपयोग मे लाने के लिए सचय सभव हो जाता है। शीतकाल मे, जब कुछ जगहो पर धूप अपेक्षाकृत कम होती है, तब शिशुओ और बढते हुए बच्चों के आहार की विटामिन 'डी' के किसी अच्छे स्रोत द्वारा अनुपूर्त्ति करना विशेषकर महत्त्वपूर्ण है।

विटामिन 'ई'—विटामिन 'ई' 'अनुर्वरता-विरोधी' विटामिन है। इसकी अनुपस्थिति चूहों मे अनुर्वरता उत्पन्न कर देती है और कुछ अन्य स्तनधारियो मे इसका देना प्रसवशक्ति को बढाता प्रतीत होता है। इस विटामिन की न्यूनता के कारण पुरुषो मे कोई दोष उत्पन्न होता है—इस बात का कोई निर्णायक प्रमाण नही मिला है और न ही यह मानविक अनुर्वरता को ठीक करने मे प्रभाव-शाली पाया गया है। यह उचित पेशीय कार्य के लिए आवश्यक हो सकता है। यह हरे शाको (सलाद, मटर इत्यादि) तथा गेहूं के अंकुर-तैल मे खासकर पाया जाता है।

विटामिन 'के'—विटामिन 'के' की अनुपस्थिति रुधिर के आतंचन-काल को लंबा कर देती है। इसकी अनुपस्थिति मे रुधिर का स्राव भी आसानी से होने लगता है। यकृत् द्वारा पूर्वथ्रंबिन के निर्माण के समय विटामिन 'के' आवश्यक है। पूर्वथ्रंबिन रुधिर के आतचन के लिए एक आवश्यक पदार्थ है। नवजात शिशुओ मे विटामिन 'के' का सान्द्रण नीचा होता है। नवजात शिशुओ मे रुधिर-स्राव के कई मामलो की व्याख्या इसी तथ्य से की जा सकी है। आजकल आमतौर से माताओ को सगर्भावस्था के उत्तरार्ध मे विटामिन 'के' के इंजेक्शन दिए जाते है, ताकि गर्भ मे इसका यथेष्ट ऊंचा सान्द्रण सुनिश्चित किया जा सके।

'रुधिर-स्राव-प्रतिकारक' या आतचन-विटामिन विटामिन 'के' विशेपकर हरे शाकों की पत्तियो मे पाया जाता है।

जल-विलेय विटामिन

विटामिन 'बी'—ऐसे कई यौगिक पृथक् किए गए है, जिनमें यद्यपि निकट रासायनिक सबध नही है, पर यह सामान्यता है कि वे खाद्यो में काफी व्यापकता से वितरित है (लेकिन बड़ी मात्राओ मे नही) और वे विभिन्न जीवों मे प्रकिण्व-तंत्रो के महत्त्वपूर्ण सदस्यो की तरह कार्य करते है। 'बी' वर्ग के सभी विटामिन तो मनुष्य के लिए आहारीय दृष्टि से आवश्यक सिद्ध नही हुए है, लेकिन उनमे से यदि सब नही, तो सभवत· अधिकाश मानव-उपापचयन में महत्त्वपूर्ण है।

थायामिन या विटामिन 'बी$_1$' की अनुपस्थिति से बेरी-बेरी रोग हो जाता है। थायामिन की अत्यधिक न्यूनता से परिणाह-तंत्रिकाओ का प्रगामी पक्षाघात, पेशीय असमन्वय, केन्द्रीय तन्त्रिका-तन्त्र के भागो का अपकर्ष, हृदय-नि.शक्तता तथा जलशोथ आदि पैदा हो सकते है। यदि उपचार न किया जाये, तो स्थिति घातक हो जाती है। पूर्वी देशो मे, जहा पालिशदार चावल ही लोगो का मुख्य खाद्य है, ये रोग प्राय होते है (थायामिन चावल की पालिश मे तो होती है, पर स्वय चावल के दाने मे नही होती)। थायामिन-न्यूनता के साथ-साथ भूख जाती रहने और पाचन के खराब होने की शिकायते भी हो जाती है, जिनसे वृद्धि रुक सकती है। थायामिन की सामान्य न्यूनता से अधीरता और चिड़चिड़ापन पैदा हो सकता है। चर्बीहीन मास, मटर, फलियां, अनाज और खमीर इस विटामिन के सर्वोत्तम स्रोत है।

नियासिन या निकोटिनिक अम्ल की अत्यधिक न्यूनता पैलाग्रा रोग उत्पन्न करती है। इसके लक्षण है—त्वचा-विकार, पाचन मे गड़बड़ी, तन्त्रिका-ऊतक का अपकर्प, तथा मानसिक विपथन। इससे उन्माद या मृत्यु तक हो सकती है। नियासिन जिगर, चर्बीहीन मांस, दूध, खमीर, अंडे और हरे शाको मे प्रचुर होता है। 'पैलाग्रा' रोग यूरोप की गरीब जनता और अमरीका के दक्षिणी भागो मे, जहा भोजन मे उपर्युक्त खाद्यो की कमी रहती है, बहुत आम है।

रिबोफ्लेविन या विटामिन 'बी$_2$' जिगर, अडे, पत्तेवाले शाको, खमीर, फलो और दूध मे विशेपकर पाया जाता है। इसकी कमी त्वचा, आखो और श्लैष्मिक झिल्लियो मे विकार उत्पन्न कर सकती है।

इन विटामिनो के अतिरिक्त और आगे की खोज से 'समग्र' 'बी' विटामिन मे पेंटोथेनिक अम्ल, पिरिडॉक्सिन और अभी हाल मे आविष्कृत फोलिक अम्ल और विटामिन 'बी$_{12}$' आदि अन्य तत्त्वो का पता चला है। इनके अधिकाश कार्यों के बारे में सरलता से समझ मे आनेवाले ढंग से बताना कठिन है, तथापि यह बतलाया जा सकता है कि फोलिक अम्ल और 'बी$_{12}$' अनेक प्रकार की रुधिरक्षीणता के उपचार मे बड़े महत्त्वपूर्ण है।

यह संभव है कि सतुलित भोजन मे हमारे लिए ये सभी विटामिन यथेष्ट मात्रा मे होते हो, लेकिन इस बात की पुष्टि इन विटामिनो के विशिष्ट कार्यो पर अधिक प्रयोग करने और आहारीय आवश्यकताओ के और अधिक अध्ययन से ही की जा सकती है।

विटामिन 'सी'—स्कर्वी विटामिन 'सी' या एस्कोर्बिक अम्ल की कमी से उत्पन्न त्रुटिजन्य रोग है। पहले यह लबी समुद्र-यात्राओ के दौरान या इसी प्रकार की उन परिस्थितियो मे पैदा होता था, जिनमे लोगो को ताजे फल और शाक नही मिलते थे। विटामिन 'सी' विशेपकर ताजी सब्जियो (अधिकाशतया हरी सब्जियो मे,) नीबू-जाति के फलो, जैसे नारगी, अगूर, नीबू और टमाटर मे खासकर पाया जाता है।

स्कर्वी रोग के लक्षरण श्लैष्मिक झिल्लियो, अधस्त्वक ऊतको और पेशियो (मसूढे विशेप तौर के प्रभावित होते है) मे रुधिर-स्राव तथा हड्डियो और जोडों मे पीडा, कमजोरी और क्षीणता है। विटामिन 'सी' केशिकाओ की भित्तियो को सामान्य अवस्था मे कायम रखने के लिए आवश्यक है। इसकी अनुपस्थिति मे वे भंगुर हो जाती है और आसानी से फट जाती है।

सतुलित आहार—आपके दैनिक भोजन से पर्याप्त ऊष्माक या कैलोरी प्राप्त होना बहुत महत्त्वपूर्ण है। आपको अपनी जीवनचर्या के अनुसार शक्ति देने-वाला यथेष्ट भोजन करना चाहिए। इन संबध मे यह एक महत्त्वपूर्ण बात है कि प्रोटीनो को शक्ति उत्पन्न करनेवाले खाद्य पदार्थो की तरह इस्तेमाल करके बरबाद न किया जाये। कार्बोहाइड्रेट और चर्बिया ईधन के रूप मे अधिक प्रयुक्त हो जाती है और यदि भोजन मे वे उचित मात्रा मे उपस्थित है, तो प्रोटीन अपने विशेप कार्य के लिए बच जाते है। तीनो मुख्य आहारो के अनुपातो को निर्धारित करना बहुत कठिन है, क्योकि उनकी मात्रा हर व्यक्ति की विशेप परिस्थितियो के अनुसार भिन्न-भिन्न होनी चाहिए। साधारण कार्य करनेवाले आदमी के औसत आहार की 60 प्रतिशत कैलोरी कार्बोहाइड्रेटो से प्राप्त होनी चाहिए, 25 प्रतिशत वसा से और 15 प्रतिशत प्रोटीन से। इस अनुपात से ईधन और निर्माण दोनो की ही आवश्यकता पूरी हो जानी चाहिए।

यदि निम्नलिखित आहार-वर्गो के प्रतिनिधि आपके दैनिक भोजन मे शामिल रहे, तो आपको संतुलित आहार मिलना सुनिश्चित हो जायेगा : दूध, जल या किसी और रूप मे तरल पदार्थ, अडे, हरी सब्जिया, मछली, पनीर, फलिया, आलू, सपूर्ण अनाज की बनी वस्तुए, फल (विशेषकर नीबू जाति के), मक्खन तथा अन्य वसाए।

इस प्रकार के आहार का उपयोग देह को आवश्यक खनिज, विटामिन तथा पर्याप्त कैलोरी ऊर्जा प्रदान करेगा और अदल-बदल की भी गुजाइश रहेगी। इन वर्गो मे न आनेवाली अन्य वस्तुए भी शामिल की जा सकती है। लेकिन वे वैकल्पिक भोज्य पदार्थो की तरह, न कि किसी मूलभूत वर्ग की कीमत पर—

सम्मिलित की जानी चाहिए ।

आहारों में अन्तर—संसार मे इतने प्रकार के भोजन हैं कि हर व्यक्ति के लिए सन्तुलित भोजन नियोजित किया जा सकता है, यहा तक कि अजीब पसंद-वाले व्यक्तियो के लिए भी ।

कभी-कभी स्वाद पर ही ध्यान देना ठीक नही होता । उदाहरण के लिए, यह बिलकुल स्पष्ट बात है कि बौद्धिक कार्य करनेवालो की अपेक्षा शारीरिक श्रम करनेवालों को अधिक कैलोरियों की आवश्यकता पड़ती है । श्रम करनेवालों को अधिक प्रोटीनों की भी आवश्यकता पड़ेगी, क्योकि अधिक जोर के कारण ऊतकों का अधिक विनाश भी होगा और उनके बदले जाने की जरूरत होगी ।

गर्भवती स्त्रियो को अतिरिक्त कैल्सियम और लोहे की आवश्यकता पड़ती है, शिशुओ के आहार के विटामिन 'डी' अंश की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए ।

बहुतेरी अवस्थाओं के लिए एक 'सबसे अच्छा' आहार होता है और विभिन्न रोगों के लिए अलग-अलग पथ्य सुझाए जाते है । इस तरह के सुझाव देने का काम चिकित्सक के ऊपर छोड देना चाहिए और उनका स्व-निर्धारण नही करना चाहिए । 'वजन कम करनेवाले' भोजनों के बारे में यह बात विशेष रूप से सत्य है । 'रामबाण' तरीकों या 'अधपेट' खाने का आसरा लिये बिना और कुछ सार-भूत भोजनों का त्याग किये बिना भी वजन कम करने के कई अच्छे तरीके है । किसी भी हालत मे बीमारी का खतरा मोल लेने के बजाय समझदारी से काम लेना और किसी विश्वसनीय डाक्टर की राय लेना कही ज्यादा अच्छा है ।

अध्याय 13

उपापचयन तथा वृद्धि

ब्रह्माड की समस्त ऊर्जा अचर रहती है। न तो किसी क्षण इसमे कोई वृद्धि होती है और न इसमे से कुछ कमी ही की जाती है। क्या फिर भी आपको यह आश्चर्य नही होता कि 'सक्रियता' कैसे चलती रहती है? यदि आप ऊर्जा के बारे मे 'काम करने की क्षमता' के अर्थो मे सोचे, तो आप देखेगे कि इस स्थिति से जरा भी गत्यवरोध नही आना चाहिए। उपस्थित ऊर्जा कई अलग-अलग तरीको से कार्य कर सकती है और क्योकि यह नष्ट नही कि जा सकती, इसलिए यह सदैव अधिक कार्य का एक संभाव्य स्रोत बनी रहती है, यद्यपि काम की प्रकृति भिन्न हो सकती है। ऊर्जा सतत एक रूप से दूसरे रूप मे रूपातरित होती रहती है—रासायनिक से यान्त्रिक, यान्त्रिक से वैद्युत और इसी प्रकार से अन्य रूपो मे भी। और ये सारे स्वरूप प्राग्भावी ऊर्जा से ही आने चाहिए।

ये ऊर्जा-सम्बन्ध सजीव तथा निर्जीव—सभी वस्तुओ पर लागू होते है। उदाहरण के लिए, हम जानते है कि हमारी ऊर्जा का स्रोत हमारे द्वारा खाया जानेवाला भोजन है, जो अपनी बारी मे अपनी ऊर्जा प्रत्यक्षत: या परोक्षत: सूर्य से प्राप्त करता है। उचित रासायनिक क्रिया इस खाद्य-ऊर्जा को ऐसे स्वरूपो मे परिवर्तित कर देती है जिससे कि वह हमारी देह की कोशिकाओ को उपलब्ध हो जाती है।

उपापचयन और देहीय ऊर्जा

हर कोशिका एक 'प्रयोगशाला' है, जो भोजन को उससे लघुतर तथा सरल-तर पदार्थो मे खडित करके ऊर्जा मुक्त कराने के लिए आवश्यक 'साज-सामान' से लैस रहती है। इस प्रकार उन्मुक्त रासायनिक उर्जा उन सभी अन्य स्वरूपो मे रूपातरित हो जाती है कि जिनमे यह अपने को अपनी सजीव क्रियाशीलताओ मे अभिव्यक्त करती है और सजीव द्रव्य के जटिल जीव-द्रव्य (प्रोटोप्लाज्म) की उत्पत्ति मे भी उपयुक्त हो जाती है। इस प्रकार चयापचयन या उपापचयन रासाय-निक अभिक्रियाओ का समष्टिक है, जो खडित होती और उर्जा उन्मुक्त करती है और जो गठित होती और ऊर्जा को सचित करती है। प्रथमोक्त को 'अपचय' और अतोक्त को 'चय का उपचय' कहते है।

ऊर्जा का निम्नतम स्वरूप ऊष्मा है। ऊर्जा के अन्य सभी स्वरूप ऊष्मा मे रूपातरित किए जा सकते है, किन्तु ऊष्मा—जहा तक हमे मालूम है—का अन्य स्वरूपो मे पुन: रूपातरण नही किया जा सकता। हम ऊष्मा का उपयोग कर सकते है, किन्तु इसे अन्य किसी चीज मे नही बदल सकते।

पहले-पहल अठारहवी सदी के अन्त मे इस बात का पहली बार ज्ञान हुआ कि देह द्वारा दी जानेवाली ऊष्मा देह के भीतर ऑक्सीजन की उपस्थिति में पदार्थों के दहन का परिणाम है। यह देखा गया है कि एक जलती मोमबत्ती और जंतु-देह मे आधारभूत अनुक्रियाए समान ही हैं। प्रत्येक कार्बन यौगिको के प्रज्वलन मे ऑक्सीजन का उपयोग करती है, जिसके फलस्वरूप कार्बन डाई-ऑक्साइड, पानी तथा ऊष्मा की उन्मुक्ति होती है।

उन्नीसवी सदी के दौरान वैज्ञानिको ने इसका मात्रात्मक प्रमाण एकत्र किया कि जन्तु-देह किसी-न-किसी प्रकार उतनी ही ऊर्जा उन्मुक्त करती है, जितनी कि वह भोजन के रूप मे ग्रहण करती है।

न्यूनतम चयापचय-गति

सम्पूर्ण ऊष्मा-उत्पादन को सम्पूर्ण उपापचयन या सम्पूर्ण चयापचयन का सूचक मान लिया जाता है। एक ही व्यक्ति मे अलग-अलग समयों पर शीघ्रता-पूर्वक और सरलतापूर्वक न मापी जा सकनेवाली परिस्थितियो के कारण इसमें इतना भेद हो सकता है कि इससे हमे उसके उपापचयन की अवस्था का कोई स्पष्ट आभास नही मिल पाता। इस कारण व्यक्ति की न्यूनतम चयापचय-गति (न्यूनतम उपापचय-गति) या न्यू० च० ग० की परीक्षा करना आवश्यक है।

न्यूनतम चयापचय-गति किसी व्यक्ति का ऐसी मानक परिस्थतियों मे, जो उसकी सक्रियता न्यूनतम कर देती है, ऊष्मा-उत्पादन है। माप का सामान्य ढंग एक निश्चित अवधि के भीतर ऑक्सीजन का उपयोग है। व्यक्ति की प्रातःकाल, जबकि उसने रात के भोजन के बाद कुछ नही खाया है, और पिछले चौबीस घंटों मे कोई कठिन श्रम नही किया है, और परीक्षा से पहले कमरे मे सुविधाजनक ताप मे आधा घंटा विश्राम कर चुका है, परीक्षा की जाती है। इस प्रकार यथा-सम्भव पूर्ण पेशीय तथा मानसिक विश्राम और पाचन प्रशांति प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। अब देह द्वारा उत्पन्न तनिक भी ऊर्जा कोशिकाओ की न्यूनतम उपापचय-प्रक्रियाओं और अंगो की जीवन के लिए आवश्यक क्रियाओ के कारण ही होगी।

एक भारी-भरकम व्यक्ति से हम अधिक ऊष्मा उत्पन्न करने की अपेक्षा करेंगे और छोटे-हलके आदमी से कम। वास्तव मे ऐसा ही होता है। लेकिन जब हम प्रति इकाई-भार के हिसाब से ऊष्मा-उत्पादन का आकलन करते है, तो हमे पता चलता है कि भारी व्यक्ति हलके व्यक्ति की अपेक्षा कम ऊष्मा उत्पन्न करता है। तथापि देह की सतह में प्रति इकाई-क्षेत्रफल के हिसाब से आकलन करने पर हमे जो सख्या प्राप्त होती है, वह सभी व्यक्तियों के लिए आश्चर्यजनक रूप से अचर है।

चयापचय-गति पर प्रभाव डालनेवाले कारक

न्यूनतम चयापचय गति या न्यू० च० ग०—न्यूनतम चयापचय-गति पर

ग्रनेको कारको का प्रभाव पडता है । ग्रायु के साथ-साथ यह उत्तरोत्तर कम होती जाती है । पुरुपो की ग्रपेक्षा स्त्रियो मे यह कुछ कम होती है । कुछ पूर्वी देशो के निवासियो की गति पश्चिमवासियो से कम होती है । लेकिन जातीय भिन्नताएं ग्रलग-ग्रलग होती है । उदाहरण के लिए, गोरी जातियो की ग्रपेक्षा एस्किमो जाति की चयापचय-गति ऊंची होती है । कठिन शारीरिक श्रम करनेवाले व्यक्तियो की चयापचय-गति ग्राराम का जीवन व्यतीत करनेवालो की ग्रपेक्षा प्राय. ऊची होती है । सगर्भा स्त्रियो मे गर्भ-स्थिति के छ -या-सात माह के वाद इसमे वृद्धि देखी जाती है । इस समय गर्भ का भार माता के भार मे काफी वृद्धि कर देता है ग्रौर न्यूनतम चयापचय-गति मे माता तथा गर्भ दोनो की गतियो का योग होता है ।

कुछ ग्रसामान्य या रोगमूलक ग्रवस्थाग्रो मे न्यूनतम चयापचय-गति कम या ग्रधिक हो जाती है । हीनावटुता या ग्रनशन इसे कम कर देते है । ग्रत्यवटुता ग्रौर बुखार इसे वढा देते है । सामान्य ताप मे प्रत्येक ग्रश की वृद्धि से न्यूनतम चया-पचय गति 5 से 7 प्रतिशत तक वढ जाती है ।

सपूर्ण ऊष्मा-उत्पादन—हमारी ऐसी कोई भी गति, जिसमे थोडा भी पेशीय प्रयास सन्निहित होता है, सम्पूर्ण ऊष्मा-उत्पादन को वढा देती है । साधा-रण श्रम मे यह न्यूनतम-चयापचय-गति को 25 से 60 प्रतिशत तक ऊपर ले जा सकती है । ग्रत्यधिक श्रम से न्यूनतम स्तर मे 1500 प्रतिशत तक की वृद्धि हो सकती है ।

यह एक ग्राश्चर्य की वात है कि मानसिक क्रिया (न्यूनतम चयापचय-गति का लगभग 10 प्रतिशत मस्तिप्क के कारण है) मे लगभग कोई ग्रतिरिक्त ऊष्मा-उत्पादन सन्निहित नही होता । यह कहा जाता है कि 'एक घटे के ग्रत्यधिक मानसिक श्रम के लिए ग्रावश्यक ग्रतिरिक्त कैलोरियो की पूर्ति ग्राधी नमकीन मूगफली खाकर की जा सकती है ।'

निर्विघ्न निद्रा मे किसी भी ग्रन्य समय की ग्रपेक्षा कम ऊष्मा उत्पन्न होती है । इस स्थिति मे ही वास्तविक 'न्यूनतम चयापचय' होता है, क्योकि इस समय पेशिया ग्रधिकतम शिथिलन की ग्रवस्था मे होती है । तथापि हम निद्रा के दौरान ऊष्मा-उत्पादन का एक मानक सूचक के रूप मे उपयोग नही कर सकते, क्योकि निद्रा की गहराई ग्रौर उसके साथ पेशीय शिथिलन मे काफी विभेद ग्राता है ग्रौर उसे इस प्रकार न्यूनतम चयापचय की भाति नियत्रित नही किया जा सकता ।

पर्यावरण-ताप सम्पूर्ण ऊष्मा-उत्पादन को प्रभावित कर सकता है । जव ग्रासपास का ताप काफी नीचे गिर जाता है, तो हम कापने लगते है । कपन मे सन्निहित ग्रनैच्छिक पेशीय कुचन देह के सम्पूर्ण ऊष्मा-उत्पादन को वढा देगा । यदि हवा का ताप देह के ताप से उष्णतर है, तो ऊष्मा-उत्पादन वदल भी सकता है ग्रौर नही भी ।

खाद्यो की विशिष्ट-गतिज क्रिया सम्पूर्ण ऊष्मा-उत्पादन को वढ़ा देती है ।

जब खाद्य खाये जाते हैं, तो यह देखा जाता है कि ऊष्मा-उत्पादन इतना बढ़ जाता है जितना कि उनके ऊष्मा-मूल्य के आधार पर नही हो सकता। यह बात कार्बोहाइड्रेट और वसा की अपेक्षा प्रोटीन के लिए अधिक सत्य है। भोजन के अंतर्ग्रहण के बाद 12 से 18 घंटे तक यह प्रभाव चलता रहता है। यह विश्वास किया जाता है कि खाद्य पदार्थ के उपापचयी विघटन मे उत्पन्न कुछ उत्पाद कोशिकाओं के उपापचयन को प्रत्यक्षत: उद्दीपित कर देते हैं और इसमें कुछ अतिरिक्त ऊष्मा सन्निहित रहती है।

देहीय कोशिकाओं की वृद्धि और प्रजनन

वृद्धि सामान्य उपापचयन का एक स्वाभाविक परिणाम है और लिंग-कोशिका को छोड़कर हरएक कोशिका—चाहे वह अस्थि-कोशिका हो या ग्रन्थि-कोशिका या अन्य कोई भी कोशिका, जो अपने-आप वृद्धि कर सकती है और अपनी पुनरुत्पत्ति कर सकती है,—प्रत्येक परिस्थिति मे जिस प्रक्रिया से ऐसा करती है, वह लगभग एक-सी ही है। जब तक वह उचित पोषक तत्त्व प्राप्त करती रहती है और अन्य कारक इसे एक सामान्यत: कार्य करनेवाली इकाई के रूप मे बनाए रखते है, कोशिका पोषक तत्त्वो को ग्रहण करती रहती है और उन्हें अपने जीवद्रव्य मे परिवर्तित करती रहती है। यह प्रक्रिया इसका बड़ा होना सम्भव कर देती है।

वृद्धि तब तक चलती रहती है कि जब तक एक विशेष क्रांतिक आकार नही प्राप्त हो जाता। कोशिका की वृद्धि ठीक किस कारक से रुक जाती है, यह निश्चित रूप से ज्ञात नही है। इसकी एक संभव व्याख्या यह हो सकती है—वृद्धि मे कोशिका का आयतन उसके सतही क्षेत्रफल की अपेक्षा अधिक तेजी से बढ़ता है। चूकि पोषकों, मलो तथा गैसों का विसरण कोशिका की सतह पर कोशिका-झिल्ली से होकर होता है, इसलिए हो सकता है कि इतना पर्याप्त सतही क्षेत्र न रहे कि जिससे कोशिका-जीवद्रव्य के सबसे भीतरी बिन्दुओ तक और उनके बाहर द्रव्यो का समुचित विसरण हो सके।

कारण चाहे कुछ भी हो, लगता है कि कोशिका के जीवन की यही वह अवस्था है कि जब वह विभाजित होती है और जीव-द्रव्य का आयतन वही रहने के बावजूद दोनो अनुजात कोशिकाओ का सतही क्षेत्रफल मूल कोशिका से अधिक ही रहता है। कोशिकाओं के पुनर्जनन का लाभ यह है कि एक अग, ऊतक आदि को जो काम करना होता है, वह कई इकाइयों मे बंट जाता है।

देहीय कोशिकाएं जिस प्रक्रिया द्वारा विभाजित होती हैं उसे 'समसूत्रण' या 'समविभाजन' कहते है। समसूत्रण मे घटनाओं का एक चित्ताकर्षक क्रम सन्निहित होता है (आकृति 43)। 'नाभिक झिल्ली' या 'केंद्रकावरण' विलुप्त हो जाता है और 'नाभिक' या 'केंद्रक' एक अपेक्षाकृत ठोस गोलक से 'गुणसूत्रों' या
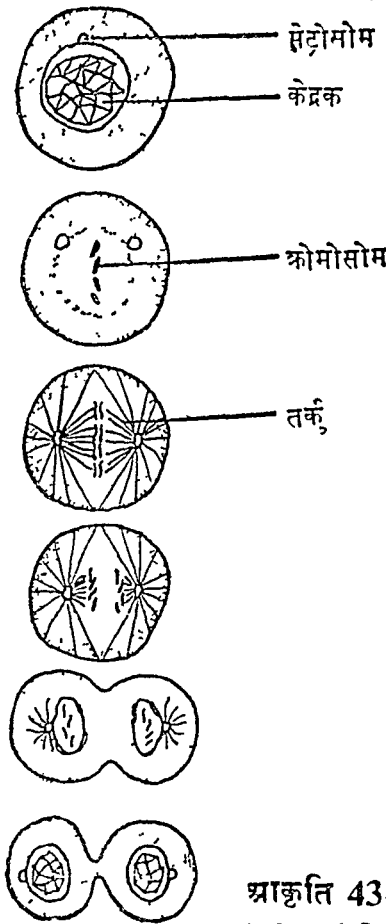
आकृति 43—
देहीय कोशिका
का समसूत्रण

'क्रोमोसोम' नामक कई लघुतर पिंडो मे परिवर्तित हो जाता है। क्रोमोसोम कोशिका के मध्य मे चले जाते है और वहा उनमे से प्रत्येक का दो एकदम समान भागो मे लम्ब विभाजन हो जाता है।

इसी बीच 'सेंट्रोसोम' नामक एक निर्मिति दो समान भागो मे विभक्त हो चुकी होती है। ये दोनो भाग कोशिका के विपरीत ध्रुवो की ओर चले जाते है। अब प्रत्येक भाग से 'रेखाए' विकिरित होती दिखाई देती है, जिससे एक तारे-जैसी व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। प्रत्येक सेंट्रोसोम से ये 'रेखाए' कोशिका के मध्य की ओर आती है और उनके बीच एक तकुआ या 'तर्कु' बन जाता है।

नूतन क्रोमोसोमो मे से प्रत्येक इन 'रेखाओ' पर होकर ध्रुवों की ओर जाता है। ये क्रोमोसोम ध्रुव पर समूहबद्ध हो जाते है और अब प्रत्येक ध्रुव पर उतने ही क्रोमोसोम होते है, जितने कि आरम्भ मे केंद्रक मे थे। प्रत्येक क्रोमोसोम-समूह के आसपास एक केंद्रकावरण बनने लगता है, तर्कु की 'रेखाएं' लुप्त हो

जाती है और कोशिका के विषुवद्वृत्त पर 'कोशिका-सार' या 'कोशिका-द्रव्य' दबकर दो भागों में विभक्त होने लगता है। अन्त में कोशिका-द्रव्य अपना विभाजन पूर्ण कर लेता है, क्रोमोसोम फिर एक महत संहति का निर्माण करते हैं और एक कोशिका से दो नई कोशिकाएं उत्पन्न हो चुकी होती हैं।

लेकिन इन केंद्रकीय घटनाओं की सार्थकता क्या है? हर जात की कोशिकाओं में क्रोमोसोमों की एक लाक्षणिक संख्या होती है। (मनुष्य की कोशिका में 48 क्रोमोसोम होते हैं)। हर क्रोमोसोम 'जीन' नामक कई सूक्ष्म पिंडों का बना होता है। क्रोमोसोमों का विखंडन यह सुनिश्चित कर देता है कि हर भावी अनुजात कोशिका को मूल-कोशिका जैसे और जितने ही जीन—और इसलिए उस-जैसी ही लाक्षणिकताएं—प्राप्त होंगी।

यह स्पष्ट मालूम देता है कि कोशिका के विभाजन को केंद्रक नियंत्रित करता है। इससे भी बड़ी बात यह है कि यह कोशिका के जीवन के लिए ही आवश्यक है। केंद्रक से पृथक् किया गया कोशिका-द्रव्य खंड विभाजित तो क्या होगा, जीवित ही नहीं रहेगा।

लिंग-कोशिकाओं का परिपाक

पूर्णतः परिपक्व लिंग-कोशिकाएं कई बार विभाजित होती हैं। अधिकांश विभाजन देह-कोशिकाओं के विभाजन की ही तरह होते हैं, किन्तु उनमें से एक विभाजन विशिष्टत. भिन्न है।

अपरिपक्व शुक्राणु-कोशिकाएं कुछ बार समसूत्रण द्वारा विभाजित होने के बाद 'अर्धसूत्रण' या 'ह्रास-विभजन' नामक प्रक्रिया से गुजरती है। यह प्रक्रिया समसूत्रण की तरह ही प्रारम्भ होती है, लेकिन इसमें क्रोमोसोम कोशिका के विषुवद्वृत पर रेखाबद्ध होने के बाद विखंडित होकर दो में नहीं बंट जाते। इसके विपरीत उनकी आधी संख्या कोशिका के एक ध्रुव पर चली जाती है और आधी दूसरे ध्रुव पर। जब कोशिकाएं विभाजित होती हैं, तो उनमें से प्रत्येक 'परिणामी कोशिका' में क्रोमोसोमों की सामान्य से आधी ही संख्या होती है। इनमें से प्रत्येक कोशिका अब समसूत्रण द्वारा एक बार और विभाजित होती है, और इस प्रकार सामान्य क्रोमोसोमों वाली एक मूल कोशिका से अंत में कम क्रोमोसोमवाली चार कोशिकाएं उत्पन्न होती हैं। इन चारों में से प्रत्येक की आकृति में परिवर्तन होता हैं, केंद्रक 'शिर' बन जाता है, सेंट्रोसोम 'ग्रीवा' और कोशिका-द्रव्य परिपक्व शुक्राणु की 'पुच्छ'।

'अंड-कोशिकाएं' उसी प्रकार परिपक्वता प्राप्त करने लगती हैं जैसे कि शुक्राणु-कोशिकाएं। ह्रास-विभजन या अर्धसूत्रण के समय आधे-आधे क्रोमोसोम प्रत्येक ध्रुव पर चले जाते हैं। लेकिन जब अपरिपक्व अंड विभाजित होता है, तो कोशिका-द्रव्य का समान विभाजन नहीं होता। आधे क्रोमोसोमवाली एक छोटी कोशिका उत्पन्न होती है और वह बहिष्कृत कर दी जाती है। आधे क्रोमो-

सोमवाली बड़ी कोशिका फिर विभाजित होती है, लेकिन इस बार समसूत्रण द्वारा। फिर एक छोटी और एक बड़ी कोशिका उत्पन्न होती है। छोटी कोशिका का अपकर्ष हो जाता है, जिससे केवल बडी परिपक्व अड-कोशिका ही बची रह जाती है।

जब ससेचन होता है, तो शुक्राणु अंड की ओर जाता है और उसे भेदकर अन्दर प्रविष्ट हो जाता है। भीतर केवल शिर और ग्रीवा ही जाते हैं, पुच्छ बहिष्कृत कर दी जाती है। शुक्राणु का सिर केंद्रक-द्रव्य का बना होता है और अन्त मे अंड के केंद्रक के साथ विलयित हो जाता है। अब हम समझ सकते है कि लिग-कोशिकाओ के परिपक्व होने मे ह्रास-विभजन का आशय क्या है। शुक्राणु और अड-कोशिकाओ मे जात के केवल आधे ही क्रोमोसोम-लक्षण होते है। दोनो का संयोग और उनके केंद्रको का विलयन क्रोमोसोमो की सामान्य संख्या पूरी कर देता है। यदि ह्रास-विभजन न होता, तो ससेचित अड मे सामान्य मात्रा से दोगुने क्रोमोसोम होते।

ऊतक की मरम्मत और पुनरुत्पादन

ऊतक की मरम्मत और पुनरुत्पादन की प्रक्रियाए कोशिकाओ की वृद्धि की ही मिसाले है। साधारणतया हम मरम्मत को क्षत ऊतक का साधारण पुनर्नवीकरण ही समझते है और पुनरुत्पादन को किसी जीव के किसी अधिक बडे भाग का पुनर्नवीकरण। वास्तव मे दोनो ही प्रक्रियाओ मे बडी समानता है और वे प्रभावित क्षेत्र के आकार की अपेक्षा उसकी रचना करनेवाली कोशिकाओं के लक्षण पर अधिक निर्भर करती है।

ऊतक जितना ही कम विशेषीकृत होता है, उसकी मरम्मत करने और आघात से ठीक होने की शक्ति उतनी ही अधिक होती है। बहुत-से अपृष्ठवंशियों मे, जिनकी कोशिकाए मनुष्य की अपेक्षा कम विशेषीकृत होती है, अंगो और ऊतक के आश्चर्यजनक पुनरुत्पादन की क्षमता होती है। कुछ कृमि आधे मे काट देने पर दो नये कृमियो मे परिणत हो सकते है। लॉब्स्टर का कटा हुआ पजा फिर से उत्पन्न हो जाता है। कुछ कशेरुकदडी भी ऐसी शक्तिया प्रदर्शित करते है। कचैला साप, जो वास्तव मे पादहीन छिपकली ही है, की बहुत ही भंगुर पूछ होती है, जो आसानी से टूट जाती है। जब यह टूट जाती है तो कुछ ही समय मे एक दूसरी पूछ उग आती है।

कोई जीव जितना ही जटिल होता है, उसके अग तथा ऊतक उतने ही अधिक विशेषीकृत होते है और वे उतनी ही कम सरलता से बदले जा सकते है। मनुष्य मे कुछ ऊतक इतने विशेषीकृत होते है कि वे क्षत हो जाने पर अपना पुनरुत्पादन नही कर सकते। तन्त्रिका-कोशिकाए इसी प्रकार की है। यदि किसी न्यूरॉन की कोशिका-काय नष्ट हो जाती है, तो वह न्यूरॉन हमेशा-हमेशा के लिए खत्म हो जाता है—उसे नही बदला जा सकेगा। कोशिका के प्रवर्ध पुनरुत्पादन कर सकते है, लेकिन कोशिका-काय नही कर सकती। परिपक्व लाल रुधिर-कोशिकाओं के

बारे में, जो पुनरुत्पादन नहीं कर सकतीं, यह प्रश्न पैदा होता है कि क्या वे वास्तव में जीवित हैं। उनमें चूंकि केंद्रक नहीं होते, अतः उनके लिए पुनरुत्पादन करना किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है।

अधिकांश संयोजी और आलंबक ऊतक कम विशेषीकृत प्रकार के होते हैं और सफलतापूर्वक पुनरुत्पादन कर सकते हैं। वास्तव में वे उन नष्ट ऊतकों का स्थान ले लेते हैं, जो अधिक विशेषीकृत होते हैं। घाव भरनेवाला ऊतक संयोजी ऊतक होता है। ग्रन्थीय ऊतक भी सफलतापूर्वक पुनरुत्पादन कर लेता है, जिसके कारण अंतःस्रावी ग्रन्थियों की अतिक्रिया के मामलों में बड़ी परेशानी में डालने-वाली समस्याएं उत्पन्न हो जाती हैं।

असामान्य ऊतक—कभी-कभी देह के भागों में ऐसे ऊतक प्रकट हो जाते हैं जो किसी भी प्रकार उपयोगी नहीं होते। ऐसी असामान्य वृद्धियां 'ट्यूमर' या 'अर्बुद' कहलाती हैं और ये देह के किसी भी भाग में प्रकट हो सकती हैं। कुछ अर्बुद अपेक्षाकृत हानिरहित होते हैं और 'अहानिकर' या 'निर्बाध' अर्बुद कहलाते हैं। दूसरे जिंदगी के लिए खतरनाक होते हैं और 'दुर्दम्य' अर्बुद कहलाते हैं। अहानिकर अर्बुद प्रायः ऊतक के एक कोष में बंद रहते हैं, जो उनका सभी ऊतकों में प्रसार रोकता है। दुर्दम्य अर्बुद, विभिन्न प्रकार के कैंसर जिसके उदाहरण हैं, ऊतकीय कोष में बंद नहीं होते। उनकी कोशिकाएं ऊतकों में प्रविष्ट होने का यत्न करती हैं और देह के विभिन्न भागों को जा सकती हैं।

अर्बुद-कोशिकाओं की उत्पत्ति का प्रश्न अभी तक अनिर्णीत है। एक अधिक सम्भव परिकल्पना यह है कि वे ऐसी भ्रूणीय कोशिकाएं हैं, जो कभी परिपक्वता नहीं प्राप्त कर सकी हैं या विशेषीकृत नहीं हो सकी हैं और वयस्क देह के निर्माण में जिनका उपयोग नहीं हुआ है। किसी उत्तेजनशील उद्दीपक द्वारा (यह उद्दी-पक अभी तक ज्ञात नहीं है) क्रियाशील कर दी जाने पर ये कोशिकाएं अपनी वृद्धि और गुणन करने लगती हैं।

देह की सामान्य वृद्धि

देह की वृद्धि इसके विभिन्न भागों में होनेवाले परिवर्तनों का योग है और इससे पृथक् कोई वस्तु नहीं है। हां, देह की वृद्धि की सीमा पर कुछ ऐसे परि-सीमन अवश्य लगे हैं, जो देह के बाहर किसी पोषक माध्यम में बढ़नेवाले ऊतकों पर लागू नहीं होते।

भार में वृद्धि देहीय वृद्धि का सदा ही वास्तविक सूचक नहीं होती, क्योंकि वसा का संचय देह के आकार में बिना किसी वृद्धि के ही हो सकता है और अक्सर होता भी है। इसे अधिकतर अस्थि की वृद्धि का ही सूचक माना जाता है, क्योंकि जीव की लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊंचाई का अंततोगत्वा यही निर्धारण करती है।

कशेरुकदंडियों में अस्थि-वृद्धि के दो अलग-अलग तरीके हैं। उनमें से एक किसी संयोजी ऊतक-झिल्ली में कैल्सियम-लवणों का निक्षेप है। जबड़े की हड्डी

तथा खोपड़ी की छत का निर्माण इसी तरीके से होता है। शरीर की अधिकाश अस्थिया पहले उपास्थि मे प्रतिरूपित होती है, जो वाद मे अस्थि द्वारा प्रति-स्थापित कर दी जाती है। यह वह अनिवार्य तरीका है कि जिससे लम्वी अस्थियो और उनके साथ-साथ शरीर की वृद्धि होती है।

बाह या टाग की हड्डी-जैसी लम्वी हड्डियो मे पहले काड के मध्य मे उपास्थि कैल्सीकृत होती है। अस्थि के बाहर की ओर एक अस्थि-विरचक झिल्ली उगने लगती है और अस्थि-विरचक कोशिकाए काड के आस-पास कैल्सियम-निक्षेप करने लगती है। इस बीच अस्थि का भीतरी भाग अभी भी कैल्सीकृत उपास्थि का ही वना होता है। इसी समय भीतरी भाग पर अस्थि-विनाशक कोशिकाए आक्रमण करती है और उपास्थि तथा कैल्सियम-निक्षेप को भेदती चली जाती है। उनके पीछे-पीछे अस्थि-विरचक कोशिकाएं आती है और अस्थि-विनाशक कोशिकाओ द्वारा निर्मित कोटरो मे वास्तविक अस्थि निक्षेपित कर देती है। यह प्रक्रिया काड के ऊपर से नीचे तक और अस्थि के सिरो मे भी होती है। तथापि अस्थि की वृद्धि होती रहती है, क्योकि काड की अस्थि हर सिरे की अस्थि से उपास्थि की एक पट्टिका द्वारा पृथक् रहती है। इसके बाद वृद्धि अस्थि के सिरो के इन वृद्धि-प्रदेशो मे नये अस्थि-ऊतक के सम्मिलन द्वारा एक-दूसरे से दूर धकेले जाने से होती है। लम्बी हड्डियो की वृद्धि अन्तत तब रुक जाती है जब उपास्थि-पट्टिकाएं कैल्सीकृत हो जाती है।

कोमल ऊतको की वृद्धि भी ऊतको मे कोशिकाओ की सख्या के गुणन द्वारा होती है। यह जान लेना चाहिए कि ऊतको मे दो विरोधी प्रक्रियाए हर समय एक साथ होती रहती है। एक ओर तो कोशिकाए अविरल रूप से पुनरुत्पादन करती रहती है (तंत्रिका-तत्र-जैसे स्थानो को छोडकर) और ऊतक का आकार वढाती रहती है; दूसरी ओर कोशिकाए अविरल रूप से मृत या नष्ट होती रहती है और ऊतक से निष्कासित की जाती है। बच्चो मे सक्रिय वृद्धि के दौरान वृद्धि विनाश को अतिसतुलित कर लेती है। वृद्धि के रुक जाने के बाद, और हमारे जीवन के अधिकाश भाग मे, वृद्धि और विनाश लगभग समान गति से चलते रहते है। वृद्धावस्था मे यह संतुलन दूसरी दिशा मे चला जाता है और विनाश अधिक तेजी से होने लगता है। वृद्ध व्यक्तियो मे ऊंचाई तथा कुछ ऊतको और अगो मे सिकुड़ने की प्रवृत्ति इसी कारण होती है।

ऊतको की यह चलिष्णुता हड्डियो-जैसे स्थायी लगनेवाले ऊतको पर भी लागू होती है। अस्थि-विरचक और अस्थि-विनाशक कोशिकाए लगातार कार्य करती रहती है और एक 'ठोस' हड्डी अपने जीवन-काल मे कई वार वनती और ध्वस्त होती है।

वृद्धि का नियत्रण—वृद्धि का नियत्रण करनेवाले कारको के वारे मे वहुत मोटी जानकारी ही है। जिन घनिष्ठ प्रक्रमो द्वारा कोई अग-विशेष किसी विशेष आकार तक सीमित रहता है, वे सव अनसुलझे रहस्य ही है।

स्वस्थ वृद्धि, प्रत्यक्षत. तथा परोक्षतः, दोनो ही प्रकार नियमित होती है। ऑक्सीजन और उचित आहारो का अन्तर्ग्रहण एक प्राथमिक कारक है। किन्तु यदि आवश्यक द्रव्यों के पाचन, अवशोषण और वितरण की प्रक्रियाएं उचित प्रकार और मात्रा के द्रव्य कोशिकाओं तक पहुंचाने मे सहयोग न करें, तो यह अंतर्ग्रहण बेकार होगा।

हारमोन-नियंत्रण देह की वृद्धि के नियमन मे एक और महत्त्वपूर्ण कारक है। हम देख चुके है कि पीयूष-ग्रन्थि की अग्रपालि एक वृद्धिकारक हारमोन स्रवित करती है, जो समस्त ऊतकों की वृद्धि को नियमित करता है। इस हारमोन की सामान्य मात्राएं न केवल हड्डियो की वृद्धि मे ही परिवर्तन लाती है, बल्कि विभिन्न आतरांगो की वृद्धि में भी। हम जानते हैं कि अवटु हारमोन वृद्धि पर प्रभाव डालता है। इसका प्रभाव संभवतः परोक्ष है, जो कोशिकाओ मे ऑक्सीकर अभिक्रियाओं के इसके नियमन पर आधारित है।

पहले यह सोचा जाता था कि पीयूषिका-वृद्धिकारी हारमोन शायद अवटु-प्रेरक हारमोन हो और इस प्रकार अवटु-हारमोन का स्राव करवाकर वह वृद्धि को प्रभावित करता होगा। लेकिन यह संभव नही मालूम देता, क्योंकि पीयूषिका-दोषजन्य बौने व्यक्ति को थाइरोग्लोब्युलिन के देने मे उसकी वृद्धि वर्धित नही होती।

लिंग-हारमोन भी प्रकटतया वृद्धि पर प्रभाव डाल सकते हैं। अंडोच्छेदित या खस्सी किया पशु प्राय. अधिक बडा हो जाता है। हारमोन-तन्त्र में यह नियमन कहा लागू होता है, यह ज्ञात नहीं है।

हड्डी की वृद्धि मे ये सभी हारमोन तथा परावटु-हारमोन और विटामिन 'डी' सम्मिलित होते है। इन तमाम कारकों के सम्मिलित होने के कारण इनके अंतःसंबंधों का जटिल होना अवश्यंभावी है। जब हमें यह ज्ञात होता है कि हारमोनों को कोशिका के उपापचयन द्वारा ही कार्य करना पड़ता है और इस विषय का अध्ययन अभी अपनी शैशवावस्था मे ही है, तो यह जटिलता और अधिक ही हो जाती है।

अध्याय 14

दैहिक ताप

अधिकाश जतुओ की सक्रियता की सीमा तथा गति उनके पर्यावरण के ताप द्वारा ही निर्धारित होती है। जिन जतुओ का दैहिक ताप पर्यावरण-ताप के साथ घटता-बढता है, वे 'असमतापी' जतु कहलाते है। यदि पर्यावरण ताप ठडा होता है, तो उनकी सक्रियता कम हो जाती है, और यदि वह गरम होता है, तो उनकी सक्रियता तीव्रतर हो जाती है—चाहे वे इसे 'पसन्द' करे या न करे, होता उनके साथ यही है।

केवल पक्षियो तथा स्तनधारियो—'समतापी' जतुओ मे ही अपनी देह के ताप को नियत्रित करनेवाली युक्तिया होती है। मनुष्य अपना ताप एक स्थिर स्तर (लगभग 98 6° फा०) पर बनाये रखता है—मौसमविदो के लेखे बाहर का ताप चाहे 'शून्य से नीचे' हो या 'छाह मे 100°'। दैहिक ताप की इस स्थिरता के कारण मनुष्य ताप के मामले मे अपने पर्यावरण से स्वतन्त्र है। उसकी कोशिकाए अपने स्वाभाविक ओज से अपना कार्य करती रह सकती है, क्योकि देह के बाहर चाहे कुछ ताप हो, उनका ताप स्थिर रहता है। कुछ विरल परिस्थितियों में ही यह स्थिरता 'समतापी' जीवो के लिए अलाभकर रहती है। यदि आंतरिक ताप कोई 10° गिर जाये, या लगभग 15° चढ जाये तो कोशिकाए इस परिवर्तन को ज्यादा देर तक न झेल सकेगी। अधिकाश 'असमतापी' जतुओ के लिए इस परिवर्तन का अर्थ बस उनकी चयापचय-गति मे अतर आना ही होगा। लेकिन पक्षियो तथा स्तनधारियो मे इस प्रकार के परिवर्तन केवल तभी आ सकते है जब उनकी ताप-नियामक युक्तियो मे गभीर दोष आ जाते है, इस सभावित हानि की तुलना मे यह लगभग सतत लाभ कई गुना अधिक है।

अनेक अन्य शरीर-क्रियात्मक स्थिरताओ की ही भाति दैहिक ताप की स्थिरता भी विरोधी प्रक्रियाओ की अत क्रिया द्वारा कायम रहती है। देह मे ऊष्मा का निरतर उत्पादन होता रहता है और इसका निरतर लोप होना ही चाहिए।

ऊष्मा-उत्पादन तथा ऊष्मा-विलोप

ऊष्मा-उत्पादन एक उपापचयनकारी इकाई का चिह्न है और इसका उद्गम अतत: जीव की कोशिकाओ मे ही होना चाहिए।

कोशिका जब तक जीवित रहती है, उसके भीतर रासायनिक अभिक्रियाएं होती रहती है और ऊष्मा का उत्पादन इसका एक अवश्यभावी परिणाम है। कोशिका के उपापचयन पर प्रभाव डालने वाला हर कारक उसके ऊष्मा-उत्पादन पर भी अवश्य प्रभाव डालेगा।

ऊष्मा-उत्पादन को नियंत्रित करने की जो एकमात्र युक्ति हमें उपलब्ध है, वह कंकाल-पेशी की सक्रियता में परिवर्तन है। ऐसी कोई युक्तियां नहीं हैं कि जो अन्य प्रकार की देहीय कोशिकाओं की एक पर्याप्त संख्या के उपापचयन को इतना घटा या बढा सके कि जिससे देह-ताप पर उल्लेखनीय प्रभाव पड़ सके। लेकिन कंकाल-पेशियां दैहिक ऊष्मा की सबसे बडी स्रोत हैं और उनकी सक्रियता बदलती हुई ताप-आवश्यकताओं के अनुरूप प्रतिवर्ती या ऐच्छिक नियंत्रण द्वारा शीघ्रता-पूर्वक अनुकूलित की जा सकती हैं।

अंतिम विश्लेषण में यही निष्कर्ष निकलता है कि देह से ऊष्मा का लोप कई भौतिक प्रक्रियाओं का परिणाम है। ऊष्मा की एक थोड़ी-सी मात्रा हमारी सांस द्वारा अंतर्ग्रहीत वायु के गरमाने में नष्ट हो जाती है। इससे भी कम मात्रा में ऊष्मा मूत्र तथा मल के उत्सर्जन में नष्ट हो जाती है।

ऊष्मा का सर्वाधिक लोप त्वचा की सतह के जरिये होता है। त्वचा पर यह लोप चार विभिन्न प्रक्रियाओं—'विकिरण', 'संनयन', 'संवहन' और 'वाष्पन'—द्वारा संभव हो सकता है।

विकिरण देह से किरणों या तरंगों द्वारा ऊर्जा का उत्सर्जन है। ऐसा कोई भी पिंड, जो अपने पर्यावरण की अपेक्षा अधिक उष्ण है, ऊष्मा की तरंगों का उत्सर्जन करता है। (एक सामान्य—डाक्टरी नहीं—तापमापी बिजली के जलते बल्ब के पास रखिये और ताप में वृद्धि देखिये)। हमारे पर्यावरण का ताप दैहिक ताप से प्रायः कम होता है, इसलिए त्वचा से ऊष्मा-तरंगें आसपास के माध्यम के जरिये विकीर्ण होती है। लगभग 55 प्रतिशत ऊष्मा-लोप विकिरण के कारण होता है।

'संनयन' द्रव्य की धाराओं द्वारा ऊष्मा के संचरण की प्रक्रिया है। उष्ण वायु ठंडी वायु से हलकी होती है और ऊपर उठने लगती है। इस प्रकार देह को घेरने वाली उष्ण वायु ऊपर उठती है और आसपास की ठंडी हवा उसका स्थान लेने के लिए आती है और धाराएं उत्पन्न हो जाती हैं। अपनी बारी में ठंडी हवा भी गरम हो जाती है और इस प्रकार यह प्रक्रिया बार-बार होती रहती है। लगभग 15 प्रतिशत ऊष्मा-विलोप संनयन-धाराओं द्वारा होता है। आप एक जलते हुए बिजली के बल्ब से उत्पन्न संनयन-धाराओं द्वारा सिगरेट के धुएं का ऊपर ले जाया जाना देख सकते हैं। त्वचा से संनयन वायु की गति द्वारा बहुत प्रभावित होता है, पवन ऊष्मा-विलोप को त्वरित कर देती है।

'संवहन' ऊष्मा-स्थानांतरण की वह प्रक्रिया है जिसमें भिन्न-भिन्न ताप की दो वस्तुएं एक-दूसरे के सम्पर्क में होती हैं। साधारणतया संवहन का ऊष्मा-विलोप में बहुत ही कम महत्त्व है, क्योंकि वायु ऊष्मा की एक बहुत ही खराब संवाहक है। जब देह किसी ठंडी वस्तु के संपर्क में आती है, जैसे बर्फ का टुकड़ा, तो देह की ऊष्मा ठंडी वस्तु को चली जाती है।

'वाष्पन' ऊष्मा-विलोप की वह प्रक्रिया है जिसके कारण हम यह बात कहने

को विवश हो जाते है कि 'गरमी कहा है, उमस है !' पानी द्रव-अवस्था से वाष्प-अवस्था मे परिवर्तित (वाष्पित) होते समय ऊष्मा का अवशोषण करता है। इस तरह त्वचा की सतह पर पानी का वाष्पन देह के ऊष्मा-विलोप मे सहायक होता है। त्वचा से केवल पसीना ही नही, बल्कि कोशिकाओ से निकलकर विसरण द्वारा त्वचा की सतह पर आनेवाला पानी भी वाष्प्रित होता है। यदि वायु जल-वाष्प से लगभग सतृप्त है (अर्थात् यदि आर्द्रता अधिक है), तो वाष्पन बहुत सीमित या असंभव हो जाता है। चूकि अत्यधिक उच्च ताप पर वाष्पन ही वह एकमात्र प्रभावी ढंग है कि जिससे देह ऊष्मा-विलोप कर सकती है, इसलिए बहुत गरम (120° फा ताप के) तथा आर्द्र वातावरण को कुछ मिनटो से अधिक नही सहा जा सकता है। यदि वातावरण शुष्क है, तो 200° फा. से ऊपर का ताप भी दैहिक ताप की वृद्धि के बिना सहा जा सकता है।

जल का वाष्पन त्वचा की तरह फेफड़ो मे भी होता है। कुत्ते-जैसे पशुओ मे, जिनके पजो की गद्दियो के अलावा और कही स्वेद-ग्रथिया नही होती, वाष्पन जीभ की सतह पर होता है। हाफना कुत्ते की वह युक्ति है जिसके द्वारा वह अत्यधिक गरमी होने पर ऊष्मा का क्षय करता है।

दैहिक ताप का नियमन

देह-ताप का नियमन करने वाली युक्तिया अधिकांशत. तत्रिका-परिवर्त है, जिनका आरभ त्वचा के ताप-सग्राहको मे होता है। इन सग्राहको से तत्रिका-आवेग केद्रीय तत्रिका-तत्र मे जाते है और अधश्चेतक मे स्थित तापनियामक केद्रो को चले जाते है। इन केद्रो से त्वचा की धमनिकाओ को, त्वचा की स्वेद-ग्रथियो को, ककालपेशियो को, त्वचा की चिकनी पेशियो को, या इनके सयोगो को आवेग प्रेरित किये जाते है। अधश्चेतक द्वारा प्रेरित ये परिवर्तन दैहिक तथा आंतरागीय क्षेत्रो मे तत्रिका-तंत्र के उच्चतर स्तरो द्वारा उत्पन्न समन्वय के अच्छे उदाहरण है।

निम्न पर्यावरण-ताप की अनुक्रियाए—जब पर्यावरण-ताप त्वचा के ताप से काफी नीचे गिर जाता है, तो देह जितनी तेजी से ऊष्मा पैदा कर सकती है, उससे अधिक तेजी से गंवाने लगती है। बाह्य ताप मे गिरावट आने से त्वचा मे स्थित शीत-सग्राहक उद्दीपित हो जाते है और अधश्चेतक मे ऊष्मावर्धक केद्र को आवेग जाते है। इस केद्र से त्वचा की धमनिकाओ की चिकनी पेशी को आवेग भेजे जाते है, जिससे वह कुचित हो जाती है। इससे धमनिकाए कुचित हो जाती है और त्वचा मे से कम रुधिर का प्रवाह होने लगता है। इस प्रकार विकिरण और सवहन की प्रक्रियाओ की प्रभावशीलता कम हो जाती है, क्योकि अब इस क्षेत्र मे कम उष्ण रुधिर ऊष्मा गँवा रहा है। स्वेद-ग्रंथियो को कम आवेग भेजे जा रहे है, कम पसीने का स्राव हो रहा है और वाष्पन कम हो गया है (निम्न तापो पर यह सभवत' किसी भी स्थिति मे अधिक प्रभावशाली नही होता)। यदि बाह्य ताप बहुत नीचा नही है तो ये युक्तिया ऊष्मा-विलोप को कम

करके एक स्थिर दैहिक ताप बनाये रखने के लिए पर्याप्त होंगी।

यदि पर्यावरण-ताप इससे भी अधिक नीचा गिर जाता है, तो ऊष्मा-विलोप मे कमी पर्याप्त नही होती और ऊष्मा-उत्पादन की वृद्धि द्वारा इसकी अनुपूर्ति करनी पड़ेगी। ऐसी स्थिति मे ऊष्मा-वर्धक केंद्र कंकाल-पेशियों को आवेग भेजता है और उनकी सक्रियता बढा देता है। वर्धित कुचनो का परिणाम पेशियो द्वारा ऊष्मा का अधिक उत्पादन होता है। यदि यह भी पर्याप्त नही होता, तो पेशियो को और भी अधिक आवेग भेजे जाते है और अधिक अनैच्छिक कुचन होते है—कापना और दातो का किटकिटाना।

परो या घने रोएवाले जंतुओ मे ये आवेग त्वचा की चिकनी पेशी को जाते है, जो बालो या परो के हर्षण (खड़े होने) को नियत्रित करती है। इससे ये बाल या पख फूल जाते है और अपने बीच मे हवा की एक तह बना लेते है, जो ऊष्मा-पृथक्कारी का काम करती है। हा, यह एक सहायक युक्ति ही है और कंकाल-पेशी के कुचन इससे अधिक प्रभावी होते हैं। मनुष्य में यह युक्ति अभी तक विद्यमान है, लेकिन यह बिल्कुल प्रभावहीन है, क्योंकि देह पर बाल इतने घने नही होते कि जिनमे वायु की तह रुकी रह सके। हा, इससे रोंगटे अवश्य खड़े हो जाते है।

प्रबल क्रियाशीलता द्वारा, भारी कपडे पहनकर, अधिक प्रोटीन-प्रचुर आहार खाकर (विशिष्ट-गतिज क्रिया बढाने के लिए उपापचयन का अध्याय देखिये) या सीधे उष्णतर पर्यावरण मे जाकर हम भी इन प्रक्रियाओ मे ऐच्छिक सहायता दे सकते है।

उच्च पर्यावरण-ताप की अनुक्रियाए—जब पर्यावरण-ताप त्वचा के ताप से ऊंचा हो जाता है, तो घटनाएं विपरीत क्रम में घटती है। त्वचा के ताप-सग्राहक उद्दीपित हो जाते है और अधश्चेतक मे ऊष्मा-अवनयन केंद्र को आवेग भेजते है। अब त्वक-धमनिकाओ की चिकनी पेशी को आवेग जाते है, जो उनके कुचन को अवरुद्ध कर देती है। धमनिकाए विस्फारित (फैल) हो जाती है और त्वक-केशिकाओ से होकर अधिक रुधिर प्रवाहित होता है और विकिरण तथा संवहन द्वारा ऊष्मा का उत्सर्ग कर दिया जाता है। यदि ताप काफी ऊचा है, तो ये प्रक्रियाएं बेकार हो जाएंगी। अब स्वेद-ग्रंथियो का उद्दीपन, अधिक स्वेद-स्राव तथा अधिक वाष्पन होगा।

यदि देह के बाहर काफी गरमी है, तो ऊष्मा-उत्पादन को कम करना होगा। ककाल-पेशियो की क्रियाशीलता का प्रतिवर्ती अवनयन हो जाता है और कम ऊष्मा उत्पादन होती है। गरमियो मे हम सामान्यत: स्वेच्छापूर्वक कम सक्रिय होते है और प्रोटीनों की मात्रा कम कर देते और 'हलके' आहार खाते है। देह को अधिकतम सभव खुला रखने से वाष्पन का सतही क्षेत्र बढ जाता है और इस प्रकार यह भी इसमे सहायक होता है।

यह जानना रुचिकर है कि ताप-नियामक केंद्रों को उनके पास से प्रवाहित होनेवाले रुधिर के ताप से और तन्त्रिकाओ द्वारा भी क्रियाशील किया जा सकता

है, रुधिर-ताप मे अवनयन ऊष्मावर्धक केंद्र को क्रियाशील कर देता है और उसमे वृद्धि ऊष्मा-अवनयन केंद्र को। इनके उद्दीपन से उत्पन्न लाक्षणिक प्रभाव तब भी प्रकट होगे कि जब बाह्य ताप ऐसी क्रियाओ की अपेक्षा न भी करे।

दैहिक ताप में गड़बड़

मुह मे मापने पर औसत सामान्य दैहिक ताप 98·6° फा० निकलता है। गुदा-ताप लगभग एक डिगरी अधिक होता है। कुछ व्यक्तियों का ताप इससे कुछ दशाश कम-या-अधिक होता है। तथापि हम सभी मे ताप-वैभिन्न्य का एक दैनिक चक्र होता है। दिन के ताप का चरम तीसरे पहर के अंत मे या सायंकाल के प्रारभ मे आता है और निम्नतम बिंदु सुबह के समय। उच्चतम तथा निम्नतम बिंदु मे एक डिगरी तक का भी अंतर हो सकता है। जो लोग रात मे काम करते है, उनमे कुछ समय के बाद उच्च तथा निम्न बिंदुओं का क्रम उलट सकता है।

पेशीय प्रयास के दौरान दैहिक ताप ऊंचा हो जाता है और यह क्रियाशीलता रुक जाने के बाद भी कुछ समय तक कायम रहता है। तथापि ऐसी अन्य असामान्य अवस्थाएं भी होती है, जिनमे दैहिक ताप अधिक लम्बी अवधियो के लिए चढ या गिर जाता है।

हीनावटुता तथा कुछेक पीयूषिका-विकारों मे (जिनमे अवटुप्रेरक हारमोन की न्यूनता से अवटु-ग्रंथि-हारमोन का उत्पादन अवरुद्ध हो जाता है) दैहिक ताप अवसामान्य रहता है। दैहिक ताप मे गिरावट न्यूनित ऊष्मा-उत्पादन के कारण होती है—उत्पन्न ऊष्मा की अपेक्षा अधिक ऊष्मा की क्षति होती है। यह ऊतकों की न्यूनित ऑक्सीकर शक्तियो के फलस्वरूप होता है। अत्यवटुता में विपरीत कारणो से इसका उलटा होता है।

दैहिक ताप मे चढाव गिराव से कही अधिक आम है और इनका परिणाम अधिक गभीर होता है। आर्द्र गरम वातावरण मे बहुत देर रहने से लू लग सकती है या तापाघात हो सकता है। इस स्थिति मे ऊष्मा-लोप का नियमन करने वाली युक्तिया या तो वर्धित पर्यावरण-ताप का निराकरण नही कर पाती, या वैसा करने के प्रयास मे परिक्लात हो जाती है। इससे दैहिक ताप बढ जाता है और यदि कम न किया गया, तो यह केंद्रीय तंत्रिका-तंत्र को हुई अपूरणीय हानि के कारण मृत्यु तक ला सकता है।

धूपाघात लू लगने का एक विशेष प्रकार है। इसमे ऊष्मा-विलोप को नियमित करनेवाली युक्तियो की अपर्याप्तता के अलावा सूर्य की विकिरण-ऊर्जा का अवशोषण होता है और सूर्य की किरणो से अरक्षित अंगो के ताप मे देह के साधारण ताप की अपेक्षा स्थानीय वृद्धि हो जाती है—विशेषकर मस्तिष्क अत्यधिक गरम हो जा सकता है।

तापाघात तथा धूपाघात से बचने का सबसे अच्छा उपाय हलका खाना, खूब पानी पीना, अधिकतम सभव निष्क्रिय रहना और देह से वाष्पन होने देने का

अधिकतम अवसर देना है। सिर तथा गर्दन को सूर्य की सीधी किरणों से बचाना वांछनीय है।

बुखार या ज्वर मे दैहिक ताप कुछ समय तक उच्चतर स्तर पर रहता है। बुखार में ताप का बढ़ना, किसी हद तक, एक विषम घटना-क्रम के कारण होता है। ज्वर आमतौर पर किसी संक्रमण या छूत की बीमारी के कारण होते है। संक्रामक 'जीवाणु' एक विपाक्त द्रव्य उन्मुक्त करता है, जो रुधिर में घूमते हुए देह की ऊष्मा-वर्धक युक्ति को उद्दीपित कर देता है। इससे त्वचा की रुधिर-वाहिकाएं कुचित हो जाती है (ज्वर की प्रारभिक अवस्था मे त्वचा का पीला हो जाना) और ऊष्मा-विलोप न्यूनित हो जाता है। इससे दैहिक ताप बढने लगता है और इसकी वृद्धि के साथ-साथ वर्धित ताप कोशिकाओं के उपापचयन को तेज कर देता है और अधिक ऊष्मा पैदा होने लगती है। ज्वर की प्रारंभिक अवस्थाओ मे रोगी सामान्यत: जो ठंड अनुभव करता है, वह त्वचा की रुधिर-वाहिकाओ के कुचन और त्वचा के ताप मे सतत गिरावट का ही परिणाम होती है। यह त्वचा के शीत-संग्राहकों को उद्दीपित कर देता है।

जब ताप एक विशेष स्तर तक चढ जाता है, तो ऊष्मा-अवनयन केंद्र उद्दीपित हो जाता है। इससे त्वक-रुधिर-वाहिकाओं का प्रतिवर्त्ती विस्फारण हो जाता है, रुधिर तेजी से त्वचा तक आने लगता है (जो अब लाल हो चुकी होती है) और रोगी अत्यधिक गरमी का अनुभव करता है। किंतु अब ऊष्मा-विलोप भी आरंभ हो सकता है और ऊष्मा-उत्पादन तथा ऊष्मा-विलोप की युक्तियां एक-दूसरे को फिर प्रतिसंतुलित कर देती है। तथापि ताप तब तक ऊंचा ही रहता है जब तक विपाक्त द्रव्य का रुधिर मे क्रातिक सांद्रण बना रहता है। इसलिए यद्यपि ऊष्मा-विलोप ऊष्मा-उत्पादन को सतुलित कर देता है, देह का 'तापस्थायी' उच्चतर स्तर पर ही लगा रहता है। जब विपाक्त द्रव्य रुधिर से पृथक् हो जाता है, तो ज्वर शनैः-शनैः या तेजी के साथ उतर जाता है और ताप सामान्य स्तर पर आ जाता है।

ज्वर कोई अदम्य व्याधि नही है। यह ठीक है कि यदि यह बहुत ऊंचे ताप 108°-110° तक चला जाये, तो यह प्रायः घातक होता है। तथापि अधिकाश मामलो मे यह रोग के प्रतिरोध में एक महत्त्वपूर्ण साधन प्रतीत होता है। यह सहायता किस प्रकार देता है, स्पष्टत: ज्ञात नही है, तथापि हम जानते है कि कृत्रिम रूप से उत्प्रेरित ज्वरो का कुछेक रोगो के उपचार में व्यावाहारिक मूल्य है। ज्वर आनेवाले खतरे की चेतावनी देने का काम करता है और इस प्रकार रोगमूलक उत्पात के कारण की ओर ध्यान केद्रित किया जा सकता है।

अध्याय 15

पेशी-गति तथा श्रम

आंतरिक गति

हमारे आंतरागों की गतियां स्वायत्त तत्रिका-तत्र तथा रुधिर मे विद्यमान रासायनिक द्रव्यो द्वारा नियंत्रित होती है। ये गतिया अपेक्षाकृत धीमी, पर सामान्यतः सुसमन्वित होती है।

आतरागों की गतिया हमारे सारभूत आतरिक अगों की सक्रियताओ मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग लेती है। हृद्-पेशी के कुचन रुधिर को गति प्रदान करते है। पाचन क्षेत्र से सम्बंधित या उसमे की चिकनी पेशी के कुचन भोजन को क्षेत्र मे आगे ले जाने और उसका यात्रिक खडन करने का काम करते है, जिससे पाचक प्रकिण्व अपना कार्य अधिक दक्षतापूर्वक कर पाते है।

मध्यच्छद के कुचन (यह याद रखना चाहिए कि मध्यच्छद कंकाल-पेशी का बना है) वक्षीय गुहा का आयतन बढाने मे सर्वाधिक महत्त्व के है। रुधिर-वाहिकाओ की चिकनी पेशी के कुचन रुधिर-प्रवाह की गति तथा वितरण का नियमन करते है। मूत्र-वाहिनियो मे क्रमाकुचन तरंगे मूत्र-प्रवाह की वृक्को से मूत्राशय को गति मे सहायक होती हैं। गर्भाशयी कुचन गर्भ को जन्मनाल मे से गुजारते है।

दिन-प्रतिदिन इनमे से अधिकाश गतियो की ओर हमारा ध्यान भी नही जाता। तथापि इनके विना वे गतिया सभव न हो पाती कि जिनसे हम अधिक परिचित है।

बाह्य गति

कुछ 'बाह्य' पेशियो के कुचन हमारी कुछेक आतरिक प्रक्रियाओ के अधिक प्रत्यक्ष कारण है। उदाहरण के लिए, हाथ-पैरो की पेशियो के कुंचन शिरायी रुधिर तथा लसीका के प्रवाह मे महत्त्वपूर्ण कारक है, पर्शुकातर पेशियो के कुचन (मध्यच्छद के कुचनो के साथ-साथ) वक्षीय गुहा के आयतन का नियमन करते है।

हमारी निगाह मे सामान्यत वे गतिया आती है, जो किसी जतु के सचलन या उसके अंगो के निपुण प्रयोग मे सन्निहित होती है। घोघे की सायास गति, बाज की ऊची उडान, चीते का तेज झपट्टा, सांप की द्रुत चोट, निपुण वायलिन-वादक का अंगुलि-लाघव—ये जंतु-जन्य विभिन्न तथा जटिल गतियो के कुछ उदाहरण-मात्र है।

ककाल-पेशी के कुचन बड़े तेज होते है और कुछ गतियां तो इतनी तेज होती है कि आंख की पकड़ मे भी नही आ सकती। हाथ की सफाई दिखाने मे इसी

क्रिया का उपयोग किया जाता है। मर्मर पक्षी का फूल पर मंडराते समय पंख चलाना तीव्र, यथायथ गति का एक सुदर उदाहरण है। 'वाह्य' गतियां अधिकांश जंतुओं को भोजन तक पहुंचने मे, उसे पकड़ने तथा खाने मे, लडने या भागने में, उनके श्रवण तथा दृष्टि-वोधक अंगो को केंद्रित करने मे सक्षम वनाती है। मनुष्य मे ये गतिया क्योकर संभव होती है ?

मनुष्य में कंकाल-पेशीय गतियां

हम पेशीय कुचन के ऊर्जा-आधार तथा तंत्रिका-नियंत्रण पर चर्चा कर चुके है। लेकिन हमने यह नही देखा कि देह के अगो की गतिया किस प्रकार क्रियान्वित होती है।

पेशियां ककाल या त्वचा के भागो से कंडराओ द्वारा जुडी होती है। अधिकांश पेशियां दो भिन्न-भिन्न हड्डियो से जुड़ी होती है। ऐसी स्थिति मे पेशी का एक सिरा एक ऐसी हड्डी से जुडा होता है, जो पेशी के कुचित होते समय अचल रहता है। सयोजन का यह विन्दु पेशी की मूलिका है। चूकि यह सयोजन दूसरे की अपेक्षा अधिक स्थिर होता है, इसलिए कुचित होते समय पेशी इसी विन्दु की ओर खिचती है। दूसरा संयोजन 'चेष्टा-विन्दु' या 'निवेश' कहलाता है। पेशी का कुचन उस हड्डी को, जिससे कि वह वहां संयोजित है, मूलिका की ओर खीचता है।

आख की वाह्य पेशियो (जो नेत्र-गोलक को चालित करती है) की मूलिकाएं नेत्र-कोटर की हड्डी पर और उनके निवेश नेत्र-गोलक पर मढ़े सयोजी ऊतक मे होते है। प्रत्येक आंख मे छ पेशिया होती है, जिनमें से प्रत्येक नेत्र-गोलक की एक पृथक् गति उत्पन्न करती है। प्रत्येक आख को ऊपर-नीचे लाया, नाक की ओर और सिर की ओर लाया तथा घुमाया जा सकता है। चूकि दोनो आंखे आमतौर पर समन्वित गति करती है, इसलिए यह आशा की जानी चाहिए कि एक जटिल पर सूक्ष्म नियंत्रण-विन्यास उनकी गतियो को नियमित करने के लिए आवश्यक होगा।

आनन-पेशियां अपनी मूलिकाओं पर खोपडी के सामने की हड्डियो से और अपने निवेशो पर मुख की त्वचा से संयोजित होती है। कुछ पेशियो की मूलिकाएं तथा निवेश दोनो ही त्वचा पर होते है। ये पेशिया त्वचा के भागो को विभिन्न दिशाओ मे खीच सकती है और इसलिए ये विभिन्न मुखाभिव्यक्तियों की निमित्त होती हैं।

देह की कुछ और पेशियो के निवेश भी त्वचा मे होते है। अंस-फलक से कमर की त्वचा तक फैली पेशी की तह इसी तरह की पेशी की मिसाल है। आदमी की अपेक्षा यह घोड़े तथा गाय-जैसे जन्तुओ में अधिक मूल्यवान् है; क्योंकि यही वह पेशी है जिसके कारण उनकी खाल फड़कती है, जैसा कि हमने-आपने इन जतुओं की पीठ पर किसी मक्खी के वैठ जाने पर होता देखा होगा।

संधियों (जोड़ों) की बनावट—जैसा कि अभी ऊपर बताया गया है, अधिकांश पेशिया दोनो सिरो पर हड्डियो से जुडी होती है। इस प्रकार वे जब कुंचित होती है, तो हड्डी गति करती है। कोई हड्डी जो गतिया कर सकती है, वे इस बात पर निर्भर करती है कि वह दूसरी हड्डी से किस प्रकार की सन्धि या सन्धि-स्थल का निर्माण करती है। वे जिन हड्डियो की सतहों पर सधित होती है, उन पर चिकनी उपास्थि की एक परत मढी होती है। जब एक हड्डी दूसरी हड्डी के विपरीत दिशा मे गति करती है, तो यह चिकना अस्तर घर्षण को काफी कम कर देता है। दोनो हड्डियो के बीच अवकाश होता है, जिसे 'सधि-कोटर' कहते है, जिस पर एपिथीलियम कोशिकाओं की एक परत मढी होती है। ये कोशिकाए एक जलीय तरल स्रवित करती है, जो सधि के गतिशील भागो को स्नेहित करने का काम करता है। यदि ये कोशिकाए क्षोभित या प्रदाहित हो जाती है, तो इसके फलस्वरूप सामान्य से अधिक स्राव हो सकता है और तरल संधि-कोटर मे सचित हो सकता है (उदाहरण के लिए 'घुटने पर पानी' आ जाना)। कोटर से गुजरने-वाले संयोजी ऊतक के घने गुच्छे स्नायु है, जो हड्डी को हड्डी से जोडते है।

हड्डिया एक-दूसरी के साथ ककाल मे जिन सधि-स्थलो का निर्माण करती है, उनके तीन प्रकार है—'अचल संधिया', 'अशत चल संधिया' और 'अबाध चल सधिया'।

कुछ हड्डिया इतनी दृढतापूर्वक सगलित होती है कि कोई भी गति सभव नही होती। वे जिन रेखाओं पर एक-दूसरी से सम्बद्ध होती है, वे अब भी दृश्य रह सकती है और वे बहुत-कुछ ऐसी ही दीखती है, जैसी कि दो कपड़ो को आपस मे सी देने पर उनकी सिलाई नजर आती है और इसीलिए इन्हे 'सीवन' या 'संधिरेखा' कहा जाता है। इस प्रकार की सधिया खोपडी की हड्डियो मे और उन तीन सगलित अस्थियो मे मिलती है, जो श्रोणि की 'अनामी अस्थि' का निर्माण करती है। खोपड़ी की हड्डियो का सगलन कपाल-गुहा को कसकर बद कर देता है और मस्तिष्क की रक्षा करता है। श्रोणि-मेखला के ठोसपने से वह मजबूत आधार उत्पन्न होता है, जो इस प्रदेश मे देह के ऊपरी भाग के बोझ को सहारने के लिए आवश्यक है।

'अशत चल सधिया' विशेपकर रीढ की हड्डी के कशेरुको के बीच पाई जाती है। इस प्रकार की सधिया एक हड्डी को दूसरी की सतह पर से खिसकने तो देती है, किन्तु एक-दूसरी पर अबाध गति नही करने देती। धड की मुडने-तुडने की गतिया, विशेपकर तब जबकि धड को सीधा नही रखा जाता है, कशेरुको के एक-दूसरे पर खिसकने से सभव हो पाती है। यदि कशेरुक कदाचित् संगलित हो जाएं तो हमें या तो हर समय अपने को तानकर रखना होगा या कशेरुको को तडकाने की जोखिम लेनी होगी। कलाई तथा एडी मे की छोटी-छोटी हड्डिया (मणि-बधिकाएं तथा गुल्फिकाए) इसी प्रकार संधित होती है।

हड्डियो को गति करने की आपेक्षिक स्वतंत्रता देनेवाली संधियों को तीन उपवर्गो मे रखा जा सकता है। एक प्रकार वह है, जो घूर्णन के केवल एक ही अक्ष पर गति होने देता है। दूसरा वह है, जो घूर्णन के दो अक्षो पर गति होने देता है। तीसरा वर्ग गति की अधिकतम स्वतन्त्रता प्रदान करता है—वह घूर्णन के तीनों ही अक्षों पर गति होने देता है। संधियो के अध्ययन का सबसे अच्छा तरीका इन गतियो को खुद अपने पर ही आजमाना है।

एक घूर्णाक्षवाली सधियां—जिस सन्धि का केवल एक घूर्णाक्ष होता है, वह 'कोर-संधि' कहलाती है। ऊर्वस्थि तथा प्रजघिका की सन्धि—घुटने का जोड या जानु-सन्धि—इसी प्रकार की है। यह पैर के निचले भाग के आकुचन तथा वितान को संभव बनाती है। बाह मे 'प्रगंडिका' तथा 'अंत:प्रकोष्ठिका' का संधि-स्थल भी इसी प्रकार का है और कुहनी पर बांह के निचले भाग का आकुचन तथा वितान सभव बनाता है। हाथ तथा पैर की उगलियो की पहली तथा दूसरी और दूसरी तथा तीसरी अंगुलास्थियों के बीच अन्य कोर-सन्धिया है।

दो घूर्णाक्षवाली संधियां—दो अक्षों पर घूर्णन होने देनेवाली सधि की एक अच्छी मिसाल खोपडी की पश्चकपालास्थि और गर्दन के पहले कशेरुक शीर्षधर, जिस पर खोपड़ी आधारित है, का संधि-स्थल है। यह सधि सिर की छाती तथा पीठ की गति (एक अक्ष पर) के और दोनो कंधो की ओर गति (दो अक्षो पर) को सभव बनाती है। हममे मे कुछ लोग अपने पैर के पंजों को मोड़ सकते है और फैला भी सकते है। ऐसे लोगो की पहली अंगुलास्थियों और प्रपदास्थियो या अनुगुल्फिकाओ की सधियां इसी श्रेणी मे आती है; अन्य लोग पंजो को केवल आकुंचित ही कर सकते है और इसलिए इस प्रदेश मे उनके केवल एक ही क्रिया-शील कोर सधि होती है।

तीन घूर्णाक्षवाली सधिया—अनेक दिशाओ में गति होने देनेवाले संधि-स्थल भिन्न-भिन्न प्रकार के होते है। कुछ संधिस्थल अन्यों की अपेक्षा क्रिया को अधिक सीमित करते है और इन्हे 'विवर्तिका संधि' कहा जाता है। इस तरह की सधियो की एक मिसाल बाह मे प्रगडिका तथा बहि.प्रकोष्ठिका की संधि है, जो हाथ का हथेली से ऊपर की ओर या हथेली से नीचे की ओर की स्थिति मे मोड़ा जाना सभव बनाती है। इसका एक और उदाहरण 'शीर्षधर' तथा गर्दन के दूसरे कशेरुक 'अक्षास्थि' की संधि है, जो सिर की कीलकीय गति को संभव बनाता है।

क्रिया को सबसे कम बाधित करनेवाली संधिया 'असफलक' तथा 'प्रगंडिका' की अस-सधि या स्कध-संधि तथा 'श्रोणि-मेखला' व 'ऊर्वस्थि' की श्रोणि-सधि या नितंब-सधि है। ये 'उलूखल-सन्धिया' या 'कदुक-उलूखल-सन्धिया' है और ये हाथों तथा पैरो की लगभग सभी दिशाओं मे गति होने देती है।

अन्य सन्धिया भी गति की पर्याप्त स्वतन्त्रता देती है। 'प्रजघिका' तथा

'गुल्फिकाओ' या 'प्रपदोपास्थियो', 'अत'प्रकोष्ठिका' तथा 'बहि प्रकोष्ठिका' व 'मणिवधिका' और उगलियो तथा अगूठो की अगुलास्थियो और करभास्थियो की सधिया ऊपर-नीचे, इधर-उधर और घूर्णक गतिया होने देती है।

यद्यपि हड्डियों की गतिया सन्धिया होने देती है, तथापि इस प्रकार की गति का चालक बल तो पेशियो के कुचन से ही प्राप्त होता है। किसी भी एक गति के निष्पादन मे अनेक पेशिया सन्निहित हो सकती है—कुछ कुचित होती है, तो कुछ शिथिलित। सहकार्यकारी और विरोधी पेशियो की अतक्रिया गति के उन सूक्ष्म क्रमो और बारीकियो की कारण है जो कि मनुष्य तथा अनेक उच्चतर जतुओ की लाक्षणिकता है।

साधारण श्रम में क्या होता है ?

साधारण श्रम (घर का काम-काज, हलकी चाल से चलना-फिरना, आदि) के आरभ मे ककाल-पेशिया पहले की अपेक्षा अधिक सक्रिय हो जाती है। घटनाओ के एक क्रम के फलस्वरूप रुधिर का प्रवाह बढ जाता है, जिससे सक्रिय पेशियो को ऑक्सीजन तथा ईधन की अधिक प्रदाय होने लगती है। पेशी-सक्रियता के साथ-साथ पेशी-उपापचयन में भी वृद्धि होती है। वर्धित उपापचयन का अर्थ है अधिक ऊष्मा-उत्पादन और स्वय पेशियो का बढा हुआ ताप। पेशियो के गरम हो जाने से उनके द्वारा किए जानेवाले कार्य की दक्षता बढ जाती है। दैहिक ताप यदि बढा भी, तो वह सभवत. सक्रियता के प्रारभ के समय बहुत ही थोडी अवधि के अलावा अधिक नही बढेगा। पेशियो से जानेवाला गरम हुआ रुधिर थोडी ही देर मे अधश्चेतक मे स्थित ऊष्मा-अवनयन केन्द्र पहुच जायेगा। त्वक-वाहिकाओ का प्रतिवर्ती विस्फारण विकिरण द्वारा अधिक ऊष्मा-विलोप होने देगा, और इस प्रकार वर्धित ऊष्मा-उत्पादन को सतुलित कर देगा।

वर्धित पेशी-उपापचयन का अर्थ ग्लूकोज के वर्धित ऑक्सीकरण के फल-स्वरूप कार्बन डाई-ऑक्साइड का अधिक उत्पादन भी होगा। पेशियो की छोटी रुधिर-वाहिकाओ मे कार्बन डाई-ऑक्साइड की अधिक मात्रा विसरित होगी और एक बार वहा पहुंचने के साथ वह इन वाहिकाओ की भित्तियो मे चिकनी पेशी के तन्तुओ को सीधे शिथिलित करेगी। उनके तज्जनित विस्फारण से ककाल-पेशियो से होकर अधिक रुधिर अधिक तेजी के साथ प्रवाहित होने लगेगा।

रुधिर मे कार्बन डाई-ऑक्साइड की बढी हुई मात्रा केवल स्थानीय क्रिया ही नही करेगी, वरन् वह अपनी मात्रा के दौरान परिवहन तथा श्वसन-तन्त्रो से की गई अपेक्षाओ के प्रति उनकी सामान्य अनुक्रियाओ को समन्वित करने मे भी सहायक होगी। मस्तिष्क की अतस्था मे से प्रवाहित होनेवाले रुधिर का वर्धित कार्बन डाई-ऑक्साइड साद्रण वाहिका-सकोचक तथा प्रश्वास-केन्द्रो को प्रत्यक्षत उद्दीपित कर देता है। प्रश्वास-केन्द्र इसकी अनुक्रिया अपने द्वारा तालबद्धता से

निरावेशित आवेगों की आवृत्ति मे वृद्धि द्वारा करता है। मध्यच्छद तथा पर्शुकांतर पेशियो को अंततः आवेशों की जो वर्धित संख्या पहुंचती है (क्रमशः मध्यच्छद तथा पर्शुकांतर तंत्रिकाओ द्वारा), वह सामान्य से अधिक तीव्र कुंचन उत्प्रेरित करती है। इस प्रकार श्वसन ज्यादा गहन हो जाता है। हृदय को रुधिर की वापसी मे वृद्धि करने मे अन्य कारक भी सहयोग दे रहे हैं—हृत्पद बल, हृद्-निपज तथा रुधिर-दाब।

इसी बीच श्वसन की गहनता मे वृद्धि श्वसन-गति को बढाने का यत्न करती है। हर प्रश्वास के समय फुपफुस-भित्तियों का अधिक खिचाव भित्ति मे स्थित संग्राहको को अधिकाधिक उद्दीपित करता है, वेगस-तन्त्रिका के अभिवाही तंतुओ पर होकर उच्छ्वास-केन्द्र को अधिक आवेग जाते है, जो सामान्य श्वसन की अपेक्षा प्रश्वास-केन्द्र को अधिक तेजी के साथ अवरुद्ध कर देता है। प्रश्वसन के छोटे हो जाने से श्वसन-चक्र त्वरित हो जाता है।

तीव्रतर तथा गहनतर श्वसन फेफड़ों को ज्यादा अच्छी तरह से संवातित करता है। इस प्रकार उच्छ्वसित वायु मे अधिक कार्बन डाई-ऑक्साइड निष्कासित होती है, जिससे रुधिर मे इसका सांद्रण अत्यधिक नही हो पाता। (कार्बन डाई-ऑक्साइड की अत्यधिकता रुधिर की अम्लता को बढाकर खतरनाक बना सकती है)। रुधिर मे पहले की अपेक्षा अधिक ऑक्सीजन नही होगी, क्योंकि सामान्य श्वसन के दौरान ही रुधिर इससे लगभग संतृप्त होता है, लेकिन चूंकि रुधिर-परिवहन त्वरित हो जाता है, इसलिए श्रम के आरम्भ होने के पहले की अपेक्षा अब प्रति मिनट अधिक ऑक्सीजन रुधिर में प्रवेश करती है।

जिन युक्तियो की हमने अभी चर्चा की है, वे कंकाल-पेशियो को रुधिर का अधिक तेजी और ज्यादा दाब के साथ प्राप्त होना सुनिश्चित कर देती हैं। तीव्रतर परिवहन के कारण पेशियो को प्रति मिनट अधिक ऑक्सीजन मिलती है और अधिक कार्बन डाई-ऑक्साइड निष्कासित होती है। प्रश्न यह है कि ग्लूकोज-पूर्त्ति का क्या होता है ?

सक्रिय पेशियो मे ताप के बढ जाने से वे पहले की अपेक्षा अधिक ग्लूकोज का और अधिक तेजी के साथ ऑक्सीकरण करती है। इससे रुधिर का शर्करा-सान्द्रण कम होने लगता है। चूंकि रुधिर मे की शर्करा यकृत् मे के ग्लाइकोजन के साथ साम्यावस्था में होती है, इसलिए रुधिर के शर्करा-सान्द्रण मे गिरावट के फलस्वरूप अधिक ग्लाइकोजन ग्लूकोज मे खडित होता है, जो रुधिर मे विमुक्त हो जाता है। पेशिया जैसे-जैसे रुधिर से अधिकाधिक ग्लूकोज खीचती जाती है, रुधिर में यकृत् से और अधिक ग्लूकोज आता जाता है। इस प्रकार पेशियो को ईंधन की पूर्ति करने के लिए एक समुचित युक्ति मौजूद है।

साधारण श्रम मे ऑक्सीजन-पूर्ति उपयोग मे आई ऑक्सीजन के बराबर चल सकती है और फलस्वरूप ऑक्सीजन-न्यूनता नही होती। इसके अवशिष्ट

प्रभाव मात्र यह होगे कि उपलभ्य कार्बोहाइड्रेट का ह्रास होगा तथा सक्रियता के दौरान विखडित कोशिकाओ के पुर्ननिर्माण मे उपयोग के लिए अधिक प्रोटीनो की आवश्यकता होगी ।

सख्त श्रम में क्या होता है ?

हमारे सख्त श्रम के लिए तैयार होने के साथ-साथ आमतौर पर हमारा मानसिक और भावात्मक 'गरमाना' होता है। पूर्व अनुभवो से उत्पन्न स्मृतिया तथा भावनाए—विशेषकर यदि श्रम मे किसी-न-किसी प्रकार की होड या प्रतियोगिता सन्निहित हो, तो—तत्रिका-तत्र को उद्वेलित करके उसकी 'गति' को तेज कर देती है। यह देह को उससे शीघ्र ही की जानेवाली अपेक्षाओ के लिए प्रस्तुत कर देता है। आत्मनिष्ठ भावनाए स्वायत्त प्रभाव उत्प्रेरित कर सकती है—विशेषकर अनुकपी विभाग द्वारा व्यवहित ऐसे समय में तीव्रतर श्वसन और आखो के तारो का विस्फरण कोई असामान्य वाते नही है। देह तथा दिमाग का इस प्रकार समन्वित होना अक्रियता से सक्रियता की अवस्था के संक्रमण को अधिक क्रमिक और इस प्रकार का वनाने मे सहायक होता है कि जिससे हमारी क्षमताओ पर अचानक जोर पडने की सभावना कम होती है।

साधारण श्रम मे होनेवाले जिन परिवर्तनो का ऊपर वर्णन किया गया है, वे सख्त श्रम मे भी होते है। आप सोचते होगे कि परिवर्तन और भी अधिक होते होगे, किन्तु जहा अतर होता भी है, वहा वह प्रकार की अपेक्षा अश का अधिक होता है। हृद्-गति तीव्रतर, रुधिर-दाव उच्चतर, श्वसन तीव्रतर तथा गहनतर और रुधिर-परिवहन-काल साधारण श्रम की अपेक्षा अधिक तेज हो जाता है।

सख्त श्रम मे ऊष्मा-उत्पादन भी कही अधिक बढ जाता है। तथापि इस स्थिति मे दैहिक ताप अपने साधारण स्तर पर नही बना रहता। ऊष्मा-उत्पादन इतना अधिक हो जाता है कि अत्यधिक स्वेद-स्राव होने के वावजूद ऊष्मा-विलोप युक्तिया उसे प्रतिसतुलित नही कर पाती। दैहिक ताप बढ जाता है और फिर श्रम की अवधि-भर और उसके वाद भी कुछ समय तक एक नए, उच्चतर स्तर पर स्थित रहता है।

अधिवृक्क-प्रातस्था से ऐड्रिनलिन मुक्त होकर श्वसन तथा परिवहन-परिवर्तनो मे सहायता दे सकती है। यह जठरीय ग्लाइकोजन से ग्लूकोज की उन्मुक्ति मे भी सहायक होगी और ककाल-पेशियो की थकान को विलवित करेगी।

अत्यधिक श्रम की स्थिति को कायम रखने मे सर्वाधिक सीमाकारी कारक ऑक्सीजन-पूर्ति है। प्लीहा चाहे उद्दीपित होकर कुचित होने और रुधिर मे लाल रुधिर-कोशिकाओ को उन्मुक्त करने लगती है (जिससे रुधिर की ऑक्सीजन-धारिता बढ जाती है), पर ऑक्सीजन का अंतर्ग्रहण पेशियो के तकाजे की पूर्ति नही कर पाता। पर्याप्त ऑक्सीजन के विना थकान आने लगती है। कोई व्यक्ति ऑक्सीजन की कितनी कमी बरदाश्त कर सकता है, इसकी एक सीमा होती है,

और जब यह सीमा आ जाती है, तो श्रम रुक जाना चाहिए।

श्रम के पूरा हो जाने के बाद भी श्वसन साधारण अवस्था की अपेक्षा तब तक तीव्रतर तथा गहनतर रहता है कि जब तक कमी पूरी नहीं हो जाती।

प्रशिक्षण के प्रभाव

आप अपने अनुभव और प्रेक्षण से जानते है कि आमतौर पर प्रशिक्षित व्यक्ति अपने विशिष्ट कार्य को अप्रशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक दक्षतापूर्वक कर सकता है। प्रशिक्षण का दक्षता पर क्योकर प्रभाव पड़ता है ?

पेशीय कार्य के लिए प्रशिक्षण की अवधि मे व्यक्ति अपनी पेशियो के आकार को बढा लेता है। ऐसा पृथक्-पृथक् तन्तुओ की सख्या मे वृद्धि के बजाय पृथक्-पृथक् तन्तुओ के आकार मे वृद्धि द्वारा होता है। बड़ी पेशिया अधिक काम कर सकती है।

शारीरिक प्रशिक्षण के अनेक लाभ परिवहन तथा श्वसन-तन्त्रो मे आये परिवर्तनो के कारण होते है। प्रशिक्षित व्यक्ति का हृदय अप्रशिक्षित व्यक्ति के हृदय की अपेक्षा अधिक बलपूर्वक स्पदित हो सकता है और वह साधारणतः उतनी ही सक्रियता के लिए धीमी गति से स्पदन करता है। हृद्-निपज को बढाने का यह उसकी वर्धित गति पर निर्भर करने की अपेक्षा अधिक दक्ष तरीका है। श्वसन-प्रभाव बहुत-कुछ इसी प्रकार के होते है—प्रशिक्षित व्यक्ति अप्रशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक गहराई से और कम तेजी से सास लेता है। इसके फल-स्वरूप श्वासधारिता मे जो वृद्धि होती है, उससे फेफड़ों का कही अधिक और ज्यादा लाभकर सवहन हो जाता है।

परिवहन तथा श्वसन-तन्त्रो की अधिक दक्षता के कारण ऑक्सीजन सक्रिय पेशियो को अधिक तेजी से ले जाई जा सकती है और उनसे मलो को अधिक तेजी से निष्कासित किया जा सकता है। इसका यह मतलब है कि प्रशिक्षित व्यक्ति बिना थके अधिक सख्त तथा अधिक देर तक काम कर सकता है। वह अप्रशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा अतिश्रम के प्रभावो से भी अधिक शीघ्रतापूर्वक संभल सकेगा।

वर्धित दक्षता का अधिकाश कार्य के समन्वय तथा निश्चितता मे उस वृद्धि का कारण है कि जो प्रशिक्षण के कारण विकसित होती है। ये प्रभाव केद्रीय तत्रिका-तन्त्र पर निर्भर करते है। इन क्रियाओ की पुनरावृत्ति उनकी प्रकृति को अधिकाधिक प्रतिवर्ती बना देती है (यहा आशय औपाधिक या अनुकूलित प्रति-वर्तो से है) और स्वय इससे उनका समन्वय सुधर जाता है। अप्रशिक्षित व्यक्ति प्रशिक्षित व्यक्ति की अपेक्षा अधिक शारीरिक तथा मानसिक भटकने खायेगा। उत्तम कार्य से आत्म-विश्वास मे जो वृद्धि होती है और उसके साथ-साथ जो समन्वय बढता है, उसका परिणाम निरायास और दक्ष सक्रियता होगा।

यद्यपि हम सभी को प्रशिक्षित खिलाड़ियो की क्षमताओं का अनुकरण

करने की इच्छा नही होती, तथापि यह जानकर कि यह अविकाशत. प्रशिक्षण का ही परिणाम है, हम संभवत अपने द्वारा किए जानेवाले कम भारी कामो के करने के लिए अपनी दक्षता को बढा सकते है। मध्यम और सतत व्ययाम से हम केवल अच्छा ही अनुभव नही करते, वरन् यह हमारी देह को इस योग्य बनाने मे भी सहायक हो सकता है कि वह अपने से की जानेवाली अपेक्षाओ के लिए समुचित सिद्ध हो सके।

अध्याय 16

थकान, आराम और नींद

थकान (श्राति) और आराम (विश्राति) की घटनाए अत सवधित है और ये वडी रुचिकर तथा महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन काल से मनुष्य इनपर विचार करता रहा है, तिसपर भी कुछ प्रश्न आज भी पहेलिया ही वने हुए है। इस वात को हम किसी हद तक समझ सकते है कि कोई अग या तत्र क्योकर विशेप थक जाता है। किंतु देह के भागो के सभलने के लिए आवश्यक सभी पोपकों की पूर्ति कर दिए जाने के वाद भी हमे विश्राम की आवश्यकता क्यो पड़ती है ? हम कुछ दिन से अधिक विना सोये क्यो नही रह सकते ? कुछ व्यक्तियो को अन्यो की अपेक्षा अधिक निद्रा की क्यो आवश्यकता होती है ? नीद किस कारण आती है ? इनमे से कुछ प्रश्नो के हमारे पास केवल अस्पप्ट उत्तर ही है, जवकि कुछ के कम से कम आशिक उत्तर हमारे पास है।

थकान

जीवधारी अग का लगभग हर भाग ही अपनी सक्रियता के लवा कर दिए जाने पर श्रात हो जाएगा। श्राति के आने मे कितना समय लगेगा, यह वात इस-पर निर्भर करेगी कि उसमे सन्निहित ऊतको की विशेप लाक्षणिकताए क्या है, रुधिर द्वारा उन्हे ऑक्सीजन तथा अन्य पोपको की कितनी पूर्ति हो रही है, उनके उपापचयन से उत्पन्न मलो को कितनी तेजी के साथ निष्कासित किया जा रहा है, उनके पास ईधन-द्रव्यो की कितनी उपलव्धि है और उनके पर्यावरण की क्या अवस्था है। दूसरे शव्दो मे, सक्रियता का जारी रहना और श्राति मे विलंव स्वयं अपनी और समूचे शरीर की क्रियात्मक योग्यता पर निर्भर करते है।

श्राति का ऊतको के लिए और हमारे लिए एक वड़ा निश्चित मूल्य है। यह हमे सक्रियता को उस हद तक जारी रखने से रोकती है कि ऊतक का अत्यधिक विघटन हो जाए, क्योकि हो सकता है कि इस ऊतक की प्रतिस्थापना न हो पाये। इसलिए हम देखते है कि अधिक मूल्यवान् ऊतक या तो वार-वार की सक्रियता से जल्दी श्रात हो जाते है, या फिर उनमे इस प्रकार के अतर्निहित यत्र-विन्यास होते है कि जो अनेक प्रकार की परिस्थितियो मे होनेवाली श्रांति को रोकते है।

साधारणत उच्च उपापचयन गतिवाले ऊतक सवसे जल्दी श्रात होते है। इस प्रकार जव केंद्रीय तत्रिका-तत्र से अत्यधिक काम लिया जाता है, तो वह वहुत जल्दी श्रात हो जाता है। तत्रिका, पेशी तथा स्वायत्त तत्रिका-तत्र के दूरस्थ भाग यदि क्लात होते भी है, तो अधिक धीरे-धीरे।

क्लात पेशी की श्राति के बारे मे हमे सबसे ज्यादा जानकारी है। यहा यह निश्चित रूप से उपापचयी अवशिष्ट द्रव्यो के संचय के कारण होती जान पड़ती है। इनके अत्यधिक उच्च साद्रण से पेशी की उत्तेजनशीलता तथा आकुचनक्षमता अवनत हो जाती है और यह दोनो को ही खत्म कर सकता है।

वर्धित अपशिष्ट द्रव्य-साद्रण से आकुचनशील सक्रियता क्योकर अवनत या समाप्त हो जाती है, यह एक ऐसा प्रश्न है जिसका अभी उत्तर नही दिया जा सका है। हम इतना जानते ही नही कि कोई अच्छा कारण दे सके। ज्ञान की इसी अपूर्णता के कारण हम अन्य अगो तथा ऊतको मे श्राति की समझ नही ग्रहण कर पाते।

जब ऊतक श्रात होते है, तो हम साधारणत: यह सोचते है कि वे अधिक उपयोग के कारण परिक्लात हो गए है। उदाहरण के लिए, किसी ग्रथि को लबी अवधि तक सक्रियता के लिए उद्दीपित करके उसके स्रवण को वद करवाया जा सकता है। या सीमातीत कार्य करने पर लाल अस्थि-मज्जा लाल रुधिर-कोशिकाओ का उत्पादन करना वद कर सकती है। इन जैसे मामलो मे परिक्लांति का कारण अशतः तो यह है कि उस ऊतक द्वारा उत्पन्न किये जानेवाले विशिष्ट पदार्थ के विस्तरण के लिए पूर्ति न्यूनित हो जाती है या पूरी तरह से नि.शेष हो जाती है। अन्य उपापचयी प्रभाग भी इस परिस्थिति को उत्पन्न करने मे सहायक हो सकते है और सभवत' हे भी।

सख्त परिश्रम के वाद थकावट की भावना किस कारण उत्पन्न होती है, यह एक और अनसुलझी समस्या है। दैहिक अवस्थाओ मे परिवर्तन का तंत्रिका-तत्र पर प्रभाव नि सदेह एक महत्त्वपूर्ण कारक है। भावात्मक तथा मानसिक प्रक्रियाएं इन अवस्थाओं पर निश्चित रूप से अच्छा या वुरा प्रभाव डाल सकती है।

विश्राम तथा नींद

जब हम थके होते है, तो हमे सोने की, या कम से कम आराम करने की इच्छा होती है। विश्राम तथा निद्रा मे एक निश्चित अतिजीवनोपयोगी मूल्य है। इनके विना हम वहुत दिन नही जी सकते। यह पाया गया है कि चौदह या अधिक दिनों की अनिद्रता के वाद जतु मर गए। इन जंतुओ के मस्तिष्को की परीक्षा करने पर मस्तिष्क-प्रातस्था के न्यूरॉनो मे सिकुडने तथा अन्य परिवर्तन देखने में आए।

घातक प्रभाव सहे विना मनुष्य कितने समय तक जागृत रह सकते है, यह ज्ञात नही। कुछ वैज्ञानिको ने अपने-आप पैदा की जागृतावस्था को पाच दिन तक जारी रखा है। उन्होने पाया कि पहले कुछ दिनों के वाद जागे रहना वहुत ही कठिन है। इसका अकेला सभव उपाय कुछ पेशियो को सक्रिय रखना है। जैसीकि हमे प्रत्याशा होगी, वढती पेशी-तत्रिका-श्राति के प्रमाण मिले। स्वभाव मे तेजी आ गई और परीक्षागत व्यक्ति जरा-जरा-सी वातो पर नाराज होने और चिड़चिड़ाने लगे। अन्यथा कोई हानिकर प्रभाव देखने मे नही आए।

विश्राम की अल्प अवधियां निश्चित रूप से श्रांत ऊतकों को पुनः संभलने देती है। लेकिन यह क्यों आवश्यक है कि हम इतना सोते है, जितना कि हममे से अधिकांश को ज़रूरी लगता है ? यदि यह मात्र खोए हुए बल को पुन. प्राप्त करने के लिए और जागरण की अवस्था मे होनेवाली विघटन-प्रक्रियाओं के प्रभाव से मुक्त होने के लिए ही है, तो हम यह आशा करेंगे कि हम नींद से बहुत ही ताजगी लेकर उठेगे और अधिकतम क्षमता के साथ काम कर पाएगे। लेकिन प्रयोगो से यह पता चला है कि कुशल कार्यो का अधिकतम निष्पादन सोकर उठने के तुरत बाद नही होता, प्रत्युत बाद में (रात मे सोने और सुबह काफी जल्दी उठनेवाले व्यक्ति मे तीसरे पहर) होता है।

एक और चकरानेवाला पहलू यह है कि निद्रा अनिवार्यतः केवल श्रांति के बाद ही नही आती। हम तब भी सो सकते है कि जब तनिक भी श्रांत नही होते। क्या ऐसी निद्रा का भी कोई मूल्य है ? निद्रा-प्रक्रियाएं जिन समस्याओं को सामने लाती है, उनकी बेहतर समझ पाने की कोशिश करने के लिए हमे निद्रा के दौरान होनेवाली कुछ चीजों की, और उनकी व्याख्या के लिए प्रस्तुत कुछ सिद्धांतो की परीक्षा करनी चाहिए।

निद्रा के दौरान होने वाले परिवर्तन—निद्रा के दौरान देह की अनेक सक्रियताएं अपने न्यूनतम स्तर पर आ जाती है। हृद्-गति कम हो जाती है, रुधिर-दाब गिर जाता है, और श्वसन धीमा तथा अधिक अनियमित हो जाता है। चयापचय-गति किसी भी अन्य समय की अपेक्षा मंदी हो जाती है, विशेषकर इस-लिए कि पेशी-सक्रियता भी अपने न्यूनतम स्तर पर होती है। इसी के साथ दैहिक ताप मे भी आमतौर पर कुछ गिरावट आती है और ताप-नियामक प्रक्रमों का भी कुछ अवनयन हो जाता है।

सग्राहको की प्रभाव-सीमाएं ऊची हो जाती है और सवेदनो तथा अधिकाश प्रतिवर्तो को उत्पन्न करने के लिए तीव्रतर उद्दीपनो की आवश्यकता पड़ती है। कुछ अत:संवेदी प्रतिवर्त—वस्तुतः कही आसानी से उत्प्रेरित किए जा सकते है।

अश्रु तथा लाल-स्राव कम हो जाते है, लेकिन स्वेद-स्राव मे खासी वृद्धि हो जाती है। आमाशय-रस के स्राव में विशेप अतर नही आता। आमाशयिक आकुं-चन तथा पाचन सामान्यरूप से चलते रहते है।

नीद की गहराई मे खासा वैभिन्न्य होता है, आमतौर पर पहले घण्टे के अंत पर नीद सबसे गहरी होती है। इसके बाद यह हलकी हो जाती है—पहले काफी तेजी के साथ, और उसके बाद शनैः-शनैः और जागने के समय तक इसी प्रकार हलकी होती जाती है। गहरी नीद मे स्वप्न नही आते और सभी गतिया न्यूनतम स्तर पर ही रहती हैं। स्वप्न सबसे ज्यादा जागने के समय के पास ही आते है और यदि वे उत्तेजक हुए (दु.स्वप्न, आदि) तो वे निद्रा मे होनेवाले परिवर्तनो के विपरीत परिवर्तन उत्पन्न कर सकते है—तीव्र हृद्-गति, उच्च रुधिर-दाब, त्वरित श्वसन, जठरीय चरता का अवरोधन, आदि।

निद्रा के सिद्धांत—प्राचीन यूनानियो के समय से मनुष्य ने निद्रा की प्रकृति के बारे मे सोचा-विचारा है। निद्रा के बारे मे प्रस्तुत कुछ सिद्धात एकदम अजीब है, तो कुछ अपूर्ण प्रमाणो पर आधारित है। कुछ सिद्धात देखने मे ठीक लगते है, लेकिन केवल एक ही सिद्धात ऐसा है जो अधिकतम सभव ज्ञात तथ्यो को एक ऐसी योजना मे व्यवस्थित करने का व्यापक प्रयास करता है जिसके भविष्य मे पुष्ट होने की आशा की जा सकती है।

एक सिद्धात के अनुसार निद्रा को वाहिका-सकोचक केंद्र की शाति के कारण आती बताया गया था, जिसके परिणामस्वरूप त्वक्-वाहिकाओ का वाहिका-विस्फारण हो जाता है। इससे मस्तिष्क पहुचनेवाले रुधिर का विशाखन हो जाता है और प्रमस्तिष्कीय रुधिर-प्रवाह मे कमी निद्रा उत्पन्न कर देती है। तथापि वाद मे यह दिखा दिया गया कि निद्रा मे मस्तिष्क का रुधिर-प्रवाह कम नही होता।

सिद्धातो के एक समूह का केंद्र बिंदु कुछ ऐसे रासायनिक द्रव्यो का उत्पादन था कि जो निद्रा उत्प्रेरित करते है। कुछ का विश्वास था कि निद्रा श्रातिजन्य उत्पादो के कारण आती है। दिन-भर की सक्रियता के दौरान इन द्रव्यो का सचय धीरे-धीरे रुधिर मे उनके साद्रण को इस सीमा तक ले जाता है कि वे चेतना-लुप्त और निद्रा को उत्प्रेरित कर देते है। किंतु ऐसे सिद्धांतो के प्रति गभीर आपत्तिया उठाई गई है—निद्रा श्राति के विना भी आ सकती है या यह काफी श्राति हो जाने पर भी नही आ सकती है।

यह ज्ञात है कि मनुष्य के अधश्चेतक मे घाव या क्षतस्थल होने के फलस्वरूप रोगियो को प्राय. अत्यधिक नीद आती है। अधश्चेतक के एक प्रदेश का उद्दीपन करके देखा गया और इस बात के दावे किए गए कि इस प्रक्रिया द्वारा प्रयोगगत जतुओ मे निद्रा उत्प्रेरित हुई। बाद के काम से पता चला कि यद्यपि अधश्चेतक मे निद्रा तथा जागरण से सबद्ध एक केंद्र है, पर यह कोई निद्रा-केंद्र नही है। मतलब यह कि इस केंद्र के उद्दीपन से निद्रा नही उत्पन्न होती। इस केंद्र के विनष्ट कर देने से लंबी निद्रा के रेले आने लगे। इसलिए इस केंद्र को एक जागरण-केंद्र कहना अधिक ठीक है। हम जल्दी ही इस केंद्र की सभाव्य सार्थकता देख लेगे।

रूसी कायिकीविद् पावलोफ ने औपाधिक (अनुकूलित) प्रतिवर्तो पर अपने कार्य के फलस्वरूप इस सिद्धात का निरूपण किया कि निद्रा एक निरोधी औपाधिक प्रतिवर्त्त का परिणाम है—पुनरावृत एकस्वर उद्दीपन एक निरोधी औपाधिक प्रतिवर्त उत्पन्न कर देता है और प्रमस्तिष्क-प्रांतस्था के एक भाग की सक्रियता का निरोधन शेष प्रमस्तिष्क-प्रातस्था तथा शेष मस्तिष्क को फैलाकर चला जाता है। यद्यपि इस सिद्धात के पक्ष में कई बाते है, लेकिन यह इस महत्त्वपूर्ण तथ्य की व्याख्या नही करता कि निद्रा प्रमस्तिष्क-प्रातस्था की अनुपस्थिति मे भी आ सकती है और आती है। सच तो यह है कि अपनी प्रमस्तिष्क-प्रातस्था से हीनित कुत्ता लगभग दिन-भर सोया ही किएगा।

निश्चय ही प्रमस्तिष्क-प्रातस्था निद्रा के प्रश्न मे सन्निहित है, क्योंकि निद्रा

में चेतना के विलोप, और इसलिए, प्रांतरथा-सक्रियता का समावेश है। यह भी निश्चित ही लगता है कि अधश्चेतक भी संबंधित है। क्लाइटमैन द्वारा प्रस्तावित सिद्धांत निद्रा की उत्पत्ति में तंत्रिका-तंत्र के इन स्तरों में अंतःसंबंधों को दिखाने का यत्न करता है।

क्लाइटमैन के अनुसार निद्रा तब आरंभ होती है कि जब प्रमस्तिष्क-प्रांतस्था को पहुंचनेवाले अभिवाही आवेगों की संख्या बहुत कम हो जाती है। मिसाल के तौर पर, हम जानते हैं कि अंधेरे शांत कमरे में लेटना निद्रा लाने में बड़ा सहायक रहता है। इन परिस्थितियों में दृष्टि तथा श्रवण-आवेग न्यूनतम हो जाएंगे। लेकिन विशेष रूप से महत्वपूर्ण पेशियों से आनेवाले ऊतक-संवेदी आवेगों में कमी है। जब भी पेशियों में सक्रियता का जरा भी महत्त्वपूर्ण अंश होता है, उनसे प्रमस्तिष्क-प्रांतस्था को तंत्रिका-आवेगों का एक सतत प्रवाह आने लगता है। हम जब लेटते हैं, या बैठ भी जाते हैं, तो पेशियों में काफी शिथिलन आ जाता है। और ऊतक-संवेदी आवेगों की संख्या कम हो जाती है। इस प्रकार के आवेग के विशेष महत्त्व की और अधिक पुष्टि मनुष्य में पोषित जाग्रतावस्था पर किए प्रयोगों से हुई है। निद्रा की जो अकेली चीज निश्चित रूप से पेशबंदी कर सकती थी, वह थी पेशियों को सक्रिय रखना।

प्रांतस्था को पहुंचनेवाले संवेदी आवेग उसे सक्रिय कर देते हैं। प्रांतस्था अपनी बारी में अधश्चेतक में जागरण-केंद्र को आवेग भेजती है। जब तक इस केंद्र को प्रांतस्था-आवेग भेजे जाते हैं, जाग्रतावस्था बनी रहती है। यद्यपि जागरण-केंद्र की सक्रियता का पोषण सामान्यतः प्रमस्तिष्क-प्रांतस्था से आनेवाले आवेग करते हैं, तथापि अन्य प्रदेश से आनेवाले अभिवाही आवेग भी कभी-कभी इसे सक्रिय कर सकते हैं। ये अंतोक्त आवेग, आवश्यकीय प्रकृति के ही होने चाहिएं—भूख, प्यास, पीड़ा, पेशाब करने की इच्छा आदि के प्रतीक।

क्लाइटमैन-सिद्धांत का एक विकासवादी पक्ष भी है। उनका दावा है कि हो सकता है कि जाग्रतावस्था के बजाय निद्रा ही 'नैसर्गिक' अवस्था हो। यदि हम मनुष्य से निम्नतर जंतुओं के बारे में सोचें, तो हम देखते हैं कि उनमें से अधिकांश दिन में ज्यादातर सोते रहते हैं। लेकिन वे एक लंबी अवधि की नींद लेकर शेष दिन-भर जागे नहीं रहते। इसके बजाय वे दिन-भर में बिखरी अनेक लघुतर अवधियों में निद्रा लेते हैं। खरगोश-जैसे जंतु में जाग्रतावस्था की अवधियां भूख-प्यास, मलोत्सर्ग, काम-वृत्ति आदि-आदि मूलभूत आवश्यकताओं तथा इच्छाओं की तुष्टि को समर्पित होती है। प्रत्यक्षतः खरगोश केवल अत्यधिक तुरंत संवेदनों या आवेगों द्वारा ही जाग्रत रहता है। इस ढंग से उत्प्रेरित इस प्रकार की जाग्रतावस्था को क्लाइटमैन 'आवश्यकताजन्य जागरण' कहते हैं।

कुछ उच्चतर स्तनधारियों में प्रमस्तिष्क-प्रांतस्था जब कुछ अधिक सीमा तक परिवर्धित हो जाती है, तो एक अन्य प्रकार—'वरणजन्य जागरण'—की जाग्रतावस्था आ जाती है। इस प्रकार के जंतु अपने पर्यावरण में अधिक दिलचस्पी लेते

है और अपनी मूलभूत आवश्यकताओ की ही तुष्टि के अलावा अन्य प्रकार की गतिविधियो मे भी रत होते है। उदाहरण के लिए, वे अन्य चीजो के अलावा खेलना भी सीखते है। चूहे, कुत्ते तथा बिल्ली ऐसे जतुओ के उदाहरण है यद्यपि वे भी दिन के दौरान कई वार सोते है, पर निद्रावस्था के साथ जाग्रतावस्था का अनुपात वढ जाता है।

इनसे भी उच्चतर जतुओ—वंदर, वानर या वनमानुष और सवसे ऊपर, मनुष्य—मे वरणजन्य जागरण अधिकाधिक महत्त्वपूर्ण होता जाता है। मानसिक प्रक्रियाओं का विकास इन्हे मात्र इच्छाओ तथा आवश्यकताओं की ही तुष्टि करने की अपेक्षा कई और चीजे करने का अवसर देता है। मनुष्य मे इसकी चरम परिणति अधिकाश दिन जाग्रतावस्था मे विताने और निद्रा की एक मुख्य अवधि मे होती है।

मनुष्य मे दैनिक निद्रा स्पदलय उपाधियन या अनुकूलन के फलस्वरूप स्थापित होती है। वच्चो को—आयु बढने के साथ-साथ—रात मे सोना सिखाया जाता है। उन्हे एक निश्चित समय पर विस्तर मे लिटा दिया जाता है, कमरे को अधियारा और शांत वना दिया जाता है। पुनरावृत्ति से शयन के सामान्य समय का आगमन निद्रालुता की भावना उत्प्रेरित कर देता है—एक औपाधिक प्रतिवर्त्त स्थापित हो जाना है।

इस विकासवादी दृष्टिकोण की सपुष्टि-स्वरूप हम देखते है कि प्रमस्तिष्क-प्रांतस्थाहीन कुत्ता निद्रा के मामले मे अधिक पूर्वग अवस्था को पहुच जाता है। यह लगभग दिन-भर सोता रहता है, उठता तभी है कि जव पेशाव करने की आवश्यकता होती है या भूख लगती है, आदि। मानय-शिशु भी (जिसकी मस्तिष्क-प्रातस्था जन्म के समय अच्छी तरह काम नही करती) दिन के अधिकाश भाग सोता ही रहता है और उसकी अनेक निद्रा-अवधिया होती है, जिनका दिन या रात से कोई सवंध नही होता। उपाधियन द्वारा शिशु को रात मे अधिकाधिक सोना सिखाया जाता है। दैनिक निद्रा-स्पदलय शनै-शनैः विकसित कर दी जाती है।

क्लाइटमैन का सिद्धात हमे निद्रा की अन्य परेशानी मे डालनेवाली समस्याओ का समाधान करने मे सहायता दे सकता है। जैसाकि हम जानते है, ऊव या आक्लाति अथवा उकताहट या एकस्वरता की स्थितिया निद्रा को सरलतापूर्वक उत्प्रेरित करती है। ऐसा इसलिए होता है कि प्रमस्तिष्क-प्रातस्था मे आनेवाले आवेग लगभग समान कोटि और तीव्रता के ही होते है। प्रातस्था की सक्रियता उसके आगता आवेशो के सव्यूहन के ग्रहण करने पर निर्भर करती है। समान उद्दीपनो के मदकारी प्रभाव के कारण हम अपने पर्यावरण के प्रति उदासीन हो जाते है और फलत जागरण-केंद्र को कम आवेग भेजे जाते है। हम सो जाते है।

इसका एक विपरीत दृष्टात—दिन-भर के सख्त काम के वाद हमारी पेशिया एकदम श्रात हो चुकी हो सकती हे, पर किसी न किसी कारण, हमारी प्रातस्थाए

उद्दीपित होती है। ऐसी हालत में हमे सोने में कठिनाई होती है या हम इच्छा से जागे रह सकते है।

क्लाइटमैन का सिद्धांत अभी भी सिद्धांत ही है और अभी सिद्ध नही किया गया है। तथापि इसमे अपने पक्ष की काफी बातें नजर आती है और यह और भी अधिक प्रायोगिक कार्य की ओर ले जानेवाला सिद्ध होना चाहिए। समयान्तर से हमे एक ऐसी समस्या का पूर्ण उत्तर मिल जाना चाहिए कि जिसने मनुष्य को सदियो से चकित कर रखा है।

अध्याय 17

रोग से संरक्षण

जब हम यह सुनते है कि कितने सारे तरीको से हमारी देहो की 'मशीनरी' मे कुछ खराबी आ सकती है, तो हमे शायद इस बात पर अचरज होता है कि इतने सारे लोग स्वस्थ कैसे हैं। आप पूछ सकते है, "मनुष्य-जैसी सूक्ष्मतापूर्वक बनी मशीन क्योकर—यदि घातक नही, तो बार-बार के विघटन को झेल पाती है ?" यह सही है कि देह मे अनेक सूक्ष्म (नाजुक) भाग है और यह भी सही है कि आमतौर पर सामान्य क्रिया और दुष्क्रिया में बाल-भर ही फर्क रहता है। साथ ही हमे यह भी अनुभव करना चाहिए कि देह मे विघटन का प्रतिरोध करने या रोगवाही जीवो के आक्रमण का प्रतिकार करने की अद्‌भुत क्षमताए हैं। इस दूसरी प्रक्रिया मे ही हम विशेष रुचि लेगे।

रक्षा की पहली पंक्ति

सक्रामक जीव देह मे प्रवेश करना अपेक्षाकृत कठिन पाता है। देह की अधिकाश सतह पर त्वचा का बड़ा अभेद्य सरक्षक उपरोध है। इसका बाह्याश उपकला या एपिथीलियम का बना है, जिसकी बाहरी सतहो मे केवल मृत कोशिकाएं ही होती है। जैसे-जैसे कोशिकाए मृत होती जाती है, अपने नीचे की जीवित कोशिकाओ के गुणन द्वारा वे निरन्तर ऊपर की ओर धकेली जाती रहती है और सबसे ऊपर वाली मृत कोशिकाए झड जाती है। ये मृत कोशिकाए एक खासे शल्की ऊतक का निर्माण करती है, जो—बशर्ते कि वह किसी जगह टूटा हुआ ही न हो—जीवाणुओ को बड़े प्रभावी ढग से अलग रखता है।

यदि ये जीव मुख या नासा-गुहाओ मे प्रवेश करते है, तो अध स्थ (नीचे के) ऊतको मे पहुचने के लिए उन्हे इन गुहाओ पर अस्तर की तरह चढी श्लेष्मल झिल्लियो को भेदना होगा। इन जीवो मे से अधिकाश उन श्लैष्मिक स्रावो मे फस जाते है कि जो इन झिल्लियो की सतह पर फैले होते है। यदि वे ग्रसनी मे चले जाए और फिर श्वास-नली मे पहुंच जाए, तो न केवल झिल्लिया तथा श्लेष्मा ही रास्ता रोकेंगे, वरन् लहराते रोमाभ भी, जो उन्हे फिर बाहर की ओर धकेल देने का यत्न करते है। या, यदि जीवाणु ग्रास-नली और पाचन-क्षेत्र के उदरीय भागो मे प्रवेश करते हैं, तो वे अत्यधिक अम्लीय जठर अन्तर्वस्तु मे जा गिरते है। अधिकांश जीवाणुओ के लिए यह अम्ल घातक विष है। यदि वे अम्ल से भी बच निकले, तो उनमे से बहुत कम ही पाचक क्षेत्र मे और आगे की श्लैष्मिक झिल्ली को पार कर पाते है। जो जीवाणु पाचक क्षेत्र के निम्नतर प्रदेशो मे पहुच भी जाते है, वे विष्ठाओ के साथ निष्कासित कर दिए जाते हैं।

आन्तरिक रक्षा-युक्तियां

जब बाह्य रक्षा-युक्तियां भंग हो जाती है, और जीवाणु अधःस्थ ऊतकों पर आक्रमण कर देते है, तो जीवित रहने और बढ़ने के लिए उन्हे अन्य रक्षा-पातों को पराभूत करना होगा।
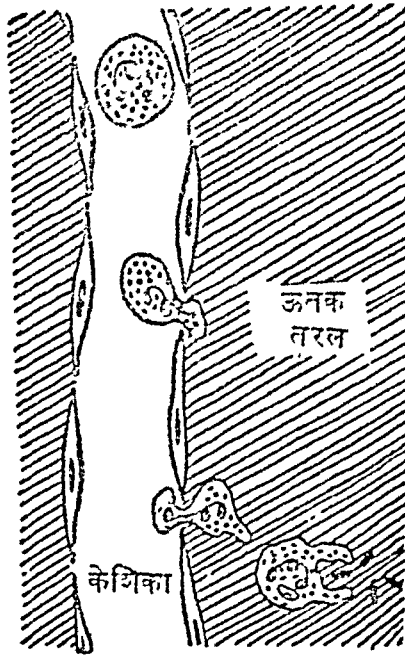
आकृति 44 — एक न्यूट्रोफिल ऊतकीय अवकाश में 'रेंग' रही है और जीवाणु का अंतर्ग्रहण कर रही है।

जब जीवाणु त्वचा के नीचे पहुचने मे सफल हो जाते है, तो रुधिर-प्रवाह मे प्रवेश कर सकने के पहले उन्हे अन्य ऊतको से होकर जाना होगा। आमतौर पर वे इतने आगे नही जा पाते, क्योकि ऐसी प्रक्रियाएं क्रियाशील कर दी जाती है कि जो सक्रमण या सदूपण को स्थानीकृत करने का यत्न करती है। मानो अदृश्य डोरियो से खिचकर न्यूट्रोफिल या उदासीन रंजी (तथा कुछ बृहत्केंद्रक श्वेताणु या मोनोसाइट भी) बड़ी शीघ्रता के साथ सक्रात क्षेत्र की ओर आकृष्ट हो जाते है। केशिका-भित्तियो की कोशिकाओ के बीच निपीडन करती हुई वे श्वेत रुधिर-कोशिकाए ऊतकीय अवकाशो मे घुस जाती है और जीवाणुओ का भक्षण या अन्तर्ग्रहण करना आरम्भ कर देती है।

इन कोशिकाओ को अपने प्रयासो मे संक्रान्त प्रदेश में सूजन या प्रदाह की

उत्पत्ति से सहायता मिलती है। संक्रांत क्षेत्र में केशिकाएं विस्फारित हो जाती हैं। विस्फारण जीवाणुओं द्वारा विमुक्त विषाक्त द्रव्यों के कारण, या जीवाणु-विषों द्वारा मारी गई ऊतक-कोशिकाओं द्वारा विमुक्त वाहिका-विस्फारक क्रियावाले रासायनिक द्रव्यों की विमुक्ति के कारण होता है। केशिका-विस्फारण के कारण प्लाज्मा की सामान्य से अधिक मात्रा निस्पंदित होकर (छनकर) ऊतकीय अव-काशों मे चली जाती है। तरल थक्कित हो जाता है और जमे हुए द्रव्य का एक वलय आक्रान्त प्रदेश को घेर लेता है। कुछ समय के बाद क्षेत्र के आसपास संयोजी ऊतक उग जाता है और वह इस प्रकार पूर्णतः भित्ति-बंद हो जाता है। जब तक यह नही होता, सक्रमण के फैलने का खतरा सदा विद्यमान रहता है।

प्रदाहित क्षेत्र के भीतर न्यूट्रोफिलों और जीवाणुओं के बीच एक वास्तविक मरणातक संग्राम चल रहा होता है। दोनों ही पक्षों में अनेक मारे जाते हैं। मृत जीवाणु, मृत श्वेताणु-विघटित ऊतक-कोशिकाएं तथा तरल मिलकर 'पीप' या 'पूय' का निर्माण करते है। भित्ति-बन्द क्षेत्र तथा उसकी अन्तर्वस्तु को 'फोड़ा' या 'विद्रधि' कहते है। मुहासे तथा फोड़े या फुड़ियाएं इसी प्रकार के होते हैं। यदि रुधिर-कोशिकाएं युद्ध में जीत जाती हैं (और वे प्रायः जीतती ही हैं), तो वे उपरिस्थ (ऊपर के) ऊतक मे से होकर बाहर की ओर रास्ता बना लेती है। यह अंशत. उनके रास्ते में आनेवाली कोशिकाओं के अन्तर्ग्रहण द्वारा, और अंशतः उनके द्वारा उत्पन्न एक पाचक प्रकिण्व द्वारा इन कोशिकाओ के पाचन द्वारा सपादित होता है। जब बहिर्भाग आ जाता है, तो पीप निकल जाता है।

लसीका-रक्षा-युक्तियां—यदि युद्ध के पहले दौर मे जीवाणु जीत जाते है, तो वे पतली भित्तियोवाली उन लसीकायनियों या लसीका-वाहिकाओं पर आक्रमण कर सकते हैं, जो देह के लगभग हर प्रदेश मे ही बडी संख्या मे मौजूद है। एक बार लसीकायनी मे पहुंच जाने पर जीवाणु गतिमान लसीका के साथ वहनित होने लगते है।

आपको याद होगा कि लसीकायनियो के पथ पर अनेक 'लसीका-ग्रंथिया' है। लसीका-ग्रथियो मे नालियो पर अस्तर-स्वरूप बड़ी ग्रथियां है, जो नालियो मे से गुजरनेवाले जीवाणुओ का अन्तर्ग्रहण कर लेती है। लसीका-ग्रथिया जीवाणुओ या बाह्य (विजातीय)कणो के लिए बडी प्रभावी 'छलनिया' है और वे अपने तक पहुचनेवाले जीवाणुओ की प्रभावकारी 'बोतलबंदी' कर लेती है।

प्राय. ही उनका कार्य इतना भारी रहता है कि ग्रथियां जीवाणुओं के अतर्ग्रहण की प्रक्रिया मे स्वयं सूज जाती है। इस प्रकार वे काफी सवेदनशील होती हैं। 'सूजी हुई गिल्टिया' जो प्रायः ही 'गले के आने' या 'गल-शोथ' की परिचायक होती है, वास्तव मे सूजी लसीका-ग्रन्थियां ही होती है।

'गलसुए' या 'टासिल' तथा 'ग्रथ्याभ' अथवा 'ऐडिनाइड' ग्रसनी-प्रदेश मे स्थित लसीकाभ ऊतक हैं। हममे से कई लोगो मे वे सक्रमण के विरुद्ध अपने सग्राम मे परास्त हो जाते है और हमे संरक्षित करने—जैसाकि सामान्यत. होता है—

बजाय वे स्वय अत्यधिक संक्रान्त तथा प्रदाहित हो जाते है। तब उनकी जीवाणुक अंतर्वस्तु का देह के अन्य अधिक महत्त्वपूर्ण प्रदेशों को प्रसार रोकने के लिए स्वय इन्हे ही अलग करना पडता है।

रुधिर-सुरक्षा युक्तियां—यदि जीवाणुओ के प्रसार के विरुद्ध उपर्युक्त रक्षा-युक्तिया उन्हे समाप्त नही कर पाई है, तो रुधिर में उत्पन्न ऐसे कारक भी होते है कि जो यह कार्य कर सकते है। यह ज्ञात है कि रुधिर मे किसी भी 'विजातीय प्रोटीन', जो उस जंतु का वैशिष्ट्य नही है, के प्रवेश से एक ऐसे विषाक्त द्रव्य की उत्पत्ति हो जाती है कि जो उस प्रोटीन को नष्ट कर देता है। इस प्रकार प्रविष्ट प्रोटीन प्रतिजन या एंटीजन और उसे नष्ट करनेवाला द्रव्य 'प्रतिपिंड' या 'रोग-प्रतिकारक' कहलाता है। इस घटना का एक अत्यन्त उल्लेखनीय पक्ष यह है कि हर प्रतिपिंड प्रविष्ट प्रतिजन के लिए ही विशिष्ट होता है और वह अन्य किसी विजातीय प्रोटीन पर आक्रमण नही करेगा।

किन्ही ऐसी कोशिकाओ या उनके प्रोटीन-उत्पादनो का, जो किसी विशेष जात की विशेषता नही है, इस जात के रुधिर मे प्रवेश इस प्रतिजन-प्रतिपिंड-अनुक्रिया को आरम्भ करवा देता है। यह अस्तित्व मे आता कैसे है, यह बात स्पष्टत: ज्ञात नही, लेकिन हमने इस घटना का अच्छा उपयोग किया है।

जब कोई विशेष जीवाणु या उनके विषाक्त उत्पाद रुधिर पर पहली बार आक्रमण करते है, तो हो सकता है कि उनका प्रतिपिंड इतनी शीघ्रता के साथ उत्पन्न न हो सके कि वह रोग के होने को रोक सके। लेकिन, यदि व्यक्ति रोग से अच्छा हो जाता है, तो यह इस बात का परिचायक है कि प्रतिपिंड ने अंततः प्रतिजन को पराभूत कर दिया है और इससे भी बडी बात यह है कि उसी जीवाणु द्वारा दूसरे सक्रमण का फल रोग की पुनरावृत्ति का न होना हो सकता है। प्रतिपिंड रुधिर मे पहले सक्रमण के समय से ही वर्तमान रहा है और उस व्यक्ति के लिए कहा जाता है कि उसने निरापदता या प्रतिरक्षिता अर्जित कर ली है। इस प्रकार की प्रतिरक्षिता कुछ रोगो के लिए आयु-पर्यंत हो सकती है। अन्य रोगो के लिए यह कई वर्ष की हो सकती है, तो कुछ के लिए अत्यत अल्पकालिक भी हो सकती है।

हां, रोगोत्पादक जीवों से अनियंत्रित सपर्क द्वारा प्रतिरक्षिता का अर्जन न संतोषजनक है और न ही वांछनीय। किन्तु आधुनिक निरोधक काय-चिकित्सा ऐसे तरीके विकसित कर रही है कि जिनसे हम अधिकाधिक रोगो की तीव्रता कम कर सकते है या उनकी पेशबदी कर सकते हैं। दूसरे शब्दो मे, कुछ रोगो के संबंध मे अब व्यक्ति को एक या अधिक वर्षों के लिए सुरक्षापूर्वक प्रतिरक्षिता प्रदान करना संभव हो गया है।

खोज इगित करती है कि विभिन्न जंतुओ मे उसी प्रतिजन के निमित्त निर्मित प्रतिपिंड बहुत-कुछ समान होता है। इस कारण यह सभव रहा है कि प्रयोगगत जतुओ को रोगोत्पादक जीवाणुओं के तनुकृत सवर्धो के इंजेक्शन दे दिए जाएं और

उनमे उस रोग की मद अवस्था उत्पन्न कर दी जाए। विशेषकर यदि हम इजेक्शन की कुछ बार पुनरावृत्ति करे, तो जतु का रुधिर प्रयुक्त जीवाणु के लिए एक प्रतिपिंड विकसित कर लेता है। इस रुधिर से कुछ सीरम मनुष्य को इजेक्ट करके प्रतिपिंड को व्यक्ति के रुधिर मे स्थानातरित किया जा सकता है और वह उक्त रोग के लिए प्रतिरक्षित हो जाएगा। पेशी-तनाव या धनुस्तभ प्रतिजीव-विप प्रतिरक्षिता प्रदान करने के इस साधन का एक उदाहरण है। साधारणत: यह प्रतिजीव-विप केवल आपाती स्थितियो मे ही—जब कि किसी इस तरह की अचानक चोट, जो कि धनुस्तभ (पेशी-तनाव)-सक्रमण पैदा कर सकती है, के कारण तुरत प्रतिरक्षिता उत्पन्न करना आवश्यक हो—दी जाती है।

आम तौर पर व्यक्ति को किसी 'टीके' की अल्प मात्रा का इजेक्शन देकर प्रतिरक्षित बनाया जाता है। टीका एक विलयन होता है जिसमे विशिष्ट रोगो के मारे हुए जीवाणु या मारे हुए विषाणु होते है। टीका पोषद से विजातीय जीवो के विरुद्ध विशिष्ट प्रतिपिड उत्पन्न करवाता है। 'चेचक' या 'माता', 'डिप्थीरिया', 'आत्र-ज्वर' या 'मोतीझरा', 'कुकुर खासी' या 'काली खासी', 'पेशी-तनाव' या 'धनुस्तभ' और अब अभी हाल से पोलियो-सहित अनेक सक्रामक रोगो, और हैजा या 'विषूचिका' तथा 'पीतज्वर' जैसे रोगो से सरक्षण या उनके निवारण के लिए टीके उपलब्ध है।

रोगों का रासायनिक उपचार

कई वर्षो से अनेको वैज्ञानिको को ऐसे रासायनिक द्रव्यो की खोज की आशा है जिनका देह मे दिया जाना स्वय देह को हानि पहुचाए बिना किसी प्रकार सक्रामक जीवो के प्रचुरोदभवन या तीव्र वृद्धि को रोक सके। अपनी विराट् हताहत-सख्या के कारण द्वितीय विश्व-युद्ध ने इस क्षेत्र मे विकास के लिए प्रबल प्रोत्साहन दिया। उस काल मे तथा तब से हुई विराट् खोज कई ऐसे रासायनिक द्रव्यो को सामने लाई है कि जो विभिन्न सक्रामक रोगो के शमन के लिए मुख द्वारा या इंजेक्शन के जरिये दिए जा सकते है।

ऐसे द्रव्यो के एक वर्ग की मिसाल सल्फा-भेपज है। ये ऐसे रासायनिक यौगिक है जो कुछेक सक्रामक जीवो के चयापचय मे व्यतिकरण करते (बाधा डालते) है और इस प्रकार देह मे उनके गुणन की गति को कम करते या रोक देते है। यद्यपि इन भेपजो मे प्रथम सल्फानिलेमाइड थी, पर अन्य सल्फा-सजातो का अब अधिक व्यापक उपयोग किया जाता है—यथा सल्फाडायाजीन, सल्फामेराजीन, सल्फाथाइजोल, आदि।

प्रतिजैविक पदार्थ ऐसे जीवित जीवो द्वारा, जो अन्य जीवो को नष्ट कर सकते है, उत्पन्न द्रव्यो के समूह मे आते है। कुछेक फफूदिया तथा कवक या फफूंदी इनके मुख्य स्रोत रहे है। पहले प्रतिजैविक पदार्थ 'पेनिसिलिन' के बाद 'स्ट्रैप्टोमाइसिन' आई; तथा कई अन्य प्रतिजैविक पदार्थ भी विकसित किए जा चुके है,

यथा 'ऑरियोमाइसिन', 'क्लोरोमाइसिटिन', 'टैरामाइसिन' तथा 'एरिथ्रोमाइसिन'। प्रत्येक के एक न एक संक्रामक जीव का सामना करने में कुछेक लाभ हैं।

आदर्शस्वरूप तो हम एक ऐसा द्रव्य पाना चाहेंगे कि जो मानव-देह में कोई भी दुष्प्रभाव उत्पन्न किए बिना विशेष रोगमूलक जीव का विशिष्टतः 'सफाया' कर दे। अभी तक इस आदर्श की संपूर्णरूप से सिद्धि नहीं हो पाई है। सल्फा-भेषजें जहां नासिका-शोथ उत्पन्न करनेवाले जीवाणुओं के खिलाफ अधिक विशिष्टता के साथ कार्य करती हैं और पेनिसिलिन पेशी-तनाव तथा डिप्थीरिया पैदा करनेवाले जीवाणुओं के विरुद्ध; सामान्य रूप से इन द्रव्यों की अनेक रोगोत्पादक जीवों के विरुद्ध व्यापक प्रभाविता है। किसी विशेष सल्फा उत्पाद या प्रतिजैविक पदार्थ के चयन का निर्धारण उसकी समग्र शक्ति और देह पर हो सकनेवाले उसके पार्श्व-प्रभावों के अभाव से किया जाता है। नवीनतर द्रव्य आम तौर पर अधिक शक्तिशाली और पार्श्व प्रभाव-हीन हैं।

रासायनिक चिकित्सा को समग्र रूप में उन संक्रामक रोगों के नियन्त्रण में आश्चर्यजनक सफलता मिली है, जिनके लिए और कोई विशिष्ट उपचार नहीं हैं, तथापि कुछ बातें ध्यान में रखी जानी चाहिए। कुछ सल्फा-भेषज रुधिर-क्षीणता उत्पन्न करती पाई गई है, जिसके कारण उनका अत्यधिक उपयोग—संक्रमण को नियन्त्रित करने के अलावा—प्रतिकूल परिणाम उत्पन्न कर सकता है। प्रतिपिंडों की भारी मात्राएं आदाता (पानेवाले) की देह में फफूंदियों की उत्पत्ति करनेवाली पाई गई हैं। यह भी देखा गया है कि कुछेक संक्रामक जीव किसी विशेष रासायनिक द्रव्य के प्रतिरोधी प्रभेद विकसित कर लेते हैं और इस प्रकार अब वे उससे चिकित्सा करने पर पराभूत नहीं होते। इसलिए बुद्धिमानी की बात यही है कि ऐसे रसायनों का उपयोग वास्तविक आवश्यकता के समय ही किया जाए, ताकि अधिकतम संभव प्रभावी तथा जटिलताहीन लाभ प्राप्त किया जा सके।

ऐलर्जी

हममें से कुछ लोग, किसी अज्ञात कारणवशात्, कुछेक पदार्थों या अपने पर्यावरण की किन्हीं स्थितियों के प्रति अति संवेदनशील होते हैं। किन्हीं खाद्यों के खाने से हममें से कुछ को खाल पर चित्ते निकल आते हैं; तो कुछको किन्हीं पौधों के पराग या अन्य भागों से परागज ज्वर, लाल ज्वर, दमा या श्वास या ऐसे ही अन्य विकार हो जाते हैं; तो कुछ ऐसे भी लोग हैं कि जो गरमी, सरदी, रोशनी या अन्य भौतिक कारकों के प्रति विशेष संवेदनशील हैं। इन सभी मामलों में प्रभावित व्यक्तियों को संबद्ध वस्तु या परिस्थिति के प्रति 'ऐलर्जिक' कहा जाता है।

ऐलर्जिया, प्रतिजन-प्रतिपिंड-अभिक्रियाएं तथा व्यक्तियों में असमान रुधिर का आधान—ये सब जो प्रभाव उत्पन्न करते हैं, उनमें आपस में बड़ी समानताएं हैं। ये सब विजातीय द्रव्यों या परिस्थितियों के प्रति दैहिक प्रतिक्रियाओं के उदा-

हरण है। तथापि, जहा प्रतिजन-प्रतिपिंड अभिक्रियाए तथा रुधिराधान की घटनाएं सभी मनुष्यो के लिए एक-सी ही होती है, वहा विशिष्ट ऐलर्जिक प्रतिक्रियाए केवल कुछ व्यक्तियो मे ही होती है। उदाहरणार्थ, किसी विशेप खाद्य का एक प्रोटीन बहुसंख्यक व्यक्तियो के लिए निरापद है। तिसपर भी वह कुछ व्यक्तियों के रुधिर मे पहले पचे जाने के पूर्व ही प्रवेश पा जाता है और इन व्यक्तियो मे ऐलर्जिक लक्षण उत्पन्न भी करता है।

संभवतः अधिकांश ऐलर्जिया किसी विजातीय प्रोटीन के प्रति देह की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप होती है। किन्तु अन्य 'रासायनिक' द्रव्य भी इनके कारण हो सकते है। तथापि धूल आदि जैसे 'भौतिक' कारको के प्रति सवेदनशीलता को यद्यपि ऐलर्जी ही माना जाता है, पर वह देह मे प्रतिक्रिया की अन्य युक्तियो के कारण हो सकती है।

इसका कुछ प्रमाण है कि देह की अनेक ऐलर्जिक प्रतिक्रियाए देह मे 'हिस्टामिन' या उस जैसे ही पदार्थ की उन्मुक्ति के परिणाम है। यह ज्ञात है कि हिस्टामिन छोटी रुधिर-वाहिकाओ को विस्फारित कर देती है और उन्हे अधिक पारगम्य बना देती है। ये बाते त्वचा-विस्फुटन तथा नाक बहने-जैसी घटनाओ के लिए उत्तरदायी हो सकती है। सैद्धांतिक रूप से हिस्टामिन को अक्रिय कर देनेवाला कोई भी द्रव्य इन लक्षणो को रोक देगा (ऐलर्जी को नही, वरन् उसके लक्षणो को ठीक कर देगा)। कुछ व्यक्तियो को हिस्टामिन-रोधी नामक एक द्रव्य-समूह से ऐलर्जिक लक्षणो से राहत मिलती है। यह बात, कि सभी व्यक्तियो को इस प्रकार के उपचार से लाभ नही होता, इसकी परिचायक है कि हम अभी भी ऐलर्जी मे दैहिक प्रतिक्रियाओ के पूरे आधार को नही जानते।

यह प्रत्यक्ष है कि देह रोग की जितनी अधिक प्रतिरोधी होगी, विजातीय आक्राताओ के साथ उसकी लड़ाई उतनी ही ज्यादा सफल रहेगी। व्यक्ति से सहयोग के अभाव के कारण अपने पर थोपी कठिनाइयो के बावजूद कई रक्षा-युक्तिया अपना काम करेगी और करती है, पर उनमे से कुछ देह की सामान्य अवस्था के कारण इतनी कमजोर हो जाती है कि उनकी क्रिया अधिक से अधिक क्षीण ही रहती है। उदाहरण के लिए, जुकाम का स्वस्थ शरीर ही सबसे अच्छी तरह मुकाबला करता है। बहुत कम सोना या गलत खाना जुकाम लगने और उसकी अवधि बढाने मे बहुत सहायक हो सकता है।

देह मे हमारी कोशिशो के बावजूद कभी-कभी खराबिया आ सकती है, महज़ इसलिए कि मानव-देह बड़ी ही जटिल विरचना है। लेकिन, जैसा कि हम अपने आसपास स्वस्थ व्यक्तियो की सख्या से अनुमान लगा सकते है, अपेक्षाकृत कही अधिक ही समान रूप से जटिल तथा सूक्ष्म संरक्षण-युक्तिया भी प्रस्तुत करती है।

इसमे कोई शक नही कि हम देह के आत्म-परिरक्षण अभियान मे सहायता दे सकते है। इस बात के ज्ञान ने कि यह अभियान अपने को—विशेषकर रोग का

सामना करने मे—किस प्रकार अभिव्यक्त करता है, कायचिकित्सा को कई मामलो मे यह जानने में सहायता दी है कि देह की रक्षा-युक्तियों के अपर्याप्त हो जाने की स्थिति मे क्या किया जाए। टीका लगाना देह को अपनी रक्षा आप करने मे सहायता देने के कितने ही तरीको मे केवल एक है। इस ज्ञान से हमको अपने शरीर को अधिकतम प्रतिरोधी अवस्था मे रखने मे भी सहायता मिलनी चाहिए। मिसाल के तौर पर हम जानते है कि हमें उचित विश्राम, उचित आहार तथा उचित व्यायाम करना चाहिए; कि हमें अपनी त्वचा में कटावों, गला आने के मामलो, धूल, अपने को रोग के प्रति अनावश्यक रूप मे अरक्षित करने तथा देह मे कोई विकार होने की आगाही देनेवाली पीडाओ तथा वेदनाओ के प्रति असावधानी वरतनी चाहिए।

देह अधिकाश मामलो मे अन्तर्निहित रूप से स्वस्थ होती है और स्वस्थ रहने के उसके अपने तरीके है। स्वस्थ रहन-सहन देह को अपने प्रयासो मे सहायता देगा।

अध्याय 18

देह का स्वास्थ्य

किसी भी जीव की सामान्य कृत्यकारिणी उसके अगो मे से प्रत्येक के उस कार्य को करने का परिणाम है कि जिसके लिए वह उत्तरदायी है। और इससे भी वडी वात यह है कि हर अग को एक वडी इकाई—स्वय जीव—के एक अतर्हित भाग के रूप मे काम करना चाहिए। ससार मे मनुष्य के आगमन के पूर्व केवल उन्ही जातो तथा व्यष्टियो के ही जी सकने या अतिजीवन की अधिक संभावना थी, जो सामान्यत. और ओजपूर्वक कार्य करते थे। ज़िदगी के 'कानून' इस मामले मे बड़े ही निष्ठुर थे—दुर्वलो तथा अयोग्यो को अपने-आपको कायम रखने का अधिक अवसर न दिया जाता था।

इसलिए जो जतु आज वचे हुए है, वे ज्यादा टिकाऊ नस्ल के हैं, जिनका शरीर-गठन उनके समय की दुनिया मे अतिजीविता के सवसे उपयुक्त था। वहुत कम पशुओं को पकी-पूरी आयु जीने का मौका मिलता है। लेकिन जव तक वे जीते है, उनके शरीर पर्यावरण द्वारा की जानेवाली अधिकाश अपेक्षाओ की स्वस्थ अनुक्रिया करने योग्य रहते है।

मनुष्य इन मायनो मे जतुओ मे अनोखा है कि उसमे अपने प्राकृतिक पर्यावरण को वदल देने की योग्यता है। किंतु इस योग्यता से उत्पन्न कितनी ही वातो ने सफलतापूर्वक और स्वास्थ्यपूर्वक जीने के रास्ते मे और वाधाए उपस्थित कर दी है। वहुतेरे लोग अनुपयुक्त निवासस्थलो मे ठुसे हुए है, अस्वास्थ्यकर परिस्थितियो मे रहते है, अनुचित पोषण पाते है, वहुत कम धूप पाते है, धूल तथा हानिकर गैसो मे सास लेते है, अत्यधिक तनाव और जल्दवाजी मे रहते है। कहने का आशय वापस 'प्रकृति की ओर' आदोलन का समर्थन करना नही है। हम पीछे नही जा सकते। न जाना ही चाहिए। शहर और कारखाने अव हमारे पर्यावरण के अग है—हमारे दीर्घकाल तक और अच्छी तरह जीने के सघर्ष के प्रतीक है। लेकिन धूल, रोग तथा कई अन्य कारक, जो हमारी देहो के अनुचित कार्य करने मे योग देते है, उनका रहना आवश्यक नही। चिकित्सा-विज्ञान ने जवरदस्त प्रगति की है। लेकिन अकेला चिकित्सा-विज्ञान ही स्वस्थ जन का निर्माण नही कर सकता। हमारे पास अनेक प्रकार की दुष्क्रियाओ तथा बीमारियो को उनके होने के पहले ही रोकने की शक्ति—ज्ञान और साधन—है। हम आशा करते है कि निकट भविष्य मे मनुष्य दूसरो को और स्वय अपने को उस सुख के अवसर प्रदान करेगे कि जो केवल स्वस्थ शरीरो से ही उत्पन्न हो सकता है।

देह द्वारा ऊर्जा का संरक्षण तथा वितरण

देह मे सुरक्षा-कारको की संख्या आश्चर्यजनक रूप से वड़ी है। ये कारक जीवन के ऊर्जा-व्यय मे वडी वचत करते है और जीवन के परिरक्षण मे वृद्धि करते हैं। उदाहरण के लिए, हमारे दो वृक्क है, पर हम एक से भी काम चला सकते है। फिर, सामान्य परिस्थितियो मे सभी वृक्कीय इकाइया किसी एक ही समय उपयोग मे नही आती होती। कुछ अभी सक्रिय होती है, कुछ वाद मे। वृक्क-नलिकाओ के उपयोग मे एकांतरण उनमे से किसी की भी टूट-फूट वचाता है, क्योंकि यह किसी पर भी अत्यधिक जोर नहीं डालता।

हमारे अधिकांश अत.स्रावी अगो को उनके द्वारा स्रवित किए जानेवाले हारमोनो की सामान्य मात्रा के सपोपण के लिए जितना ग्रंथीय ऊतक चाहिए, उससे अधिक ही होता है। यदि किसी ग्रथि का कोई भाग अलग कर दिया जाए या नष्ट हो जाए, तो शेप ऊतक इसकी प्रतिक्रिया तीव्रतर गति से गुणन द्वारा करता है और कालातर में वह नष्ट ऊतक की पुन:स्थापना कर लेगा।

वसा के पाचन के अतिरिक्त हमारे पास एकाधिक ऐसा प्रकिण्व है, जो अंतर्ग्रहीत भोजन को ऐसे उत्पादो मे विखडित कर सकता है कि जो देह द्वारा अवशोपित तथा प्रयुक्त किए जा सकते है। इस प्रकार यदि आमाशय की पेप्सी-सक्रियता क्षीण हो जाती है, तो अग्न्याशयी तथा आत्रिक प्रकिण्व प्रोटीनो को पचा सकते है। सामान्यत. सक्रिय प्रकिण्वो की प्रचुरता भी पाचक प्रकिण्वो का स्राव करनेवाली ग्रथि-कोशिकाओ मे श्रम का अधिक विभाजन सुनिश्चित करती है।

देने को अनेक उदाहरण दिए जा सकते हैं, पर दृष्टातस्वरूप संभवत: यही काफी रहेगे। अन्य सामान्य क्रियाए उपयोग्य ऊर्जा का सामयिक वितरण और पर्याप्त उत्पादन सुनिश्चित करती है। कोशिकाओ का उपापचय इस प्रकार नियत्रित और समन्वित होता है कि सामान्यरूप से ऊर्जा की उतनी ही मात्रा पैदा होती है जितनी कि देह को आवश्यक होती है। हां, मात्रात्मक अर्थो मे यह कहना अवश्य ठीक नही है, क्योकि देह की दक्षता महिष्ठत: केवल 25 प्रतिशत है। किंतु जितनी भी ऊर्जा प्रयुक्त हो सकती है, उतनी आम तौर पर उपयोग मे आ जाती है और अतिरिक्त ऊर्जा तनिक भी व्यर्थ नही होती। चूंकि अतिरिक्त ऊर्जा (और अंततः अधिकाश ऊर्जा प्रयुक्त हो जाती है) ऊष्मा मे परिवर्तित हो जाती है, इसलिए वह देह के ताप के पोषण मे प्रयुक्त हो जाती है। देह का उचित ताप अपनी वारी मे उचित रासायनिक प्रतिक्रियाओ को होने देता है। केवल वही प्रदेश वहुत सक्रिय होते है जिनके किसी समय विशेपकर सक्रिय होने की आवश्यकता है; अन्य प्रदेश मात्र पोपण-प्रतिक्रियाओ को जारी रखते है।

ऊर्जा-उत्पादक द्रव्यो को उन प्रदेशो मे, जहा उनकी आवश्यकता है, पहुंचाने के लिए एक विस्तृत यत्र-विन्यास है। हम देख चुके है कि सक्रिय प्रदेश स्वयं अपने को अधिक रुधिर-पूर्ति करने का सवेग उपलब्ध करता है। इसके वाद

'मुख्यालय' इस बात की व्यवस्था करता है कि अन्य प्रदेश अपनी मागे कम कर दे।

कोशिकाओ की आवश्यकताओ मे हेर-फेर के अनुसार उपापचयी तात्त्विक अशो का निरतर आना-जाना लगा रहता है। ऊर्जा की जब और जहा आवश्यकता होती है, वह उत्पन्न होती है; कुछ भावी उपयोग के लिए संचित हो जाती है (खाद्य पदार्थ-सचय) और शेष दैहिक उष्मा तथा उपापचयन के पोषणार्थ उपयोग मे आ जाती है।

बल तथा निर्बलता

जिस हद तक कोई जात या जीव अपने पर्यावरण मे अति जीवित रह सकता है, वह मजबूत होता है। और अगर वह जीवित नही रह सकता, तो कमजोर होता है। यद्यपि कीटो को अधिकाशतः निर्बल ही माना जा सकता है, लेकिन उनकी प्रजनन-गति इनकी अन्य अपर्याप्तताओं की क्षतिपूर्ति कर देती है। कुछ जतुओ मे घ्राण-सवेद बडा विकसित होता है, पर उनमे शत्रुओ से सफलतापूर्वक लडने की शक्ति नही होती; अन्य जंतुओ मे बडा बल होता है, पर खतरे से बच जाने योग्य तेजी से भागने की सामर्थ्य नही होती। इसलिए जितने भी जतु अति-जीवित रह सके है, उनमे निर्बलता की कुछ मात्रा और बल की भी कुछ मात्रा विद्यमान प्रतीत होगी, जिसमें बल की मात्रा प्रबल है।

अपने अति समन्वित तत्रिका-तत्र, अपने मस्तिष्क, अपने पर्यावरण को अपने अनुकूल करने के अर्थो मे सोचने की अपनी क्षमता के कारण मनुष्य मे बड़ा स्थितिज या सभाव्य बल है। और इस बडे बल मे ही सभवत. उसकी सबसे बड़ी निर्बलता भी सन्निहित है।

विकासवादी अर्थों मे मनुष्य अपने अतीव विकसित मस्तिष्क से ही श्रेष्ठता का अनोखा दावा कर सकता है। अपने मस्तिष्क तथा हाथो से जल, थल और नभ को जीत लेने की उसकी योग्यता ही उसका अतिजीवन का हथियार है; तिस-पर भी मस्तिष्क तथा तंत्रिका-तत्र बहुत ही आसानी से क्षतिग्रस्त हो सकते है और नष्ट हो जाने पर अधिकतम विशेषज्ञता के इन अगो को नही बदला जा सकता।

इनके बिना मनुष्य यदि जीवित रह भी सके, तो वह निम्न जंतुओ से भी नीचे ही होगा, क्योकि उन्ही के, और विशेषकर अपनी प्रमस्तिष्क-प्रातस्था के जरिये ही मनुष्य इन अनेक सवेदनो को समन्वित तथा समाकलित कर पाता है, जिन्हे कि वह सतत प्राप्त करता रहता है।

वह इन सवेदनों को धारणाओ मे निरूपित करता है, जो यदि वे आवश्यक या आकाक्षित हुई, तो—समन्वित अनुक्रियाओ की ओर ले जाती है। हम देख चुके है कि सभी स्तरो की प्रतिवर्ती अनुक्रियाए अपने-अपने प्रयोजन के लिए कितनी सुअनुकूलित होती है और उत्तेजक और निरोधक आवेगों का सुसमन्वित संतुलन किस प्रकार पेशियो की अनुक्रियाओ को नियंत्रित करता है। तत्रिका-तत्र के विभिन्न स्तरो के तत्त्वो की अन्योन्य प्रतिक्रिया उन सूक्ष्म समजनों के लिए

उत्तरदायी है कि जो किसी भी अन्य जंतु की अपेक्षा मनुष्य ही अधिक कर सकता है।

जैसा कि आप स्वयं समझ सकते हैं, मस्तिष्क की क्षति महाभयानक होगी। किंतु शारीरिक क्षति से यह खोपड़ी द्वारा भली भांति सुरक्षित है, इसकी रुधिर-पूर्ति विशेषरूपेण सुरक्षित है और आवश्यकता के समय इसे आवश्यक द्रव्य प्राथमिकता के साथ प्राप्त होते हैं। यह कमजोर और महत्त्वपूर्ण अंग बिना संघर्ष किए ही हमें धोखा नहीं दे जाता।

जीव समूचे तौर पर

देह की सक्रियताओं की चर्चा करते समय हम इस तंत्र या उस प्रक्रिया को चुनते गए हैं और उनमें से प्रत्येक को कम-ज्यादा पृथक्-पृथक् घटनाओं की तरह ही लेते रहे हैं। यह बेशक जरूरी था, क्योंकि किसी जटिल जीव को उसके भागों की सक्रियताओं के विवरण को समझे बिना समझ पाना लगभग असंभव है। लेकिन इस विश्वास से बढ़कर कोई चीज सत्य से ज्यादा दूर न होगी कि जीव का कोई भी भाग या सक्रियता उसके शेष भाग या सक्रियता से स्वतंत्र है।

हम देखते हैं कि यदि हम देह के किसी भी एक तंत्र के कार्यों की चर्चा आरंभ करते हैं, तो हमें अनिवार्यतः देह के अन्य सभी तंत्रों को भी लाना ही पड़ता है। प्रत्येक तंत्र अन्य सभी तंत्रों से घनिष्ठतः संबंधित और उनपर निर्भर है। मनुष्य निरा अंगों, तंत्रों तथा सक्रियताओं का जोड़ ही नहीं है; वह एक अति एकीकृत व्यष्टि है, जिसका हर भाग या प्रक्रिया उसके जीवन और व्यक्तित्व के पोषण की दिशा में क्रियाशील है।

जब वह अपने बाह्य या भीतरी पर्यावरण से कोई उद्दीपन प्राप्त करता है, तो इसके फलस्वरूप मात्र कोई स्थानीकृत अनुक्रिया या तब्दीली ही नहीं होती। वह एक जीव के नाते अनुक्रिया करता है और उसके अनेकानेक भागों में बड़ी विविध प्रकार की बातें होती हैं। कभी-कभी जबकि उद्दीपन पर्याप्त तीक्ष्ण या अचानक होता है, तो हमें इन विविध प्रकारों की सचेतना हो पाती है। अन्य अवसरों पर हमें इस बात का आभास नहीं होता कि हमारे 'अंतर्देश' में बलों का कोई नव वितरण हो गया है।

व्यक्ति की शाश्वतता एक बड़ी सीमा तक उसके भीतर क्रियाशील अचेतन बलों पर निर्भर करती है। वे लगभग हर पग पर उसे यह करने में सक्षम, किंतु वह करने में नहीं, उसके मानसिक दृष्टिकोणों को आग्रहपूर्ण बनाकर, उसके मनोभावों को उत्पन्न करने में सहायता देकर और उन्हें प्रभावित करके उसकी 'नियति' को नियंत्रित करते हैं। मिसाल के तौर पर यदि उसका उपापचयन या पाचन या परिवहन सामान्य नहीं है, तो उसकी इच्छा-शक्ति, आकांक्षाएं और विवेक-क्षमताएं कभी उन्मुक्त नहीं हो सकतीं लेकिन व्यक्ति चाहे अस्तित्व और जीवन की परिपूर्णता के लिए अपनी आंतरिक क्रियाओं तथा क्षमताओं पर चाहे कितना

ही निर्भर हो, अपनी वारी मे वे सक्रियता के उन उच्चतर स्तरो से बहुत प्रभावित होते है, जो क्रम-विकास के लवे दौर मे और स्वय उसके जीवन-काल मे उसपर अध्यारोपित कर दिए गए है। दूसरे शब्दो मे, एक के अभाव मे दूसरा उस जीव का निर्माण नही कर सकता, जिसे मनुष्य के रूप मे हम जानते है।

इस अर्थ मे 'मन' तथा 'देह' उसी वस्तु के दो पहलू है। एक का अस्तित्व दूसरे के बिना नही हो सकता। देह का स्वास्थ्य मन का और मन का स्वास्थ्य देह का है। स्वस्थ सामान्य व्यक्ति के निर्माण मे प्रत्येक का अपना उचित स्थान है।

उत्सर्जन-तंत्र	:	Excretery system
उदर	:	Abdomen
उपास्थि	:	Cartilage
ऊतक	:	Tissue
ऊतकी	:	Histology
ऊर्जा	:	Energy
ऊष्मा	:	Heat
ऊष्मीय नियंत्रण	:	Thermal control
कंकाल, हड्डियों का ढांचा	:	Skeleton
कंडरा	:	Tendon
कपालीय गुहा	:	Cranial cavity
कर्णपटह	:	Eardrum
कशेरुकदंडी	:	Vertebrate
कशेरुका	:	Vertebra
काक्लिआ	:	Cochlea
कार्बोहाइड्रेट	:	Carbohydrates
कायिकी	:	Physiology
क्रिया	:	Action
केशिका	:	Capillary
कोशिका	:	Cell
कोशिका-द्रव्य	:	Cytoplasm
क्षुद्रांत्र, छोटी आंत	:	Small instestine
क्षेत्र	:	Tract
क्षोभण	.	Irritation
गंडमाला	:	Goitre
ग्रंथि	:	Gland
ग्रन्थीय वाहिनी	:	Glandular duct
गर्भाशय-ग्रीवा	:	Cervix
ग्रसनी	:	Pharynx
ग्रसिका, ग्रास-नली	:	Esophagus
ग्रहणी	:	Duodenum
ग्रहीता	:	Receptor
घूर्णन	:	Rotation
चयापचय	:	Metabolism
चेतक, थैलेमस	:	Thalamus
जठर-ग्रन्थि	:	Gastric gland

जनद : Gonad
जनन-तंत्र : Reproduction system
जीव-रसायन : Biochemistry
जीव-विज्ञान · Biology.
ज्ञानेंद्रिया : Sense organs
झिल्ली : Membrane
तंत्र : System
तंत्रिका-तंत्र : Nervous system
तालबद्ध उपखंडन Rhythmical segmentation
त्रिक, त्रिकास्थि : Sacrum
थाइरॉयड ग्रन्थि : Thyroid gland
दूरदृष्टिता, हाइपरोपिया : Hyperopia
धमनिका : Arteriole
धमनी : Artery
धमनी-काठिन्य : Arteriosclerosis
नाभिक . Nucleus
निकटदृष्टिता, मायोपिया · Myopia
निलय : Ventricle
न्यूरॉन : Neuron
परिपथ · Circuit
परिमीय दृष्टि Peripheral
परिवहन-तंत्र Circulatory system
परिवहनावरोध : Embolism
पर्शुकातर · Intercostal
पिंडक, पालि · Lobe
पिट्यूइटरी ग्रन्थि : Pituitary gland
पित्त : Bile
पित्ताशय Gall bladder
पुनरुत्पादन Regeneration
पैराथाइरायड ग्रन्थि . Parathyroid gland
पौंस : Pons
प्रक्षेप · Projection
प्रतिवर्त क्रिया . Reflex action
प्रमस्तिष्क · Cerebral
प्रश्वसन . Inspiration
प्रांतस्था : Cortex

प्रोटोप्लाज्म, जीव-द्रव्य : Protoplasm
प्लाज्मा : Plasma
प्लीहा : Spleen
फुफ्फुस-परिपथ : Pulmonary circuit
वाल-पक्षाघात, पोलियो : Poliomylitis
वाह्य त्वचा, एपीथीलियम : Epithelium
ब्रांकी, श्वसनी : Bronchi
बिंबाणु, प्लेटेलेट : Platelet
वृहदंत्र, बड़ी आंत : Large Intestine
बेसोफिल : Basophil
भ्रूण-विज्ञान : Embryology
मध्यच्छद, डायफ्राम : Diaphragm
मध्यच्छद-तंत्रिका : Phrenic nerve
मलाशय : Rectum
महाधमनी : Aorta
महाशिरा : Vena cava
मूत्र-मार्ग : Urethra
मेड्यूला, अंतस्था : Medulla
मोनोसाइट : Monocyte
यकृत्, जिगर : Liver
यौवनावस्था : Puberty
रंजक : Pigment
रुधिर-वाहिकाएं : Blood vessels
रुधिर-स्राव : Hemorrhage
रुधिराभाव : Anemia
लसीका-तन्त्र : Lymphatic system
लिंग-ग्रंथियां : Sex glands
लिम्फोसाइट : Lymphocyte
वागी या वेगस-तन्त्रिका : Vagus nerve
वाहिका-प्रेरक, वेसोमोटर : Vasomotor
वाहिका-विस्फारक, वेसोडायलेटर : Vasodialator
वाहिका-संकोचक, वेसोकान्स्ट्रिक्टर : Vasoconstrictor
विरेचन : Cathartics
वृन्तक, हिलम : Hilum
वृक्क, गुर्दा : Kidney
वृक्क-तन्त्र : Renal system

वृषण : Testes
वृषण-कोष : Scrotal sac
शारीर, शरीर-रचना-विज्ञान : Anatomy
शिथिलन : Diastole
शिरा : Vein
शिरिका : Venule
शुक्राणु-कोशिका : Sperm cell
श्रोणि-प्रदेश : Pelvis
श्लेष्मा : Mucous
श्वसन-तन्त्र : Respiratory system
श्वास-नली : Trachea
सग्राहक : Receptor
संरचना Structure
सवरणी : Sphincter
सवेग Impetus
सवेदन, इंद्रियानुभूति : Sensation
ससेचित : Fertilised
सक्रियता : Activity
साइटोप्लाज्म, कोशिका-द्रव्य : Cytoplasm
सीरम : Serum
स्वर-यत्र Larynx
हारमोन Harmone
हीमोग्लोबिन : Hemoglobin
हृद्पेशी, कार्डियक पेशी : Cardiac muscle

• •

मुद्रक : रूपक प्रिन्टर्स, दिल्ली–३२ 1189